जैन संस्कृत महाकाव्य परम्परा और अभयदेव कृत जयन्त विजय

डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी

सम्मत्तियाँ

The Jainas have contributed a lot to the development of sanskrit literature. They have enriched it by their works particularly in the field of poetry and philosophy.

The work under study has its importance due to its poetic merits and historical data The author has done full justice to the same by highlighting both the aspects of the work. He has also examined the influence of the earlier poets on Abhayadeva and his own influence on the later poets. The discussion throughout is intresting and evinces author's capacity for critical examination and judgment.

—**Dr. S. S. Misra**
Professor & Head, Dept. of Sanskrit
Lucknow University.

The book replete with new findings on the basis of the available source material, provides a new direction in the field of the study of Jain Kavyas and is a new addition on the subject. It evinces the author's capacity and the through grasp of the subject-matter, clear exposition, critical evaluation and presentation in a lucid style on the subject.

—**Dr. Karunesh Shukla**
Reader in Sanskrit
University of Gorakhpur,

इस अध्ययन में लेखक ने सर्वत्र अपेक्षित जागरूकता का परिचय दिया है। उसने एक नया क्षेत्र चुनकर संस्कृत जगत को नयी जानकारी से लाभान्वित किया है। जो कुछ प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से दिया गया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

—**डॉ० कृष्ण कान्त चतुर्वेदी**
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय

रु० ६५·००

जैन संस्कृत महाकाव्य परम्परा
और
अभयदेव कृत जयन्तविजय

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी

साहित्य निकेतन, कानपुर

लेखक को इस पुस्तक पर लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा डॉक्टरेट उपाधि से सम्मानित किया गया।

मूल्य : रु० ९५·००

संस्करण : मार्च १९८४

साहित्य निकेतन, शिवाला रोड, गिलिस बाजार, कानपुर-२०८००१, द्वारा प्रकाशित तथा देश सेवा प्रेस, १० सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

संस्कृत साहित्य के विकास में जैन सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है क्योंकि ईसवी सन् की आरम्भिक शताब्दियों में ही संस्कृत भाषा शिष्ट समाज की भाषा हो चुकी थी। भारत के समस्त दार्शनिकों ने दर्शन शास्त्र के गूढ़ और गहन ग्रन्थों का प्रणयन संस्कृत भाषा में आरम्भ किया। जैन कवियों और दार्शनिकों ने प्राकृत के समान ही संस्कृत भाषा को भी अपनाकर काव्य और दर्शन के क्षेत्र को अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं के द्वारा समृद्ध बनाया। किन्तु खेद का विषय है कि जैन संस्कृत साहित्य का अधिकांश भाग अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका है और न उसके उचित मूल्याङ्कन का ही प्रयास किया गया है। अतः जैन संस्कृत साहित्य के इसी महत्त्व को स्वीकार करते हुए लेखक ने जैन कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य को अपने शोध-प्रबन्ध के अध्ययन का विषय बनाया।

'जयन्तविजय' महाकाव्य अपने काव्यात्मक गुणों एवं ऐतिहासिक महत्त्व के कारण संस्कृत साहित्य में प्रमुख स्थान रखता है। इसमें राजा विक्रमसिंह के पुत्र जयन्त का वर्णन किया गया है। राजा विक्रमसिंह मगध के पृथित सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय हैं तथा जयन्त उन्हीं के पुत्र कुमार गुप्त हैं। कवि ने प्रस्तुत महाकाव्य में सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय को प्राप्त होने वाली 'सिंहविक्रम' उपाधि के आधार पर उनका नाम विक्रमसिंह किया है तथा विजयों के आधार पर उनके पुत्र कुमार गुप्त का नाम जयन्त रखा है। अतः प्रस्तुत महाकाव्य का नामकरण कथानक के आधार पर किया गया है।

'जयन्तविजय' के काव्यात्मक महत्त्व के विषय में कोई सन्देह नहीं है। यह एक प्रसाद गुणयुक्त काव्य है जो कि अनायास ही पाठक को कालिदास की कृतियों का स्मरण करा देता है। संस्कृत साहित्य के इतिहास लेखकों यथा बलदेव उपाध्याय, कृष्णमाचारी, दासगुप्त, रामजी उपाध्याय प्रभृति विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में 'जयन्त-विजय' के साहित्यिक पक्ष की प्रशंसा की है।

यह महाकाव्य निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से १६०२ ई० में प्रकाशित हुआ है। यद्यपि इसमें यत्र-तत्र श्लोक कुछ खण्डित से प्रतीत होते हैं फिर भी काव्य में प्रवाह की कमी नहीं परिलक्षित होती। काव्य के आरम्भ एवं अन्त में दी गयी ग्रन्थकर्ता की प्रशस्ति कवि की गुरु परम्परा के परिचय में सहायक सिद्ध होती है।

प्रस्तुत ग्रंथ में सात अध्याय दो भागों में विभक्त है प्रथम भाग संस्कृत के प्रमुख जैन महाकाव्यों से सम्बधित है जिसमें संस्कृत के जैन महाकाव्यों को अध्ययन की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है––१. चरित नामान्त महाकाव्य, २. इतर नामान्त महाकाव्य। चरित नामान्त महाकाव्यों का प्रमुख उद्देश्य पुण्य पुरुषों के चरितों को बुद्धिजीवी वर्ग तक पहुँचाना रहा है किन्तु इतर नामान्त महाकाव्यों का लक्ष्य अलंकृत शैली के महाकाव्य गुणों का प्रस्तुतीकरण करना है। इस अध्याय का

द्वितीय भाग कवि तथा काव्य के परिचय से सम्बन्धित है। कवि ने स्वयं अपने काव्य में अपने विषय में कोई विशद परिचय नहीं दिया है। अत: वाह्य साक्ष्यों एवं ग्रंथ के अन्त में दी गयी प्रशस्ति के आधार पर संक्षिप्त जानकारी ही प्राप्त होती है। यहीं पर कवि का परिचय, समय निर्धारण, काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं ग्रन्थ परिचय का उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही काव्य के महत्त्व का निर्देश करते हुए काव्य का प्रतिसर्ग कथानक भी संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय महाकाव्य के काव्यात्मक गुणों से सम्बन्धित है। इसमें महाकाव्य के लक्षणों के आधार पर इसकी समीक्षा की गयी है। महाकाव्य के भी नाटक की भाँति तीन प्रमुख तत्त्व हैं कथानक (वस्तु), नायक (नेता) तथा रस। इसके अन्तर्गत महाकाव्य के सभी लक्षणों का समावेश हो जाता है। कथानक के अन्तर्गत रचना का उद्देश्य, मङ्गलाचरण, नामकरण, कथानक का आधार कथानक का विस्तार, अवान्तर प्रसङ्ग, वर्णन प्रसङ्ग, सन्धियोजना एवं पुरुषार्थचतुष्टय निरूपण का विवेचन प्रस्तुत है। नायक के साथ प्रतिनायक का भी विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रस्तुत लक्षणों के आधार पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रस विवेचन के अतिरिक्त छन्द, अलङ्कार तथा रीति के सम्बन्ध में महाकाव्य के लक्षणों के आधार पर 'जयन्तविजय' की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

तृतीय अध्याय ऐतिहासिक है। इसके भी दो भाग किये गये हैं। जिसमें से प्रथम भाग में 'जयन्तविजय' महाकाव्य के कथानक के स्रोत एवं गठन पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है क्योंकि जैन संस्कृत काव्यों का कथास्रोत वैदिक पुराणों के स्थान पर लोक प्रचलित कथाओं एवं श्रमण परम्परा के पुराणों से संग्रहीत है। महाकवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य ऐतिहासिक होते हुए भी लोक-प्रचलित कथाओं से बहुत कुछ प्रभावित है। अत: उन प्रभावों की यहाँ पर विवेचना प्रस्तुत की गयी है। इसके साथ ही रत्नावली, कर्पूरमञ्जरी, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, कुवलयमाला, वराङ्गचरित, महापुराण तथा रघुवंश के 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर प्रभाव को भी प्रदर्शित किया गया है। अध्याय के द्वितीय भाग में मुख्य पात्रों की ऐतिहासिकता एवं चरित्र-चित्रण प्रस्तुत है। राजा विक्रमसिंह तथा जयन्त ऐतिहासिक पात्र हैं। इन ऐतिहासिक पात्रों के साथ ही अन्य पात्रों की भी योजना हुई है जिनका महाकाव्य के कथानक की मुख्य घटना से सम्बन्ध है।

चतुर्थ अध्याय में रीति, गुण, अलङ्कार एवं छन्दोयोजना का विधान है। 'जयन्तविजय' की रीति वैदर्भी है एवं इसमें सभी गुणों का सद्भाव है। प्रसाद गुण तो रचना में सर्वत्र विद्यमान है। साथ ही वीर तथा रौद्र रस के स्थलों में ओज तथा शृङ्गार एवं करुण के प्रसङ्ग में माधुर्य गुण का उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। काव्य में अलङ्कारों का भी अपना विशेष महत्त्व है। अत: चतुर्थ अध्याय में ही 'जयन्तविजय' की अलङ्कार योजना का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। महाकवि अभयदेव ने यद्यपि अलङ्कार विषयक किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना नहीं की तथापि 'जयन्तविजय' के आधार पर सैद्धान्तिक रूप में वे ध्वनिवादी विचारधारा

के समर्थक प्रतीत होते हैं । उन्होंने अलङ्कार, गुण, रीति एवं रस का वही महत्त्व स्वीकार किया है जो रसवादी आचार्यों को अभीष्ट है। अर्थात् उन्होंने रस को काव्य की आत्मा एवं अलङ्कार को उसके अलङ्करण के रूप में स्वीकार किया है। इसीलिए यहाँ पर महाकाव्य में प्रयुक्त अलङ्कार का मात्र निर्देश न करके उनके रसानुकूल एवं वर्णनानुरूप प्रयोग को भी ध्यान में रखा गया है। साथ ही कला पक्ष प्रधान अलङ्कारों का एवं ऐसे अलङ्कारों को जो स्वतः प्रस्फुटित हैं, पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त कवि ने जिन रूढ़िगत उपमानों का प्रयोग किया है अथवा प्राचीन कवियों के अलङ्कार प्रयोग का अनुकरण किया है उसका भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, यमक तथा श्लेष का विवेचन है। इस प्रकार कवि अभयदेव का 'जयन्तविजय' महाकाव्य विदग्ध-मण्डना नारी की भाँति शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों से ही विभूषित है। महाकाव्य में रस के प्रवाह में छन्दों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः इसी अध्याय में 'जयन्तविजय' की छन्दोयोजना का भी निरूपण है। छन्दोयोयना के अन्तर्गत 'जयन्तविजय' में प्रयुक्त छन्दों का 'सुवृत्ततिलक' के आधार पर विनियोग प्रदर्शित करने के उपरान्त उसी के आधार पर इसमें प्रयुक्त छन्दों के गुण-दोषों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

पञ्चम अध्याय वर्णन प्रसङ्ग से सम्बन्धित है क्योंकि इन वर्णन प्रसङ्गों के द्वारा 'जयन्तविजय' के काव्य सौन्दर्य में वृद्धि हुई है। प्रसिद्ध आलङ्कारिक दण्डी ने वस्तु वर्णन को आवश्यक समझते हुए सर्गबन्ध महाकाव्य के लक्षण मे नगर, समुद्र, नदी, सरोवर, पर्वत, वन, ऋतु, विवाह, यात्रा, चन्द्रोदय-सूर्योदय, चन्द्रास्त-सूर्यास्त आदि के वर्णन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। संस्कृत साहित्य की इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए कवि अभयदेव ने जयन्तीपुरी का मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। राजाओं की सेना का प्रयाण एवं युद्ध का वर्णन चित्ताकर्षक है। सूर्यास्त का वर्णन कवि सम्प्रदाय सिद्ध-प्रसिद्ध प्रतीकों—सूर्य और कमलिनी, भ्रमर और नलिनी एवं चक्रवाक और चक्रवाकी का आश्रय लेकर उत्प्रेक्षा, उपमा एवं रूपक आदि अलङ्कारों के माध्यम से किया गया है। इसी समय सन्ध्या का मनोहारी चित्र प्रस्तुत है। सूर्यास्त होते ही सर्पणशील अन्धकार शनैः-शनैः आकाश मण्डल को आच्छादित कर लेता है। अन्धकार के पश्चात् यथाक्रम चन्द्रोदय का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। चन्द्रोदय वर्णन में रूपक, उत्प्रेक्षा, उल्लेख एवं समासोक्ति का आश्रय लिया गया है। प्रभात वर्णन की ओर कवि की विशेष अभिरुचि प्रतीत होती है। 'जयन्तविजय' महाकाव्य में प्रभात वर्णन का उल्लेख विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ पर कवि की कल्पना का आधार सूर्य, भ्रमर एवं कमल हैं जिनकी ओर कवि की दृष्टि गयी है। दैनिक जीवन में सरोवर का भी विशेष महत्त्व है। अतः सरोवर का वर्णन भी प्रस्तुत किया है। 'जयन्तविजय' महाकाव्य में ऋतु वर्णन की परम्परा का भी निर्वाह हुआ है। बसन्त की मादकता, ग्रीष्म की प्रचण्डता, वर्षा ऋतु की हरीतिमा ने कवि को अधिक प्रभावित एवं आकर्षित किया

है। अतः यह कहा जा सकता है कि कवि द्वारा प्रस्तुत यह वर्णन मनमोहक एवं हृदयग्राही है।

रस तो काव्य शरीर की आत्मा ही है। अतः षष्ठ अध्याय में रस का निरूपण किया गया है। 'जयन्तविजय' महाकाव्य का अङ्गीरस वीर है जो कि युद्ध प्रधान काव्य होने के कारण उचित ही है। इसके पश्चात् शृङ्गार को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है जिसका वर्णन दोलान्दोलन, पुष्पावचय एवं जलकेलि के प्रसङ्गों द्वारा हुआ है। इसके अतिरिक्त जयन्त के शैशव वर्णन के अवसर पर वात्सल्य रस, युद्ध वर्णन के प्रसंग में रौद्र रस के साथ ही वीभत्स, भयानक, अद्भुत एवं शान्त रस की भी यथास्थान मनोरम व्यञ्जना हुई है। इस महाकाव्य में भाव प्राधान्य के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। अतः अध्याय के अन्त में भाव योजना पर भी प्रकाश डाला गया है।

सप्तम अध्याय आदान-प्रदान से सम्बन्धित है। अध्ययन की दृष्टि से इस अध्याय को भी दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में 'जयन्तविजय' पर पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों का प्रभाव प्रदर्शित किया गया है। इसमें सर्वाधिक प्रभाव जिनसेन के 'महापुराण' तथा कविकुलगुरु कालिदास का दृष्टिगोचर होता है। इन कवियों के अतिरिक्त जिन कवियों ने अभयदेव को प्रभावित किया है उनमें भारवि, माघ, श्रीहर्ष तथा विल्हण का नाम प्रमुख है। इसके साथ ही महासेन, असग, वादिराज, हरिश्चन्द्र तथा जिनपाल उपाध्याय आदि जैन कवियों की कृतियों का साम्य भी प्राप्त होता है। अध्याय के द्वितीय भाग में परवर्ती साहित्य पर 'जयन्तविजय' के प्रभाव को प्रदर्शित किया गया है क्योंकि जैनकवि अर्हदास, वर्द्धमान तथा मुनिभद्रसूरि की रचनाओं में भी एकाध स्थल पर 'जयन्तविजय' से भाव साम्य मिलता है।

ग्रंथ के अन्त में परिशिष्ट की योजना की गयी है। इसके भी तीन भाग हैं। सर्वप्रथम पञ्चपरमेष्ठि भक्ति के निरूपण पर प्रकाश डाला गया है, क्योंकि कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इसके नाम का निर्देश करते हुए इसके महत्त्व को प्रतिपादित किया है। 'जयन्तविजय' महाकाव्य में सुभाषितों की भी भरमार है। अतः द्वितीय भाग में प्रयुक्त प्रमुख सुभाषितों का उल्लेख किया गया है और अन्त में शोध-प्रबन्ध की सहायक सूची संलग्न है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध गुरुवर डॉ० शिव शेखर मिश्र, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ के कुशल निर्देशन में लिखा गया है। अतः मैं उनके प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करूँ जिन्होंने मेरे शोध कार्य का पथ-प्रदर्शन ही नहीं किया वरन् अपने निर्देशन एवं सुझावों द्वारा मेरी शोध कार्य सम्बन्धित समस्त समस्याओं का समाधान किया तथा जिनकी अनवरत सहायता से प्रबन्ध को यह मौलिक रूप प्रदान किया जा सका।

ग्रंथ के प्रकाशन हेतु उ० प्र० शासन द्वारा आंशिक आर्थिक अनुदान प्राप्त हुआ जिसके कारण यह जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है। अन्त में, मैं साहित्य निकेतन, कानपुर के संचालक महोदय के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस ग्रंथ को प्रकाशित कर अपने संस्कृत साहित्यानुराग का परिचय दिया है।

महाशिवरात्रि
सं० २०४० वि०

रामप्रसाद त्रिपाठी

विषयानुक्रम

१. संस्कृत के जैन महाकाव्यों की परम्परा	१-४४
२. जयन्तविजय महाकाव्य का महाकाव्यत्व	४५-६८
३. जयन्तविजय महाकाव्य की ऐतिहासिकता	६९-१००
४. जयन्तविजय महाकाव्य में रीति, गुण, अलंकार तथा छंद	१०१-१८८
५. जयन्तविजय महाकाव्य में वर्णन प्रसंग	१८९-२२८
६. जयन्तविजय महाकाव्य में रस निरूपण	२२९-२६१
७. आदान-प्रदान	२६३-३२६
परिशिष्ट	३२७-३४३

प्रथम अध्याय

संस्कृत के जैन महाकाव्यों की परम्परा

संस्कृत के जैन महाकाव्यों की परम्परा

जैन संस्कृत काव्य का आविर्भाव

कविता हृदय के ऊपर गहरा प्रभाव डालती है। इसीलिए सामान्य जनता के हृदय तक दर्शन तथा धर्म के दुरूह तथ्यों को पहुँचाने के लिए धर्म-प्रचारक बहुत पुराने समय से कविता का सहारा लेते आये हैं और आज भी ले रहे हैं। जैन दार्शनिकों का काव्यकला की ओर आकृष्ट होने का यही रहस्य है। उन्होंने ईसवी सन् की तीसरी-चौथी शताब्दी से ही ग्रन्थ-प्रणयन आरम्भ कर दिया था। इस समय प्राकृत भाषा जन-सामान्य की भाषा थी। अतः आरम्भिक अवस्था में जैनाचार्यों ने प्राकृतभाषा में लोकपरक सुधारवादी रचनाओं का प्रणयन किया; किन्तु ईसवी सन् की आरम्भिक शताब्दियों में संस्कृत भाषा शिष्ट समाज की भाषा थी। अतः जैनाचार्यों का ध्यान इस ओर गया और उन्हें अपने विचारों को शिष्ट समाज तक पहुँचाने के लिए इस भाषा का अध्ययन करना पड़ा। डॉ० भोलाशङ्कर व्यास के शब्दों में—'जैनों को अपने मत एवं दर्शन को अभिजात वर्ग पर थोपने के लिए, साथ ही ब्राह्मण धर्म की मान्यताओं का खण्डन करने के लिए संस्कृत को चुनना पड़ा।'[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि भाषा के क्षेत्र में जैन काव्य साहित्य किसी एक भाषा में बद्ध नहीं रह सका, वरन् प्राकृत तथा संस्कृत भाषा के साथ ही नाना जनपदीय भाषाओं—तमिल, कन्नड़, मराठी, गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी आदि में भी विशाल काव्य साहित्य की रचना हुई। इसीलिए भारतीय साहित्य के विकास में जैनाचार्यों के सहयोग की डॉ० विंटरनित्स ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है—

'I was not able to do full justice to the literary achievements of the jainas. But I hope to have shown that the jainas have contributed their full share to the religious, ethical and scientific literature of ancient India.'[2]

काव्य निर्माण की दृष्टि से ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी में समन्तभद्र ने संस्कृत भाषा में स्तुति काव्य का सर्जन कर जैनों के मध्य संस्कृत काव्य की परम्परा का शुभारम्भ किया। संस्कृत भाषा में जैन काव्य की यह परम्परा द्वितीय शती से

---

१. संस्कृत कवि दर्शन, चौखम्बा वाराणसी, वि० सं० २०२५, आमुख पृ० १८।

२ The jainas in the histoy of Indian literature by Winternitz. Edited by Jina Vijai Muni, Ahmedabad 1946, p. 4.

आरम्भ होकर अठारहवीं शती तक निर्बाध रूप से चलती रही। यद्यपि ईसा की आरम्भिक शताब्दियों से पाँचवीं शताब्दी तक कतिपय कृतियों का ही उल्लेख मिलता है; किन्तु पाँचवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक प्राप्त रचनाओं को हम प्रतिनिधि रचनाएँ कह सकते हैं। इसके अनन्तर अठारहवीं शताब्दी तक जैन कवियों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं और अब भी यत्र-तत्र उनका प्रणयन हो रहा है। जैन कवियों की सबसे प्रमुख विशेषता तो यह है कि संस्कृत काव्य के विकास काल में जितने काव्य ग्रंथों का प्रणयन हुआ उससे अधिक ग्रन्थों का प्रणयन तो उन्होंने ह्रासोन्मुख काल में भी किया।

जैनाचार्यों की काव्य-सम्बन्धी मान्यताएँ

जैनाचार्यों ने काव्य के स्वरूप का प्रतिपादन भी किया है, यद्यपि उनकी परिभाषाएँ संस्कृत के आचार्यों से बहुत कुछ मेल खाती हैं।

जैनाचार्यों में हेमचन्द्र का प्रमुख स्थान है। उन्होंने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौकाव्यम्।'[1]

इस सूत्र की वृत्ति करते हुए भी उन्होंने लिखा है—

'चकारो निरलंकारयोरपि शब्दार्थयोः क्वचित्काव्यत्वख्यापनार्थः।'

आचार्य हेमचन्द्र की यह परिभाषा आचार्य मम्मट की परिभाषा पर पूर्ण आधारित है। इसी प्रकार 'काव्यानुशासन' में आचार्य हेमचन्द्र ने एक स्थल पर लोकोत्तर कवि कर्म को ही काव्य माना है, किन्तु उनकी यह मान्यता आचार्य मम्मट की 'काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म' इस उक्ति पर आधारित है।

आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् दूसरे जैन आचार्य वाग्भट हैं। इन्होंने काव्य की परिभाषा 'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्' इस प्रकार करके इस सूत्र की वृत्ति में 'प्रायः सालंकाराविति निरलंकारयोरपि शब्दार्थयोः क्वचित्काव्यत्व ख्यापनार्थम्' लिखा है।[2] वाग्भट की परिभाषा भी आचार्य मम्मट से प्रभावित है।

जैन कवियों ने अपने महाकाव्य में भी काव्य सम्बन्धी विचारधाराओं को व्यक्त किया है। 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य के रचयिता हरिचन्द्र सूरि रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाली वाणी को काव्य मानते हैं। उनके अनुसार रमणीय अर्थ से रहित ललित पदों की योजना सहृदयों के मन को आह्लादित नहीं कर सकती। इसीलिए महाकवि की वाणी रसवती एवं पीयूषवर्षी होनी चाहिए जिससे पाठक आनन्द-विभोर हो सके—

---

१. हेमचन्द्र—काव्यानुशासन।
२. वाग्भट—काव्यानुशासन।

हृद्यार्थवन्ध्या पदवन्धुराऽपि वाणी बुधानां न मनोधिनोति ।
न रोचते लोचनवल्लभाऽपि स्नुहीक्षरत्क्षीरसरिन्नरेभ्यः ।।
जयन्ति ते, केऽपि महाकवीनां स्वर्गप्रदेशा इव वाग्विलासाः ।
पीयूषनिष्यन्दिषु येषु हर्षं केषां न धत्ते सुरसार्थ लीलाम्[1] ।।

हरिचन्द्र सूरि की काव्य सम्बन्धी यह मान्यता पण्डितराज जगन्नाथ की 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इस परिभाषा से मिलती-जुलती है ।

जिनपाल उपाध्याय ने अपने 'सनत्कुमार चरित' में भानुमती की कन्याओं का वर्णन करते हुए काव्य के अनिवार्य तत्वों पर प्रकाश डाला है । उनके अनुसार अलङ्कारों से सुसज्जित, रसपूर्ण, दोष-रहित, सद्गुणों से युक्त ललित पदों की योजना ही काव्य है—

जात्यजाम्बूनदालं कृतिप्रोज्ज्वला-
श्चक्रिरेऽङ्के समस्तेऽपि ताः कन्यकाः ।
सद्रसाः दोषरिक्ताः सुशब्दश्रियः
सत्कवेः काव्यवाचा यथा सद्गुणाः ।।[2]

अभय कुमार चरितकार ने काव्य में रस की अनिवार्य सत्ता को स्वीकार किया है । उनके अनुसार काव्य की आत्मा रस है—

महाकवेः काव्यकृतौ यथा रसो
जल्पे यथा तार्किक चक्रचक्रिणः ।[3]
तथा क्वचिद्विशश्राम मनोऽस्य भूरुहे
काव्ये प्रसन्ने सरसे कवेर्यथा ।।[4]

जिनप्रभ सूरि ने भी 'श्रेणिक चरित' में अनेक स्थलों पर काव्य के स्वरूप को व्यक्त किया है । उनके अनुसार रसयुक्त, रमणीय पद एवं अलंकारों को धारण करने वाली, मनोरम, दोषरहित रचना ही काव्य है—

पक्वदाडिमबीजानि राजादनफलानि च
रसाढ्याः मृदुमृद्वीकाः काव्य माला इवोज्ज्वलाः ।।
व्यंजनानि रसाढ्यानि विनिर्माय प्रभूतशः ।
केऽपि संचस्करुः क्वाऽपि काव्यानि कवयो यथा ।।[5]
अभूत्तस्य प्रिया रम्यपदालंकार धारिणी ।
धारिणी नाम हृद्येव सुकवेः काव्यपद्धतिः ।।

---

१. हरिचन्द्र सूरि, धर्मशर्माभ्युदय १/१५६ ।
२. जिनपालोपाध्याय, सनत्कुमारचरित्र १५/४६ ।
३. चन्द्रतिलक उपाध्याय, अभय कुमार चरित ४/७२
४. वही, ४/१७२ ।
५. जिनप्रभ सूरि, श्रेणिक चरित ४/२२४-११० ।

मनोरम पदन्यासा सदंगरुचिरा सदा ।
नन्द्याद् गीर्विशदश्लोका जिन मूर्तिरिवामला ।।[१]

'हम्मीर महाकाव्य' के रचयिता नयचन्द्रसूरि भी काव्य में रस की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं—

कविता वनिता गीति-प्रायो नादो रसप्रदाः ।
उद्गिरन्ति रसोद्रेकं गृह्यमाणाः पुरः-पुरः ।।[२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, कि जैन कवियों की काव्य सम्बन्धी परिभाषाएं भिन्न-भिन्न हैं। किसी ने यदि भावपक्ष को ध्यान में रखा है तो दूसरे ने कलापक्ष का समर्थन किया है। इसीलिए यदि कोई अलङ्कारों को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानता है तो दूसरा रस को काव्य का प्राण कहता है। इस प्रकार कोई एक परिभाषा काव्य के स्वरूप को व्यक्त नहीं करती है। किन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि जैन कवियों ने रस को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है और उनकी परिभाषा आचार्य विश्वनाथ की 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' परिभाषा के बहुत निकट है।

जैन संस्कृत महाकाव्यों का स्वरूप—

भारतीय एवं पाश्चात्य विचारधाराओं का सम्यक् अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि जैन संस्कृत कवियों ने महाकाव्य-विषयक संस्कृत के प्राचीन लक्षणकारों के आदर्शों का पालन किया है। इसीलिए उनके महाकाव्यों में पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है। किन्तु फिर भी अनेक स्थलों पर विभिन्नताएँ हैं—

जैन संस्कृत काव्यों का प्रमुख उद्देश्य निर्वाण की प्राप्ति है। इसके लिए प्राणी तप, त्याग एवं अहिंसा का आश्रय लेता है तथा अपने पुरुषार्थ के द्वारा अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति करता है। ये वर्णाश्रम व्यवस्था को भी स्वीकार नहीं करते हैं तथा जातिवाद के कट्टर विरोधी हैं।[३] इनके अनुसार मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविका का संघ ही समाज है और यह समाज पारस्परिक सहयोग पर ही निर्भर है।

जैन संस्कृत काव्य देवता, ऋषि तथा मुनि के स्थान पर सेठ, सार्थवाह, धर्मात्मा व्यक्ति, तीर्थंकर, शूरवीर या सामान्य जन को नायक के रूप में स्वीकार करते हैं। नायक इन्द्रिय-दमन तथा संयम-पालन के द्वारा अपने चरित्र का विकास करता है। उसका लक्ष्य धर्म, अर्थ एवं काम का सेवन कर मोक्ष की प्राप्ति करना होता है। इन महापुरुषों की सेवा करने के लिए स्वर्ग से देवी, देवता का शुभागमन भी होता है।

---

१. जिनप्रभ सूरि, श्रेणिक चरित, १/३१,३ ।
२. नयचन्द्रसूरि, हम्मीर महाकाव्य, १४/३७ ।
३. उत्तर पुराण—भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९५४, ७४/४९२ ।

जैन संस्कृत काव्यों का कथास्रोत वैदिक पुराणों के स्थान पर लोक-प्रचलित कथाओं एवं श्रमणिक परम्परा के पुराणों से संगृहीत है । कवियों ने कथावस्तु को जैन धर्म के अनुकूल बनाने का पूर्ण प्रयास किया है ।

जैन संस्कृत काव्यों का नायक समाज के लिए आदर्शभूत होता है । उसका व्यक्तिगत जीवन ही सामाजिक जीवन होता है, क्योंकि तप, त्याग एवं संयम द्वारा ही वह परम पुरुषार्थ की प्राप्ति करता है ।

जैन संस्कृत काव्यों की कथावस्तु अनेक जन्मों से सम्बद्ध है । प्रायः प्रत्येक काव्य के अर्धाधिक सर्गों में कई जन्मों की विभिन्न परिस्थितियों और वातावरण के बीच में विविध घटनाओं का चित्रण किया गया है । इसीलिए काव्य के आरम्भिक सर्गों में पाठक काव्यानन्द का अनुभव करता हुआ अन्तिम सर्गों में आध्यात्मिकता की मन्दाकिनी में डूब जाता है ।

जैन संस्कृत काव्य पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । अतः आत्मा के अमरत्व एवं जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों को प्रदर्शित करने के लिए उनमें अनेक जन्म के आख्यानों को जोड़ दिया गया है । इससे काव्यात्मकता के साथ दार्शनिक तत्त्वों का समावेश हो गया है । किन्तु कवियों ने दार्शनिक आख्यानों को सरस बनाकर काव्यात्मकता की रक्षा की है ।

संस्कृत कवियों के काव्य वैदिक साहित्य का आश्रय लेते हैं जब कि जैन संस्कृत कवियों के काव्य श्रमण संस्कृति के प्रमुख आदर्श अहिंसा का सहारा लेते हैं । इन काव्यों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है ।

जैन संस्कृत कवियों का लक्ष्य समाज सुधार रहा है, क्योंकि मनुष्य कहीं भ्रमात्मक मार्ग का आश्रय न ले ले इसीलिए उन्होंने इस मार्ग की निन्दा कर मोक्ष, कर्मयोग, जीवन शोधन, गृहस्थाचार एवं मुनि आचार पर प्रकाश डाला है। दार्शनिक एवं सदाचार सम्बन्धी तत्त्वो का निरूपण भी उन्होंने काव्य की मधुमय शैली में किया है ।

जैन संस्कृत काव्यों के वस्तु वर्णन में भी विभिन्नता दिखलायी पड़ती है । प्रत्येक कवि किसी नगरी का वर्णन करने के पूर्व उसके द्वीप, क्षेत्र एवं देश का वर्णन करता है । उदाहरणार्थ जयन्तीपुरी का वर्णन करते समय कवि अभयदेव ने जम्बूद्वीप और उसकी समृद्धि, भारतवर्ष और उसका वैभव, मगध देश एवं उसका ऐश्वर्य वर्णन करने के उपरान्त जयन्तीपुरी का वर्णन किया है ।[१] संस्कृत काव्य में बिना किसी क्षेत्र एवं द्वीप का निर्देश किये हुए ही कवि नगरी का वर्णन करता है ।[२]

---

१. कवि अभयदेव, जयन्तविजय १/२५-२६ ।
२. कवि अश्वघोष, सौन्दरनन्द १/५७-५८ ।

यहाँ पर डॉ० विंटरनित्स का कथन भी जैन संस्कृत काव्य की विशेषताओं के निष्कर्ष के रूप में उल्लेखनीय है—

'Its characteristic features are the following. It disregards the system of castes and asramas, its heroes are, as a rule, not Gods and Rsis, but kings or merchants or even Sudras. The subjects of poetry taken up by it are not Brahmanic myths and legends, but popular tales, fairy stories, fables and parables. It likes to insist on the misery and sufferings of Samsara, and it teaches a morality of compassion and Ahimsa, guite distinct from the ethics of Brahmanism with its ideals of the great sacrificer and generous supporter of the priests and its strict adherence to the caste system.'[१]

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर जैन कवियों ने ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी से ही काव्यों का प्रणयन आरम्भ किया और अठारहवीं शती पर्यन्त यह संस्कृत काव्य-परम्परा अनवरत रूप से प्रवाहित होती रही।

जैन संस्कृत महाकाव्यों के निर्माण के मूलभूत प्रेरणा-स्रोत

राजनैतिक आश्रय— 'संस्कृत काव्य से प्रथम अवतार सात्विक भावना से नितान्त अनुप्राणित आश्रय के वातावरण में होता है, परन्तु उसका अभ्युदय सरस्वती के वरद-पुत्रों को आश्रय देकर कवि कला को प्रोत्साहन देनेवाले राजाओं के दरबार में होता है। संस्कृत के मान्य कवियों का सम्बन्ध वैभवशाली महीपालों के साथ सर्वदा स्थापित था। विक्रमादित्य के बिना न कालिदास का उदय सम्भव था और न हर्षवर्धन के बिना बाणभट्ट का।'[२] इस कथन से स्पष्ट है कि राजाओं के आश्रय में ही कवियों की प्रतिभा अपना चमत्कार प्रदर्शित करती है। राजाओं के दरबार प्राचीन काल से कला और कौशल, दर्शन शास्त्र, संस्कृत तथा सभ्यता के केन्द्र रहे हैं। महाकाव्यों के नायक पौराणिक देवता की तरह लक्ष्मीपुत्र पृथ्वीपति भी रहे हैं। ऐसी स्थिति में संस्कृत महाकाव्य राजसी वातावरण से नितान्त प्रभावित रहे हैं।

जैन कवियों को भी यह राजसी वातावरण सुलभ था। ये राजागण जैन कवियों के साथ सहिष्णुता का व्यवहार ही नहीं करते थे अपितु उनका अत्यधिक आदर-सत्कार भी करते थे। इसीलिए उनकी प्रेरणा से उन्होंने कतिपय महाकाव्यों की रचना की तथा उन्हें अपने महाकाव्य का नायक बनाया। राजाओं के साथ सेठ, सार्थवाह, धर्मात्मा व्यक्ति, तीर्थंकर, शूरवीर या सामान्य जन भी इन्हें नायक के रूप

---

१. The jainas in the History of Indian literature. By Dr. M. Winternitz. Ed. Jina Vijai Muni Ahmedabad 1946 A. D., p. 5.

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, अष्टम संस्करण, पृ० १२३।

में मान्य हैं। इनकी रचनाओं में किसी व्रत का माहात्म्य या किसी महापुरुष का चरित्र-चित्रण मिलता है। कवि अभयदेव विरचित 'जयन्त-विजय' महाकाव्य में पञ्चपरमेष्ठी[1] नमस्कार के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। अमरचन्द्र सूरि ने 'पद्मानन्द' महाकाव्य की रचना की है जिसमें जैन तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित्र चित्रित है। प्रस्तुत महाकाव्य का निर्माण पद्म मन्त्री की प्रार्थना पर किया गया। अतः पद्म को आनन्दित करने के कारण ही इसका नाम 'पद्मानन्द'[2] रखा गया। इसी प्रकार इन्होंने 'बालभारत' महाकाव्य की रचना वापट निवासी ब्राह्मणों की प्रार्थना पर की है जिसका कथानक लोक-विश्रुत पाण्डवों के चरित्र से सम्बन्धित है। इसी प्रकार देवानन्द सूरि की आज्ञा पाकर देवप्रभ सूरि ने 'पाण्डव चरित' की तथा अपने गुरु जिनपालोपाध्याय की आज्ञा से चन्द्र तिलक उपाध्याय ने 'अभय कुमार चरित' की रचना की है। अमरचन्द्र सूरि, बालचन्द्र सूरि, उदयप्रभ सूरि, माणिक्यचन्द्र सूरि और नयचन्द्र सूरि जैसे प्रमुख कवियों को भी राजाश्रय प्राप्त था। नयचन्द्र सूरि ग्वालियर नरेश वीरम देव के तथा अन्य कवि गुर्जरेश्वर वीरधवल वीसलदेव के महामात्य वस्तुपाल की विद्वन्मण्डली में थे। इन कवियों को धन का लोभ नहीं था फिर भी इन्होंने अपने आश्रयदाता प्रभुओं का गुणगान किया तथा उन्हें अपने महाकाव्य का नायक बनाया।

धार्मिक भावना—जैन कवियों का प्रमुख लक्ष्य जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार था। अतः उन्होंने धार्मिक चेतना एवं भक्ति-भावना से प्रेरित होकर महाकाव्यों की रचना की। उनकी इस भावना की अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित होती है। इस प्रकार जैन कवियों का एक ओर लक्ष्य स्वान्तःसुखाय काव्य की रचना करना था तथा दूसरी ओर उसके माध्यम से जनसाधारण में जैन धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करना था। इसीलिए उन्होंने सरल से सरल भाषा में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उनका साहित्य विद्वद्वर्ग के लिए ही न होकर जन-सामान्य के लिए है। उन्होंने जैन धर्म के जटिल सिद्धान्तों का प्रतिपादन न करके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि पर विशेष बल दिया है। उनके प्रेमाख्यान काव्य में भी धार्मिक भावना की स्पष्ट छाप है। महाकाव्यों का प्रमुख लक्ष्य भी यही है। इस प्रकार जैन संस्कृत महाकाव्यों के निर्माण में धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

पारस्परिक गच्छीय स्पर्धा – जैन महाकाव्यों के निर्माण में पारस्परिक गच्छीय स्पर्धा भी प्रेरणा-स्रोत रही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जैन धर्म आरम्भ से ही विभिन्न गच्छों में विभाजित हो गया था। यथा—चन्द्र गच्छ, नागेन्द्र

१. कवि अभयदेव, जयन्तविजय, तृतीय सर्ग।

२. कवि अमरचन्द्र सूरि, पद्मानन्द महाकाव्य, १९/६१।

गच्छ, राजगच्छ, चैत्रगच्छ, पूर्णतल्ल गच्छ, वृद्ध गच्छ, धर्मघोष गच्छ आदि । इन गच्छों में रहनेवाले मनीषियों को राजाश्रय तो प्राप्त ही था किन्तु ये लोग धन के लोभी न थे । अतः उन आश्रयदाताओं से प्राप्त धन को वे अपनी गच्छीय प्रतिष्ठा एवं साहित्य-निर्माण मे व्यय करते थे । यही कारण है कि पाँचवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक काव्य ग्रन्थों का निर्माण उतनी तीव्र गति और प्रचुर मात्रा से नहीं हो सका जितना कि ग्यारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक दिखलायी पड़ता है । दसवीं शताब्दी के पूर्व कतिपय काव्य ग्रन्थों का ही प्रणयन हुआ था किन्तु बाद के चार वर्षों में इनकी संख्या सैकड़ों में पहुँच चुकी थी । जिसका प्रमुख कारण पारस्परिक स्पर्धा था क्योंकि किसी गच्छ के विद्वान् द्वारा निर्मित कृति को देखकर दूसरे गच्छ के विद्वान् गच्छीय प्रतिष्ठा हेतु अनेक कृतियों का निर्माण कर डालते थे । इस प्रकार जैन मनीषियों ने पारस्परिक गच्छीय स्पर्धा के कारण अनेक काव्य-कृतियों का निर्माण किया ।

जैन महापुरुषों के आदर्श जीवन जैन कवियों ने उन लौकिक महापुरुषों से प्रभावित होकर महाकाव्यों की रचना की जिन्होंने जैन धर्म के उत्थान के लिए मन, वाणी एवं कर्म से प्रयत्न किया था । सिद्धराज जयसिंह, परमार्हत कुमारपाल, महामात्य वस्तुपाल, जगडूदास आदि ऐसे धर्मात्मा व्यक्ति थे जिनके आदर्श जीवन से समाज ने शिक्षाएँ ग्रहण की थीं । ऐसे उन महापुरुषों के जैन धर्मानुकूल जीवन से प्रभावित होकर जैन मनीषियों ने उन्हें अपने महाकाव्य का नायक बनाया और उनका प्रशस्ति-गान किया । उनके इस प्रशस्ति-गान में कहीं भी चाटुकारिता की गन्ध नहीं आने पाई है । उदाहरणार्थ—जगडू की अद्भुत दानशीलता ने सर्वानन्द सूरि को 'जगडू-चरित', कुमारपाल की अद्भुत धर्म-भावना ने जयसिंह सूरि को 'कुमारपाल चरित' तथा वस्तुपाल की जैन धर्म के प्रति अविचल निष्ठा ने बालचन्द्र सूरि को 'वसन्त-विलास' एवं उदय प्रभ सूरि को 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य की रचना के लिए विवश किया । इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन महापुरुषों के आदर्श जीवन भी जैन महाकाव्यों के निर्माण के प्रेरणास्रोत रहे हैं ।

संस्कृत के मूर्धन्य कवियों का प्रभाव संस्कृत साहित्य के ख्यातिप्राप्त कालि-दास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि कवियों की काव्यकृतियों से प्रेरणा पाकर भी जैन कवियों ने अनेक काव्यों की रचना की । इन कवियों का प्रमुख लक्ष्य संस्कृत के कवियों की पंक्ति में स्थान प्राप्त करना था । अतः उन्होंने उन कवियों की शैली का अनुकरण किया । मुनिभद्र सूरि ने अपने 'शान्तिनाथ चरित' में आत्मश्लाघा करते हुए बड़े गर्व के साथ कहा कि जिन्हें कालिदास, भारवि माघ और श्रीहर्ष के काव्यों में भी दोष दिखलायी पड़ते हैं उन्हें इस काव्य में सर्वत्र गुण ही मिलेंगे—

ये द्वेषान् प्रतिपादयन्ति सुधियः श्रीकालिदासोक्तिषु
श्रीमद्भारविमाघपण्डितमहाकाव्यद्वयेऽप्यन्वहम् ।

श्रीहर्षामृतसूक्तिनैषधमहाकाव्येऽपि ते केवलम्
यावद् वृत्तविवर्णनेन भगवच्छान्तेश्चरित्रे गुणान् ।।[१]

इसी प्रकार ग्वालियर शासक वीरमदेव तोमर की उक्ति कि 'प्राचीन कवियों के सदृश मनोहर काव्य की रचना अब कौन कर सकता है' सुनकर नयचन्द्र सूरि ने हम्मीर महाकाव्य की बड़े गर्व के साथ रचना की तथा उसे महाकाव्य कहा। कवि के शब्दों में—

काव्यं पूर्वकवेर्न काव्य सदृशं कश्चिद् विधाताऽधुने-
त्युक्ते तोमरवीरमक्षितिपतेः सामाजिकैः संसदि ।
तदभ्रूचापलकेलिदोलितमनाः श्रृंगारवीराद्भुतं
चक्रे काव्यमिदं हमीरनृपतेर्नव्यं नयेन्दुः कविः ।।[२]

इन कवियों के अतिरिक्त हरिचन्द्र ने 'धर्मशर्माभ्युदय'[३] तथा वस्तुपाल ने नरनारायणानन्द'[४] की रचना कर उन्हें महाकाव्य की संज्ञा दी। इस प्रकार इन कवियों की गर्वोक्तियाँ स्वयं ही कालिदास जैसे प्रमुख कवियों की श्रेणी में स्थान प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा को व्यक्त करती हैं।

जैन संस्कृत महाकाव्यों का वर्गीकरण एवं उनकी प्रमुख विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ

जैन संस्कृत महाकाव्यों का विभाजन प्रमुख रूप से तीन वर्गों में किया जा सकता है—

१. पौराणिक महाकाव्य,
२. ऐतिहासिक महाकाव्य,
३. शास्त्रीय महाकाव्य।

पौराणिक महाकाव्यों के अन्तर्गत उन महाकाव्यों को लिया गया है जिनका आधार पुराण रहे हैं। जैसे महाकवि महासेन का 'प्रद्युम्नचरित'। इस महाकाव्य की रचना जिनसेन प्रथम के हरिवंश पुराण के आधार पर की गयी है।

ऐतिहासिक महाकाव्यों के अन्तर्गत उन महाकाव्यों की गणना की जाती है जिनका आधार ऐतिहासिक महापुरुष रहे हैं। जैसे नयचन्द सूरि का 'हम्मीर महा-

१. मुनिभद्र सूरि, शान्तिनाथ चरित, प्रशस्ति श्लोक—१३।
२. नयचन्द्र सूरि, हम्मीर महाकाव्य १४/४३।
३. इति महाकवि हरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये प्रथमः सर्गः।
—कवि हरिश्चन्द्र, धर्मशर्माभ्युदय, प्रथम सर्ग की पुष्पिका।
४. नरनारायणानन्दो नाम कन्दो मुदामिदम्।
तेन तेने महाकाव्यं वाग्देवीधर्मसूनुना ।।
—कवि वस्तुपाल, नरनारायणानन्द १६।४०।

काव्य'। इस महाकाव्य में नायक हम्मीरदेव इतिहास-प्रसिद्ध महापुरुष हैं जिन्होंने वि० सं० १३५७ के श्रावण मास में अलाउद्दीन खिलजी के साथ युद्ध करते हुए वीर-गति प्राप्त की है।

शास्त्रीय महाकाव्यों के अन्तर्गत वे महाकाव्य आते हैं जिनकी रचना जैन महाकवियों ने संस्कृत के उत्कृष्ट कवियों की पंक्ति में स्थान प्राप्त करने की अभिलाषा से की है। जैसे मुनिभद्र सूरि का 'शान्तिनाथ चरित'। इसमें कवि ने बड़े गर्व के साथ अपने को कालिदास आदि प्रमुख कवियों से महान् बताया है।

पौराणिक महाकाव्यों की प्रमुख विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ

१—जैन महाकाव्यों में जैन धर्म के शलाका पुरुषों के चरित्र का वर्णन किया गया है। ६३ शलाका पुरुषों के अतिरिक्त अन्य धार्मिक पुरुषों के जीवन चरित्र भी इसमें वर्णित हुए हैं। कभी-कभी किसी व्रत, तीर्थ, पञ्च नमस्कार आदि के माहात्म्य को प्रदर्शित करने के लिए भी काव्य की रचना की गयी है।

२—इन जीवनचरितों की उद्गम भूमि जैन आगम, भाष्य तथा महापुराण रहे हैं। कवियों ने कथानक में परिवर्तन हेतु कल्पनाशक्ति का आश्रय नहीं लिया है।

३—इन कवियों का प्रमुख लक्ष्य कथा के माध्यम से धर्मोपदेश देना रहा है। अतः कथा रस की अपेक्षा सर्वत्र धर्मभाव की प्रधानता परिलक्षित होती है। आत्मज्ञान, संसार की नश्वरता, विषय त्याग, वैराग्य भावना, श्रावकों के आचार का प्रतिपादन तथा नैतिक जीवन की उन्नति के लिए आदर्शों की योजना इन कृतियों के मुख्य विषय रहे हैं।

४—इन काव्यों में कर्मफल की अनिवार्यता दिखलाने के लिए चरित्र नायकों एवं उनसे सम्बन्धित पूर्व भवों की कथा को मूल कथा के आवश्यक अंग के रूप में कहा गया है क्योंकि इस जन्म में पात्रों को प्राप्त होने वाला सुख-दुःख उनके पूर्व जन्म के कर्मों का फल है।

५—इन महाकाव्यों में अलौकिक एवं अप्राकृत तत्त्वों की प्रधानता परिलक्षित होती है क्योंकि समय-समय पर विद्याधर, यक्ष, गन्धर्व, देव, राक्षस आदि उपस्थित होकर पात्रों की सहायता करते हैं, किन्तु उनकी उपस्थिति का सम्बन्ध पूर्व जन्म के कर्मों से बताकर अस्वाभाविकता को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त तन्त्र-मन्त्र, स्वप्न और शकुन-अपशकुन में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों का वर्णन भी इन काव्यों में मिलता है।

६—इन काव्यों में पहले ब्राह्मण, बौद्ध एवं चार्वाक आदि दर्शनों के सिद्धान्तों का वर्णन हुआ है और उसके पश्चात् उनका खण्डन करके जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

७—किसी-किसी काव्य में प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग भी मिलता है, क्योंकि काम, मोह, अहंकार, सुगति धर्म, अज्ञान, राग और द्वेष आदि भावों को पात्रों का रूप दिया गया है।

८—अनेक काव्यों में स्तोत्रों की योजना की गयी है जिनमें तीर्थंकरों या पौराणिक पुरुषों या मुनियों की स्तुति हुई है।

९ इन काव्यों का लक्ष्य जन-साधारण को प्रभावित करना रहा है, क्योंकि जन-साधारण को प्रभावित करने के लिए कथात्मक साहित्य ही सर्वोत्तम साधन है। इसीलिए इन काव्यों की मूल कथा के साथ अनेक अवान्तर कथाओं को जोड़ दिया गया है। जिससे कथानक में शिथिलता दृष्टिगोचर होती है।

१०—रस की दृष्टि से अधिकांश काव्यों में शान्त रस को अङ्गीरस के रूप में स्वीकार किया गया है तथा अङ्गरूप में शृङ्गार, वीर, रौद्र, भयानक आदि रसों का वर्णन भी हुआ है। जीवन की अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त करने के बाद किसी मुनि के उपदेश श्रवण के द्वारा जीवन और संसार से विरक्त हो जाना ही इन सभी पौराणिक काव्यों का लक्ष्य रहा है। इसीलिए शान्त रस की प्रधानता सर्वत्र परिलक्षित होती है।

११—इन सभी काव्यों के कथानक का प्रारम्भ प्रायः एक-सा ही हुआ है। जैसे—तीर्थंकरों की स्तुति, पूर्व कवियों और विद्वानों का स्मरण, सज्जन-दुर्जन चर्चा, देश, नगर, राजा-रानी का वर्णन, तीर्थंकर या मुनि का नगर के बाहर उद्यान में आना, राजा या नगरवासियों का वहाँ पहुँचना, देखना-सुनना और फिर संवाद रूप में पूरी कथा का कहना आदि।

१२—इन काव्यों के मध्य में महाकाव्योचित वर्ण्य विषयों—नदी, पर्वत, सागर, प्रातः, सन्ध्या, रात्रि, चन्द्रोदय, सुरापान, सुरति, जलक्रीडा, उद्यान क्रीडा, वसन्तादि ऋतु, शारीरिक सौन्दर्य, जन्म, विवाह, युद्ध और दीक्षा आदि के वर्णन प्रस्तुत कर समग्र जीवन के चित्र उपस्थित करने की चेष्टा की गयी है।

१३—इन महाकाव्यों में कहीं-कहीं महाकाव्य परम्परा विरुद्ध क्षत्रिय कुलोत्पन्न धीरोदात्त राजा को नायक न बनाकर मध्यम श्रेणी के किसी वणिक आदि पुरुष को नायक बनाया गया है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं किसी स्त्री को प्रमुख पात्र के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

१४—इन काव्यों में अनेक प्रेमाख्यान काव्य भी हैं जिनमें प्रेम, मिलन, दूतप्रेषण, सैनिक अभियान, नगरावरोध, युद्ध और विवाह आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है।

१५—शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार 'सर्गबद्धो महाकाव्यम्' अर्थात् महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिए। पौराणिक महाकाव्य भी अधिकतर सर्गबद्ध हैं। किन्तु

कुछ महाकाव्यों का विभाजन उत्साह, पर्व, लम्भक आदि नामों से हुआ है। जैसे— अमरचन्द्र सूरि का 'बालभारत' पर्वों और सर्गों में, माणिक्यचन्द्र सूरि का 'नलायनम' स्कन्धों और पर्वों में तथा 'लीलावती कथासार' उत्साहों में विभाजित हुआ है।

१६—इन सभी काव्यों की रचना शिक्षित या पण्डित वर्ग के लिए न होकर जन-साधारण के लिए हुई है। इसीलिए इनकी भाषा सरल है तथा मुहावरों, लोकोक्तियों एवं देशज शब्दों का प्रयोग भी भाषा को प्रवाहमयी बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है।

१७—इन महाकाव्यों में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है। अन्य छन्दों में उपजाति, मालिनी, वसन्ततिलका आदि छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के अर्धसम और विषम वर्णिक छन्दों तथा अप्रचलित छन्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। जिनमें षटपदी (छप्पय), कुण्डलिक (कुण्डलिया), आख्यानकी, वैतालीय तथा वेगवती के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वर्णिक छन्दों में छन्दशास्त्र के नियम के अनुसार जहाँ-जहाँ यति का विधान है वहाँ अन्त्यानुप्रास के प्रयोग द्वारा छन्द को नवरूपता प्रदान की गयी है। इस अन्त्यानुप्रासता के प्रयोग से छन्दों में गेयता का गुण अधिक आ गया है और लय में गतिशीलता भी देखने को मिलती है। किन्तु इस अन्त्यानुप्रास का प्रयोग प्रत्येक चरण के अन्त में ही न होकर मध्य में भी हुआ है।

ऐतिहासिक महाकाव्यों की प्रमुख विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ

१—ऐतिहासिक महाकाव्यों की रचना अधिकतर राजाओं के आश्रय में हुई है। इसीलिए इन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को सन्तुष्ट करने के लिए उनकी झूठी प्रशंसा की है। उन्होंने उन अंशों को बिल्कुल छोड़ दिया है जिनके द्वारा आश्रयदाताओं के उत्कर्ष में बाधा दीख पड़ती है।

२—इन महाकाव्यों में नायक की वीरता या माहात्म्य प्रदर्शित करने के लिए दिग्विजय आदि का काल्पनिक वर्णन भी हुआ है तथा कहीं-कहीं उसके उत्कर्ष को करने के लिए प्रतिनायक की कल्पना भी की गयी है।

३—इन काव्यों की मुख्य कथा तो ऐतिहासिक रही है किन्तु उसमें अतिशयोक्तिपूर्ण और काल्पनिक घटनाओं की भी कमी नहीं है।

४—इनमें नायक की वंश-परम्परा और उसके कुल की उत्पत्ति का वर्णन पुराणों के आधार पर किया गया है। जैसे चौलुक्य वंश की उत्पत्ति ब्रह्मा के चुलुक से हुई बतायी गयी है।

५—शास्त्रीय महाकाव्यों की भाँति इन महाकाव्यों में भी ऋतु-वर्णन, जलक्रीड़ा, वनविहार, संयोग, वियोग, युद्ध, पुत्रोत्पत्ति आदि का वर्णन भी मिलता है।

शास्त्रीय महाकाव्यों की प्रमुख विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ

१—शास्त्रीय महाकाव्यों के आदर्श भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष आदि के महाकाव्य रहे हैं। किन्तु इनकी कथावस्तु अत्यन्त ही स्वल्प है। इसीलिए इन महाकाव्यों में वस्तु-व्यापार का अनावश्यक विस्तार किया गया है।

२—इन महाकाव्यों में कवियों ने स्थान-स्थान पर पाण्डित्य-प्रदर्शन, वाक्चातुरी और कल्पना-वैभव दिखलाने का प्रयत्न किया है।

३—इन महाकाव्यों की रचना करते समय लक्षणग्रन्थों में प्राप्त अधिकांश महाकाव्य सम्बन्धी नियमों का पालन किया गया है।

४—इन महाकाव्यों में कवियों ने अलंकृति और भाषा की साज-सज्जा पर विशेष बल दिया है, क्योंकि उनका आदर्श किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषध महाकाव्य की भाषा रही है। इसीलिए इन महाकाव्यों की भाषा-शैली उदात्त, प्रौढ़ और कहीं-कहीं दुर्बोध भी मिलती है।

५—रस की दृष्टि से इन महाकाव्यों में शृंगार, वीर और शान्त रस को अङ्गीरूप में तथा अन्य रसों को अङ्ग रूप में स्वीकार किया गया है।

६—इन महाकाव्यों में कवियों ने स्थान-स्थान पर विविध शास्त्र-विषयक ज्ञान को प्रतिपादित किया है।

जैन संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा का विकास-क्रम

जैन कवियों ने पौराणिक, ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय महाकाव्य के रूप में अनेक काव्यों की रचना की। इन काव्यों का प्रमुख उद्देश्य पुण्य पुरुषों के चरितों को बुद्धिजीवी वर्ग तक पहुँचाना रहा है। अतः इनके काव्यों में चरित नामान्त महाकाव्यों की प्रधानता है। अध्ययन की दृष्टि से उनके प्रमुख काव्यों को यहाँ पर दो भागों में विभक्त किया जा रहा है—

१. चरित नामान्त महाकाव्य, २. इतर नामान्त महाकाव्य।

चरित नामान्त महाकाव्य

वराङ्ग चरित जैन चरित महाकाव्यों के अन्तर्गत संस्कृत का सर्वप्रथम चरित काव्य जटासिंह नन्दी का 'वराङ्ग चरित'[१] है। जटासिंह नन्दी का समय ईसवी सन् की आठवीं शती का पूर्वार्ध माना गया है। इस काव्य में बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा श्रीकृष्ण के समकालीन वराङ्ग नामक पुण्य पुरुष का जीवन-चरित अंकित किया गया है। काव्य का नायक धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न है। उसके चरित्र के माध्यम से ही जैन धर्म के सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत करना कवि का प्रमुख

१. माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला संख्या ४०, बम्बई १९३८। संपादक ए० एन० उपाध्ये।

लक्ष्य रहा है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही उसने ३१ सर्गों की सृष्टि की है। इन सर्गों में से चतुर्थ से लेकर दशम तक तथा छब्बीसवें एवं सत्ताईसवें सर्ग को निकाल देने पर भी कथा में किसी प्रकार की कमी नहीं आने पाती है, क्योंकि इस काव्य में जैन तत्त्वों का निरूपण इतना अधिक हुआ है कि जिससे पाठक का मन ऊब जाता है। यों तो इस काव्य में प्रसाद गुण के प्राचुर्य के कारण सर्वत्र आकर्षण है। उदाहरणार्थ एक तथ्य का स्वाभाविक चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

> निदाघमासे व्यजनं यथैव करात् करं सर्वजनस्य याति।
> तथैव गच्छन् प्रियतां कुमारो वृद्धिं च बालेन्दुरिव प्रयातः ॥[1]

अपि च—

> चलत्पताकोज्ज्वल केशमाला प्राकार काञ्चिः स्तुतितूर्यनादः।
> प्रपूर्ण-कुम्भोरु-पयोधरा सा पुराङ्गना लब्धपतिस्तुतोष ॥[2]

प्रस्तुत श्लोक में कवि ने नगरी की समता अङ्गना से की है।

वराङ्ग की यह कथा आगे चलकर जैन समाज में इतना अधिक लोकप्रिय हुई कि धरणि पण्डित ने (१६५० ई० के लगभग) कन्नड भाषा में इस काव्य की रचना की तथा लालचन्द्र पाण्डेय ने १८२७ वि० सं० में १४वीं शती के संस्कृत के कवि वर्धमान के वराङ्गचरित का हिन्दी में अनुवाद किया।

चन्द्रप्रभचरित—महाकवि वीरनन्दि ने 'चन्द्रप्रभचरितम्'[3] नामक महाकाव्य की रचना की। इस काव्य में आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के जीवनचरित का वर्णन किया गया है। महाकवि वादिराज (ई० १०२५) ने अपने 'पार्श्वनाथ चरित' इस काव्य तथा कवि दोनों के नामों का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट है कि काव्य के रचयिता वीरनन्दि का समय ई० सन् की दसवीं शताब्दी है—

> चन्द्रप्रभाभिसम्बद्धा रसपुष्टा मनः प्रियम्।
> कुमुदवतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः ॥[4]

इस महाकाव्य में १८ सर्ग हैं जिनमें चन्द्रप्रभ के सात भवों की कथा विस्तार के साथ वर्णित हुई है। भाषा-शैली की दृष्टि से कवि कालिदास का अनुयायी है, क्योंकि व्याकरण-सम्मत भाषा की मञ्जुलता, मधुरता और सरसता इस काव्य की प्रमुख विशेषता है। यथा—उदय के समय अरुणवर्ण चन्द्रमा को देखकर कवि उसे पूर्व दिशा के मस्तक पर सुशोभित जया पुष्प की रमणीक कल्पना करता है—

---

१. वराङ्ग चरित, २८/६।
२. वही, ११/६६।
३. काव्यमाला ग्रन्थांक ३०, निर्णयसागर, बम्बई १९१२।
४. पार्श्वनाथ चरित १/२०।

वितभावधिरोहदम्बरे विधुविम्बं क्षणमुद्गमारुणम् ।
जनयद् हरिदिगवधू जपाकुसुमापीडवितर्कमङ्गिनाम ।।[१]

अपि च--

तिमिरेममदुर्न हिंसितुं शशिहिंसाय गुहाश्रितं नगाः ।
शरणागतरक्षणं सतां नहि जातु व्यभिचारमेष्यति ।।[२]

अर्थात् पर्वतों ने कन्दराओं में आकर छिपे हुए अन्धकाररूपी हाथी को मारने के लिए चन्द्रमारूपी सिंह को नहीं सौंपा क्योंकि सज्जनों का शरणागत की रक्षा करने का स्वभाव कभी नहीं बदल सकता है ।

प्रस्तुत काव्य में कवि वीरनन्दि का प्रमुख लक्ष्य जीवन को निर्वाण की ओर ले जाना है । इसीलिए प्राचीन कवियों के भावों से प्रभावित होने पर भी उनमें मौलिकता है तथा रसपेशल पदावली में भावों के अभिव्यक्ति की अपूर्व क्षमता है । जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्ण सफलता मिली है ।

कवि वीरनन्दि के अतिरिक्त सर्वानन्द सूरि ने भी तेरहवीं शताब्दी में जैनों के अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के चरित के आधार पर 'चन्द्रप्रभचरित' काव्य की रचना की जो अभी तक अप्रकाशित है ।

वर्धमानचरित[३]—महाकवि असग ने दसवीं शताब्दी में ही 'शान्तिनाथचरित' एवं 'वर्धमानचरित' नामक दो महाकाव्यों की रचना की । उनके ये दोनों काव्य महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की कसौटी पर खरे उतरते हैं । इनके 'शान्तिनाथ चरित' में सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित चित्रित किया गया है । इस काव्य में दार्शनिक तत्त्वों की बहुलता के कारण प्रकृत रस तथा कथावस्तु का वर्णन एकदम दब-सा गया है ।

कवि असग का 'वर्धमान चरित' निस्सन्देह ही उच्चकोटि का काव्य है जिसके १८ सर्गों में महावीर स्वामी का जीवन-चरित वर्णित है । इस काव्य की कथावस्तु 'उत्तर पुराण' के ७४वें पर्व से ली गयी है किन्तु कवि ने कथावस्तु को महाकाव्योचित बनाने के लिए पर्याप्त काट-छाँट की है । उदाहरणार्थ—उसने पुरूरवा और मरीचि के आख्यान को छोड़कर श्वेतातपत्रा नगरी के राजा नन्दिवर्धन के आँगन में पुत्रजन्मोत्सव के कथानक को जोड़ दिया है जिससे आरम्भ स्थल अत्यन्त ही रमणीय बन पड़ा है । इस काव्य की शैली वैदर्भी है तथा प्रसाद गुण का

---

१. चन्द्रप्रभ चरित १०/३० ।
२. वही, १०,२६ ।
३. सम्पादन और मराठी अनुवाद जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले, प्र० रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर, सन् १९३१ ई० ।

आधिक्य है । कवि ने भावों को सजाने के लिए अलङ्कारों का प्रयोग प्रचुरता के साथ किया है। इसीलिए मार्मिक स्थलों पर उपयुक्त रस की अनुभूति होने लगती है। कवि के शब्दों में—वसन्त के शुभागमन पर मलयानिल नर्तक के द्वारा लता-रूपी अङ्गनाओं का यह नर्तन अत्यन्त सुखकारी प्रतीत होता है—

अनर्तयत् कोकिलपुष्करध्वनिः प्रयुक्तभृङ्गस्वनगीतशोभिते ।
वनान्तरङ्गे स्मरबन्धिनाटकं लताङ्गता दक्षिणवातनर्तकः ॥[1]

कवि सौन्दर्य-चित्रण में भी अत्यन्त निपुण है

जङ्घा मृदुत्वेन हता नितान्तं विसारता सत्कदली प्रयाता ।
पयोधराभ्यां विजितं च यस्या मालूरमास्ते कठिनं वनान्ते ॥[2]

अर्थात् श्रेष्ठ कदली वृक्ष उसकी जंघाओं की मृदुता के समक्ष लज्जित होकर ही निस्सारता को प्राप्त हो गया तथा अत्यन्त कठोर बेल उसके पयोधरों से जीते जाने के कारण ही वन में निवास करने लगा ।

पार्श्वनाथ चरित—जैन सम्प्रदाय के २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवन वृत्त भी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के कवियों के लिए विशेष आकर्षक रहा है। इसीलिए इन सभी भाषाओं के कवियों ने उनके जीवनवृत्त को ग्रहण कर महाकाव्यों की रचना की है। संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित वादिराज सूरि का 'पार्श्वनाथ चरित'[3] भी अन्य कवियों के लिए प्रेरणास्रोत रहा है । इस काव्य के माध्यम से जहाँ एक ओर उनकी काव्य-प्रतिभा का परिचय मिलता है वहीं दूसरी ओर तार्किक कुशलता का । उन्होंने सिंह चक्रेश्वर या चालुक्य चक्रवर्ती जयसिंह देव की राजधानी में निवास करते हुए शक सम्बत् ६४७ (सन् १०२५ ई०) कार्तिक शुक्ला तृतीया को अपने पार्श्वनाथचरित की रचना[4] की । अतः उनका समय ११वीं शती का पूर्व-भाग है। इन्हें षट्तर्कषणमुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेक मल्लधारी की उपाधियाँ प्राप्त थीं जो उनके दार्शनिक ज्ञान का परिचायक हैं । कवि का प्रस्तुत श्लोक भी इसी ओर ध्यान आकृष्ट करता है—

वादिराजमनुशब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः ।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः ॥[5]

१. वर्धमानचरित २/५२ ।
२. वही, ५/१८ ।
३. सं० पं० मनोहर लाल शास्त्री, प्र० माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई वि० सं० १९७३ ।
४. शकाब्दे नागवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने,
मासे कार्त्तिक नाम्निबुद्धि महितेशुद्धे तृतीयादिने ।
सिंहे याति जयादिके वसुमतीं जैनीकथेयं मया,
निष्पत्तिं गमिता मती भवतु वः कल्याण निष्पत्तये ॥—पा० च०, प्र० ५ पद्य ।
५. एकीभावस्तोत्र, श्लोक २६ ।

अर्थात् समस्त वैयाकरण, तार्किक और भव्य सहायक वादिराज से हीन हैं। अर्थात् उनकी समता नहीं कर सकते हैं।

'पार्श्वनाथ चरित' की कथावस्तु का मूलस्रोत उत्तर पुराण है जिसमें ७३वें पर्व में पार्श्वनाथ के चरित का वर्णन हुआ है किन्तु संस्कृत भाषा में काव्य रूप में 'पार्श्वनाथचरित' लिखने का श्रेय वादिराज को ही है । इस काव्य में १२ सर्ग हैं। काव्य की भाषा-शैली माधुर्य गुणपूर्ण है, जो कि कवि की भाषा पर असाधारण अधिकार का द्योतक है।

इस रचना के अतिरिक्त माणिक्यचन्द्र सूरि[1], विनयचन्द्र सूरि[2], सर्वानन्द सूरि[3] तथा भावदेव सूरि[4] ने भी पार्श्वनाथ चरित नामक काव्य की रचना की।

प्रद्युम्नचरित - महाकवि महासेन ने 'प्रद्युम्नचरित'[5] नामक महाकाव्य की रचना की। इनका समय दसवीं शती है। प्रद्युम्नचरित काव्य के चौदह सर्गों में श्रीकृष्ण के रुक्मिणी के गर्भ से उत्पन्न जेष्ठ पुत्र प्रद्युम्न का चरित वर्णित किया गया है। प्रद्युम्न की कथा जिस प्रकार भागवत (दशम स्कन्ध अ० ५२-५५) तथा विष्णुपुराण (पंचम अंश अ० २६-२७) में प्रसिद्ध है उसी प्रकार जैनधर्मियों में भी लोकप्रिय है। जिन-सेन ने हरिवंश पुराण' तथा गुण भद्राचार्य ने 'उत्तर पुराण' में प्रद्युम्न के चरित का वर्णन किया है। कविवर महासेन के 'प्रद्युम्न चरित' के वर्णन का आधार भी यही 'हरिवंश पुराण' ही रहा है क्योंकि हरिवंश पुराण की कथावस्तु तथा प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु में पर्याप्त साम्य है । भागवत के प्रेमी भक्तों के लिए यह महाकाव्य नितान्त मनमोहक है। काव्य की भाषा सरलता, स्वाभाविकता एवं प्रसादमयता से समन्वित है। शीतल वायु के प्रवाहित होने से संसार काँप रहा है । बादलों से मूसलाधार वृष्टि हो रही है । कृषक लोग काँपते हुए हलोपकरणों को खेतों में छोड़कर घर चले गये हैं—

सीत्कारवायुपरिकम्पित विश्वलोके
वेगाद् विमुञ्जति जलं नववारिवाहे।

---

१. ताड़पत्रीय प्रति शान्तिनाथ भण्डार, खम्भात, ग्रंथ सं० २०७ जिन रत्नकोश पृ २४४।
हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर पाटन, हस्तलिखित प्रतियाँ क्र० सं० १९१८ और १९६८।
३. ताड़पत्रीय प्रति—संघवी पाड़ा भण्डार, पाटन सं० २७।
४. यशोविलास जैन ग्रन्थमाला, सन् १९१२, इसका सारानुवाद अंग्रेजी में ब्लूमफील्ड ने वाल्टीमोर से सन् १९१९ में प्रकाशित कराया।
५. माणिक्यचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित वि० १९७३।

सर्वं हलोपकरणं च विहाय तस्मिन्
कृच्छ्राज्जगाम भवनं प्रतिवेपिताङ्गः ॥[1]

महाकवि महासेन का प्रमुख लक्ष्य प्रसाद मधुरा वाणी द्वारा संस्कृत काव्य की रस सरिता को प्रवाहित करना रहा है । इसीलिए काव्य की शैली वैदर्भी है। दुरूह से दुरूह विषय को सरल ढंग से कहना कवि के काव्य की प्रमुख विशेषता है।

शान्तिनाथ चरित[2] — इस काव्य की रचना मुनिभद्र सूरि ने पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना से प्रेरित होकर की है, क्योंकि उनकी स्पष्ट गर्वोक्ति है कि जिन्हें कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष के काव्यों में दोष दीख पड़ते हैं उन्हें इस काव्य में सर्वत्र गुण ही गुण दीख पड़ेंगे —

ये दोषान् प्रतिपादयन्ति सुधियः श्री कालिदासोक्तिषु
श्रीमद्भारविमाघपण्डित महाकाव्यद्वयेऽप्यन्वहम् ।
श्रीहर्षामृतसूक्ति नैषध महाकाव्येऽपि ते केवलं
यावद्वृत्तविवर्णनेन भगवच्छान्तेश्चरिते गुणान् ॥[3]

मुनिभद्रसूरि का समय १४वीं शती का मध्यकाल है क्योंकि इन्होंने समाज में पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित की थी जिससे प्रभावित होकर तत्कालीन बादशाह फिरोज तुगलक (राज्यकाल १३५१-१३८८ ई०) इनका बड़ा आदर करता था। इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख उन्होंने काव्य की प्रशस्ति में किया है।[4]

'शान्तिनाथ चरित' महाकाव्य में १९ सर्ग हैं तथा काव्य का आधार मुनि देवसूरि कृत 'शान्तिनाथ चरित' है क्योंकि कवि ने कथास्रोत के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—

पूज्य श्री मुनिदेवसूरिरचित श्री शान्ति तीर्थेश्वर
प्रख्याताद्भुत काव्यदर्शन तया काव्यं मयेदं कृतम् ।

---

१. प्रद्युम्नचरित ५/१०४ ।
२. यशोविलास ग्रन्थमाला में (संख्या २०) वाराणसी से प्रकाशित पं० हरगोविन्द दास तथा बेचरदास द्वारा संशोधित ।
३. शान्तिनाथ चरित प्रशस्ति—१३ पद्य ।
४. तस्यश्रीगुणभद्रसूरिसुगुरुः पट्टावतंसोऽभवद् ।
य: श्री शाहिमुहम्मदस्य पुरतःक्ष्मापालचूडामणेः ॥
—शान्तिनाथ चरित प्रश०-७ ।
चातुर्यं गुणभद्रसूरिगुरोः शास्त्रेषु सर्वेष्वपि ।—शान्ति० प्रश०-८ ।
तच्छिष्यो मुनिभद्रसूरिरजनि स्याद्वादिसंभावनः ।
श्री पेरोजमहीमहेन्द्रसदसि प्राप्तप्रतिष्ठोदयः ॥—वही, ९ ।

उत्सूत्रं यदि भाव किंचिदपि तद्नाऽऽदेयमेतत् सताम्
स्याद् नूनं न च निर्वर्त्तिं रचयतीव्यालोच्यबुद्धयाधिकम् ॥[१]

इस प्रकार स्पष्ट है, कि मुनिभद्र सूरि ने इस काव्य की समस्त अवान्तर कथाएँ मुनिदेव सूरि के 'शान्तिनाथ चरित' से ग्रहण की हैं । दार्शनिक तत्त्व और धर्म सिद्धान्त भी उक्त काव्य से ही लिये गये हैं ।

महाकाव्य की दृष्टि से 'शान्तिनाथ चरित' एक सफल रचना है, क्योंकि शास्त्रीय परम्परा के अनुसार इस काव्य का कथानक लोकविश्रुत सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ के जीवनचरित से सम्बन्धित है ।

इस काव्य की भाषा में प्रौढ़ता, लालित्य और अनेकरूपता के दर्शन होते हैं। अधिकांश स्थलों पर उसमें बोधगम्यता और सरलता है । भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार है। उसकी शब्द योजना संघटित और भावानुकूल है ।

मुनिभद्र सूरि कृत 'शान्तिनाथ चरित' के अतिरिक्त 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार माणिक्यचन्द्र सूरि[२] तथा पौर्णमिकगच्छीय अजितप्रभ सूरि[३] एवं भावचन्द्र सूरि[४] कृत 'शान्तिनाथ चरित' महाकाव्य का भी उल्लेख मिलता है ।

• **कुमारपाल चरित** —आचार्य हेमचन्द्राचार्य ने 'कुमारपालचरित'[५] नामक महाकाव्य की रचना १२वीं शताब्दी में की । कुछ लोग इस काव्य को द्वयाश्रय काव्य भी कहते हैं जिसका प्रमुख कारण यह है कि यह काव्य संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं में लिखा गया है। प्रस्तुत काव्य का मुख्य उद्देश्य अपने समय के राजा कुमारपाल के चरित का वर्णन करना है । इस काव्य में २० सर्ग हैं जिनमें चौलुक्यवंशीय राजाओं का चित्रण हुआ है ।

इस काव्य की भाषा सरल एवं प्रसाद गुण सम्पन्न है क्योंकि कवि ने यद्यपि भट्टि महाकाव्य के समान अपने सिद्ध हेमशब्दानुशासन के उदाहरणों का प्रयोग किया

---

१. शान्तिनाथ चरित प्रशस्ति, श्लोक १० ।
२. जिनरत्नकोश पृ० ३८ , हेम चन्द्राचार्य ज्ञान मन्दिर प्रति ४६/८६५ ।
३. जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर सं० १९७३, जिन रत्नकोश पृ० ३७९, बिब्लियो० इण्डिका । इसका गुजराती अनुवाद जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से सं० २००३ में प्रकाशित हो चुका है ।
४. जिन रत्नकोश पृ० ३७९, जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास पृ० ५१६, जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर १९११, गुजराती अनुवाद भावनगर सं० १९७८ में प्रकाशित ।
५. अभय तिलक गणि विरचित सं टी० सहित बम्बई संस्कृत एवं प्राकृत सीरीज १९१५ एवं १९२१ ई० में दो भागों में प्रकाशित ।

है किन्तु फिर भी ऐतिहासिक कथानकों में रोचकता, मधुरता और काव्योचित भाव-प्रवणता की कमी नहीं है। यथा—

धाराप्रविष्टमथ कौलटिनेयबुद्धया प्राक्चाटकैरभिव चटकारिपक्षी।
जग्राह मालवपतिं युधि नर्तितासि नाटेरकः सपुलकश्चुलुकप्रवीरैः ॥[1]

इस काव्य के अतिरिक्त चरित्र सुन्दर गणि (चरित्र भूषण) ने १५वीं शताब्दी में 'कुमारपाल चरित' नामक दूसरे महाकाव्य की रचना की।[2] जिस महाकाव्य में भी महाकाव्योचित लक्षणों का पूर्णरूपेण निर्वाह हुआ है।

धन्यकुमार चरित –इस काव्य की रचना गुणभद्र द्वितीय ने १२वीं शताब्दी में की। गुणभद्र नाम के अठारह मुनियों का उल्लेख दिगम्बर शाखा में प्राप्त होता है किन्तु संस्कृत काव्य के निर्माता के रूप में दो नाम ही उल्लेखनीय हैं। प्रथम गुणभद्र आचार्य जिनसेन के शिष्य थे जिन्होंने 'उत्तर पुराणचरित' एवं 'जिनदत्तचरित' नामक दो ग्रन्थों का प्रणयन किया। द्वितीय गुणभद्र माणिक्यसेन के प्रशिष्य और नेमिसेन के शिष्य थे। इन्होंने 'धन्यकुमार चरित' नामक काव्य की रचना की। डॉ० ज्योति प्रसाद जैन ने इनका समय बारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण बताया है।[3]

इस काव्य की कथावस्तु का आधार 'उत्तर पुराण' है तथा इसकी एक प्रति आमेर शस्त्र भण्डार जयपुर तथा दूसरी प्रति दि० जैन मन्दिर दिल्ली में है। अभी तक यह ग्रन्थ अप्रकाशित है।

सनत्कुमार चरित—इस उत्कृष्ट काव्य की रचना जिनपाल उपाध्याय ने भक्ति भावना से प्रेरित होकर की है। कवि का स्वयं कथन है—

किमपि चरितमित्थं तुर्यचक्राधिनेतुः
सुकृतकृति फलाविर्भावकं देहभाजाम्।
व्यरचि लसद तुच्छोत्साहतस्तद्गुणौघ
ग्रथन सलिल केली कौतुकित्वान्मयैतत् ॥[4]

काव्य के अन्त में दी गयी प्रशस्ति के अनुसार जिनपाल गणि चन्द्रकुल की प्रवरवज्र शाखा के मुनि तथा खरतर गच्छ के संस्थापक जिनेश्वर सूरि की परम्परा में जिनपति सूरि के शिष्य थे। खरतर गच्छ की वृहद गुर्वावली के अनुसार जिनपाल ने सं० १२ ५ में दीक्षा ग्रहण की थी।[5] सं० १२६९ में उन्हें अपने गुरु द्वारा उपाध्याय

---

१. द्वयाश्रय महाकाव्य १४/७२।
२. जैन आत्मानन्द सभा भावनगर सं १९७३, जिन रत्नकोश पृ० ९२।
३. जैन सन्देश (शोधांक ८) २८ जुलाई १९६० ई०, पृ० २७६ तथा जैन सन्देश (शोधांक ७), १० अक्टूबर १९६३ ई०।
४. सनत्कुमार चरित २४/११२।
५. खरतर गच्छ वृहद गुर्वावली, सम्पादक मुनि जिन विजय पृ०, ४४।

पद प्राप्त हुआ तथा सं० १२७३ में पं० मनोजानन्द को हराकर उन्होंने नगर कोट के राजा पृथ्वीचन्द्र से 'जयपत्र' प्राप्त किया। जिनपाल उपाध्याय का स्वर्गवास सं० १३११ में हुआ।[1] 'अभयकुमार चरित' (सं० १३१२) के रचयिता चन्द्र तिलक गणि को जिनपाल उपाध्याय ने धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ाया था।[2] जिसका उल्लेख चन्द्र तिलक उपाध्याय ने स्वयं अभयकुमार चरित की प्रशस्ति में किया है—

सम्यगध्याप्य निष्पाद्य यश्चान्तेवासिनो बहून्।
चक्रे कुम्भ ध्वजारोपं गच्छ प्रासाद मूर्द्धनि ॥
श्री जिन पालोपाध्याय मौलेस्तस्यास्य सन्निधौ।
मयोपादायि नंद्यादि मूलागमाङ्ग वाचना ॥
श्री जिन पालोपाध्याय कृतां त्रिः प्रेरणामहम्।
चरित्रकरणे प्रापं सरस्वत्युपदेशवत् ॥[3]

श्री मोहनलाल दलीचन्द के अनुसार जिनपाल उपाध्याय ने सं० १२६२ में 'षट्स्थानकवृत्ति' और उसके पश्चात् 'सनत्कुमार चरित' महाकाव्य की रचना की अतः स्पष्ट है कि 'सनत्कुमार चरित' की रचना १२६२ के बाद हुई।

प्रस्तुत महाकाव्य में २४ सर्ग हैं जिनमें सनत्कुमार चक्रवर्ती का चरित्र मनोहर शैली में वर्णित है। काव्य का कथानक सुगठित एवं व्यवस्थित है तथा परस्पर घटनाओं की सम्बद्धता के कारण कथानक में अविच्छिन्नता एवं धारावाहिकता की कमी नहीं है। आलङ्कारिकों द्वारा निर्दिष्ट समस्त महाकाव्योचित लक्षणों का सफल निर्वाह प्रस्तुत महाकाव्य में हुआ है।

पाण्डवचरित—इस महाकाव्य[4] की रचना देवप्रभ सूरि ने हर्षपुरीय गच्छ मुनिचन्द्र सूरि के शिष्य देवानन्द सूरि के अनुरोध से की। सम्पादकों के अनुसार इसका रचना-काल वि० सं० १२७० है।[5]

इस महाकाव्य में १८ सर्ग हैं तथा इसका कथानक लोक-प्रसिद्ध पाण्डवों के चरित्र पर आधारित है। जैन महाकाव्य होने के कारण नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन भी इस महाकाव्य में हुआ है। प्रस्तुत महाकाव्य में लगभग आठ हजार श्लोक हैं किन्तु भाषा-शैलीगत प्रौढ़ता एवं उदात्त कवित्व कला का अभाव है। कवि ने इस अभाव को दूर करने के लिये अनेक अलङ्कारों का प्रयोग किया है। अतएव

---

१. खरतर गच्छ वृहद गुर्वावली, सम्पादक मुनि जिन विजय पृ०, ५ ।
२. अभय कुमार चरित प्रशस्ति, श्लोक ३८-४०।
३. वही।
४. काव्यमाला सिरीज, बम्बई १९११, जि० र० को० पृ० २४२।
५. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (मो० द० देसाई, में पाण्डव चरित का रचना-काल सं० १२७० के लगभग माना गया है।

अलङ्कारों की छटा दर्शनीय है । इसके साथ ही पाण्डवचरित एक धार्मिक काव्य है, इसलिए अनेक स्थलों पर धार्मिक उपदेशों की योजना भी हुई है ।

मल्लिनाथ चरित[1]—इस महाकाव्य के रचयिता विनयचन्द्र सूरि हैं । काव्य के अन्त में दी गयी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इस महाकाव्य की रचना रविप्रभ सूरि के शिष्य नरेन्द्रप्रभ तथा नरसिंह सूरि के अनुरोध से हुई और इस महाकाव्य का संशोधन कनकप्रभ सूरि के शिष्य प्रद्युम्न सूरि ने किया ।[2]

यह एक 'विनयाङ्कित' महाकाव्य है । इसमें आठ सर्ग हैं । सर्गों का नामकरण वर्ण्य-विषय के आधार पर हुआ है । इस महाकाव्य में मूल कथा के साथ अनेक अवान्तर कथाओं की योजना भी हुई है जिसके परिणामस्वरूप कथानक में शिथिलता दृष्टिगोचर होती है । प्रथम से तृतीय सर्ग तक कथा में प्रवाह है किन्तु चतुर्थ सर्ग से कथा की गति मन्द हो जाती है तथा उत्तरोत्तर शिथिल होती जाती है । श्वेताम्बर जैन मान्यता के अनुसार इस काव्य में मल्लिनाथ को स्त्री माना गया है ।

इस महाकाव्य की भाषा प्रसादगुणमयी, सरल एवं भावपूर्ण है । कवि को अपनी भाषा पर अच्छा अधिकार है । प्रसङ्ग के अनुसार भाषा में यदि एक ओर मधुरिमा एवं स्निग्धता है तो दूसरी ओर ओजपूर्णता एवं गम्भीरता है । जनप्रचलित लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का प्रयोग भी कवि की अपनी विशेषता है । अलङ्कार योजना में भी कवि को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है ।

इस रचना के अतिरिक्त शुभवर्धन गणि,[3] भट्टा० सकल कीर्ति[4] और भट्टा० प्रभाचन्द्र[5] कृत 'मल्लिनाथ चरित' महाकाव्य का उल्लेख भी प्राप्त होता है ।

मुनिसुव्रत चरित—आठ सर्गों में विभक्त 'विनय' शब्दाङ्कित प्रस्तुत महाकाव्य[6] श्री विनयचन्द्र सूरि की रचना है । इसमें मुनि सुव्रत स्वामी के चरित्र का वर्णन किया गया है । अवान्तर कथाओं की बहुलता के कारण कथानक में शिथिलता दृष्टिगोचर होती है । यद्यपि इसमें अनेक पात्र हैं, किन्तु मुनि सुव्रत के चरित्र का ही विकास हो सका है । कवि प्रकृति वर्णन के प्रति उदासीन है किन्तु जैन महाकाव्य होने के कारण जैन धर्म के नियमों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रमुखता से हुआ है ।

---

१. पण्डित हरगोविन्ददास एवं बेचरदास द्वारा सम्पादित तथा धर्माभ्युदय प्रेस बनारस (वीर निर्वाण सं० २४३८) द्वारा प्रकाशित ।

२. प्रशस्ति श्लोक—६ ।

३. हीरालाल हंसराज, जामनगर १९३० ।

४. जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता सं० १९९७, हिन्दी गजाधर लाल शास्त्री । इसकी प्राचीन ह० लि० प्रति सं० १५१५ की मिलती है ।

५. जिन रत्नकोश पृ० ३०३ ।

६. लब्धिसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, छाणी (बड़ौदा) वि० सं० २०१३ जिन रत्नकोश पृ० ३११ ।

कवि को अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार है। भाषा को सजाने के लिए अनेक सूक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग किया गया है जिसके परिणामस्वरूप भाषा में सजीवता एवं भावमयता आ गयी है। संस्कृत काव्य होने पर भी इसमें यत्र-तत्र प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

नेमिनाथ चरित—इस महाकाव्य के रचयिता तपागच्छ के हरिविजय सूरीश्वर के पट्टधर कनक विजय पण्डित के प्रशिष्य और वाचक विवेक हर्ष के शिष्य गुण विजयगणि हैं। ग्रन्थ के अन्त में दी गयी प्रशस्ति के अनुसार उन्होंने इस काव्य की रचना जीत विजयगणि के अनुरोध से की थी।

इस महाकाव्य में नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन किया गया है। इस वर्णन में उनके पूर्व के नव भवों का वर्णन है। इसके साथ ही नेमिनाथ और राजीमती का नव भवों से उत्तरोत्तर आदर्श प्रेम, राजीमती के साध्वी जीवन, नेमिनाथ की बालक्रीडाएँ, दीक्षा, केवल ज्ञान तथा मोक्ष गमन का सुन्दर चित्रण भी इस महाकाव्य में हुआ है।

गुण विजयगणि की इस रचना के अतिरिक्त अन्य अप्रकाशित नेमिचरितों का उल्लेख भी मिलता है जिनमें तिलकाचार्य, नरसिंह, भोज सागर, हरिषेण, मंगरस तथा मल्लि भूषण के शिष्य ब्रह्मनेमिदत्त का नाम प्रमुख है।[१] ब्रह्मनेमिदत्त की कृति का नाम 'नेमि निर्माण काव्य' तथा 'नेमिपुराण[२]' भी है जिसका रचना काल सं० १६१३ है। इस महाकाव्य में १६ सर्ग हैं तथा कवि ने अपने को मूलसंघ सरस्वती गच्छ का माना है।

श्रेणिक चरित—इस महाकाव्य[३] की रचना लघु खरतर गच्छ के संस्थापक तथा चन्द्रगच्छीय जिनेश्वर सूरि के प्रशिष्य और जिनसिंह सूरि के शिष्य जिनप्रभ सूरि ने की। जिनप्रभ सूरि मुस्लिम शासक मुहम्मद तुगलक के समकालीन थे तथा उसके द्वारा बहुत सम्मानित भी हुए थे। महाकाव्य की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उन्होंने सं० १३५६ वि० में इस महाकाव्य की रचना दयाकर मुनि की प्रार्थना पर की थी—

स्कन्दास्येषुकृशानुशीतगुमिते संवत्सरे वैक्रमे
बालेन्दु प्रतिपत्तिथौ विषगते सम्पूर्णमेतच्छनौ।
आदर्शे व्यधितो दयाकर मुनिः काव्यप्रियोऽस्यादिमम्
आरम्भेऽस्य निमित्तभावमभजत्तस्यैव चाभ्यर्थनात् ॥[४]

---

१. जिन रत्नकोश पृ० २१७-१८।

२. इसका अनुवाद पं० उदयलाल कासलीवाल ने किया है—दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत, सं० २०११।

३. जिन रत्नकोश पृ० १८६ और ३६६, जैन धर्म विद्या प्रसारक वर्ग पालिताना से केवल प्रथम सात सर्ग प्रकाशित, शेष ग्यारह सर्ग अब भी अप्रकाशित।

४. श्रेणिक चरित—प्रशस्ति श्लोक २।

'श्रेणिक चरित' महाकाव्य में अठारह सर्ग हैं, किन्तु कथानक का क्रमिक विकास लक्षित नहीं होता। महाकाव्य के प्रारम्भिक ग्यारह सर्गों में जिनेश्वर और उनके उपदेशों की प्रधानता है। ये सर्ग धार्मिक वातावरण से परिपूर्ण हैं किन्तु बाद के सर्गों में कथानक एकदम मुड़ जाता है। इन सर्गों में देव द्वारा दिये गये हार के खो जाने और उसकी तत्परता से खोज का वर्णन किया गया है तथा महाकाव्य के अन्तिम सात सर्गों में धार्मिक वातावरण का अभाव है। इस महाकाव्य का दूसरा नाम 'दुर्गवृत्तिद्वयाश्रय महाकाव्य' भी है।

महाकाव्य की दृष्टि से यह एक सफल रचना है। धीरोदात्त गुण-सम्पन्न महाराज श्रेणिक इसके नायक हैं। इस महाकाव्य का अङ्गी रस शान्त है किन्तु अङ्ग के रूप में अन्य रसों की भी योजना हुई है। इस महाकाव्य में उदात्त भाषा-शैली, प्रौढ़ कवित्व कला, गम्भीर पाण्डित्य, उच्च आदर्श एवं मानव जीवन की विविधता के दर्शन भी प्राप्त होते है। 'श्रेणिक चरित' को महाकाव्य की श्रेणी में रखा गया है। कवि की स्वयं स्वीकारोक्ति है—

इति श्री जिनप्रभ सूरि विरचिते दुर्गवृत्तिद्वयाश्रय महाकाव्ये चतुर्मुनिचरित्र-लाभवर्णनो नाम अष्टादशः सर्गः ॥[1]

श्रेयांसनाथ चरित—इस महाकाव्य[2] की रचना मानतुङ्ग सूरि ने सं० १३३२ में की।[3] मानतुङ्ग सूरि चन्द्रगच्छीय रत्नप्रभ सूरि के शिष्य थे। इस महाकाव्य में उन्होंने ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के चरित्र का वर्णन किया है। महाकाव्य का आधार देवभट्टाचार्य विरचित प्राकृत 'श्रेयांसनाथ चरित' है। इस महाकाव्य में १३ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग का नाम वर्ण्य विषय के आधार पर किया गया है। काव्य-शास्त्रीय परम्परा के अनुसार प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है तथा सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन किया गया है। प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में सम्पूर्ण सर्ग के कथानक को प्रस्तुत करना 'श्रेयांसनाथ चरित' महाकाव्य की अपनी विशेषता है।

इस महाकाव्य की भाषा सरल तथा वैदर्भी रीति से युक्त है। इसमें पग-पग पर अनुप्रास मण्डित पदविन्यास उपलब्ध होता है। मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों का इस चरित की भाषा में अभाव है। सादृश्यमूलक अलङ्कारों में उत्प्रेक्षा और रूपक का प्रयोग इस चरित में अधिक हुआ है।

---

१. श्रेणिक चरित—पुष्पिका अठारहवें सर्ग की।
२. जिन रत्नकोश, पृ० ४००, जैन आत्मानन्द सभा भावनगर।
३. श्रेयांसनाथ चरित, प्रशस्ति श्लोक १२।

इस रचना के अतिरिक्त भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति (सं० १७२२-३३) कृत श्रेयांसनाथ चरित नामक दूसरी रचना का भी उल्लेख मिलता है ।[१]

अभयकुमार चरित—इस महाकाव्य[२] की रचना कवि चन्द्र तिलक ने वि० सं० १३१२ में की ।[३] शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणों से समन्वित इस महाकाव्य का विभाजन १२ सर्गों में किया गया है । महाकाव्य की शैली पौराणिक है किन्तु कथा अस्त-व्यस्त एवं जटिल है क्योंकि स्थान-स्थान पर अनेक नवीन अवान्तर कथाओं की योजना हुई है और इन अवान्तर कथाओं का सम्बन्ध बहुत दूर जाकर मूल कथा से जुड़ता है । हाँ इतना सत्य है कि कवि द्वारा वर्णित कथावस्तु अत्यन्त रोचक है तथा महाकाव्य की भाषा मुहावरेदार है । उदाहरणार्थ कुछ सूक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

यथैकः पतितः कूपे पतेत्किं परोऽपि हि । —५/४४२

करगे हि कंकणे किं दर्पणेनेह भवेत्प्रयोजनम् । —४/३६४

भुजंगानां प्रयातानि जानन्ति भुजगाः खलु । —७/६६३

कुमारपाल चरित—इस महाकाव्य के रचयिता हेमचन्द्र सूरि हैं । यह एक ऐतिहासिक महाकाव्य है । जैन काव्यों के प्रेरक धार्मिक राजा, राजमन्त्री, गुरु या श्रद्धालु श्रावक रहे हैं । अमरचन्द्र, बालचन्द्र, उदय प्रभ, माणिक्यचन्द्र और नयचन्द्र आदि कवियों की राजदरबार में पर्याप्त प्रतिष्ठा थी । जयसिंह कुमारपाल की राजसभा में आचार्य हेमचन्द्र सूरि को पर्याप्त सम्मान प्राप्त था । गुजरात का यह चौलुक्य नरेश वैसे तो शैवधर्मी था किन्तु आचार्य हेमचन्द्र और तत्कालीन अनेक जैन धनिकों और विद्वानों के कारण उसने जैन धर्म और उसके सिद्धान्तों को समझने, उनका अनुसरण करने एवं प्रचार करने में बड़ा ही योगदान दिया था । इसीलिए जैन विद्वानों ने इसके चरित को लेकर महाकाव्य, लघुकाव्य, नाटक, प्रबन्ध तथा कथा-ग्रन्थ लिखे हैं । प्रस्तुत 'कुमारपाल चरित' में तत्कालीन गुजरात का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास प्रामाणिकरूप से निबद्ध किया गया है । जैन कवि राजाश्रय प्राप्त होने पर भी धन की कामना से निस्पृह थे । इसीलिए उन्होंने चाटुकारिता की प्रवृत्ति के बिना ही यथार्थ घटनाओं का चित्रण किया है जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है ।

---

१. जिन रत्नकोश, पृ० ४०० ।
२. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर १९१७ ई० ।
३. चक्षुः शीतकरत्रयोदशमिते (१३१२) संवत्सरे विक्रमे ।
काव्यं भव्यतमं समर्थित मिदं दीपोत्सरे वासरे ।।
—अन्तिम प्रशस्ति श्लोक ।

जगडूचरित—इस महाकाव्य[1] में प्रत्येक सर्ग के अन्त में दी गयी पुष्पिका से ज्ञात होता है, कि इसके रचयिता धनप्रभ सूरि के शिष्य सर्वानन्द हैं। इस महाकाव्य में सात सर्ग हैं। श्री मोहनलाल दलीचन्द्र देसाई के अनुसार इस महाकाव्य का रचनाकाल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी है।[2] जगडूचरित एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसमें निम्नलिखित तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है—

१—वि० सं० १३१२ से १३१५ तक गुजरात में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था तथा उस भीषण दुर्भिक्ष में भूख से मरते हुए प्राणियों को जगडू शाह ने बचाया था। इस दुर्भिक्ष में वीसलदेव जैसे प्रतापी राजाओं के पास भी अन्न नहीं था।

२—इस समय गुजरात में वीसलदेव, मालवा में मदन वर्मा और काशी में प्रताप सिंह शासन करता था।

३—वि० सं० १३१२ से १३१५ तक गुजरात में समुद्री व्यापार उन्नति पर था। भारतीय जहाज समुद्रपार देशों में जाते थे।

४—वीसलदेव के दरबार में सोमेश्वर आदि प्रमुख कवि रहा करते थे।

ऐतिहासिक महाकाव्य होने पर भी प्रस्तुत महाकाव्य में रमणीयता की कमी नहीं है। कवि कल्पना में शेषनाग भद्रेश्वर नगर की रक्षा हेतु दुर्ग के रूप में कुण्डली बनाये हुए स्थित हैं—

यत्रश्रियं त्रातुमिवाहिराजः पातालमध्यात्परिखामिषेण।
आविर्बभूवोत्तादुर्गं दम्भान्निरन्तरं कुण्डलितोरुकायः ॥[3]

इसी प्रकार कवि द्वारा प्रस्तुत भ्रान्तिमान अलङ्कार की योजना भी दर्शनीय है—

नानारत्नमयालयद्युतिमरे जम्भारिचापभ्रमं।
विभ्राणे मरुधूपधूमनिवहे व्योम्न्यभ्ररूपे सति।
अश्रान्तं मधुरे मृदङ्गनिनदेऽप्युज्जृम्भमाणे पुन-
र्नृत्यं यत्र वितेनिरेऽपि शिखिनः क्रीडानस्थायिनः ॥[4]

अर्थात् भद्रेश्वर नगर के भवनों में नाना रत्नों की द्युति के कारण इन्द्रधनुष का भ्रम, अगरु धूप के धूम्र के कारण पयोधरों का भ्रम तथा गीत-नृत्य के अवसर पर सम्पन्न होने वाले मृदंग निनाद से मेघ-गर्जन का भ्रम उत्पन्न होने से मयूर भ्रमित हो नृत्य करने लगते हैं।

---

१. आत्मानन्द जैन सभा अम्बाला सिटी १९२५ ई०।
२. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ४३४।
३. जगडूचरित २/२।
४. वही, २/१७।

इतर नामान्त महाकाव्य

इतर नामान्त महाकाव्य से अभिप्राय उन महाकाव्यों से है जिनके अन्त में 'चरित' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। यद्यपि इन महाकाव्यों में भी तीर्थंकर या महापुरुषों के चरित का वर्णन किया गया है फिर भी कुछ विशेषताओं के कारण ये महाकाव्य चरित नामान्त महाकाव्य से पृथक् हो जाते हैं। चरित नामान्त महाकाव्यों का मुख्य उद्देश्य जहाँ एक ओर चरित प्रतिपादित कर चारित्रिक अभ्युत्थान प्रदर्शित करना है वहीं दूसरी ओर इतर नामान्त महाकाव्यों का लक्ष्य अलंकृत शैली के महाकाव्य गुणों का प्रस्तुतीकरण करना है। इस प्रकार इतर नामान्त महाकाव्यों को हम शास्त्रीय महाकाव्य भी कह सकते हैं। अब प्रस्तुत अध्याय में कुछ प्रमुख इतर नामान्त महाकाव्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य—इस महाकाव्य[1] की रचना कवि हरिश्चन्द्र ने ई० सन् की १०वीं शती में की। इसमें २१ सर्ग हैं जिनमें पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ के जीवनचरित का वर्णन किया गया है। महाकाव्य का आधार आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर पुराण का ६१वाँ पर्व है। इस महाकाव्य में शास्त्रीय महाकाव्य के समस्त लक्षण विद्यमान हैं। महाकाव्य की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ एवं परिमार्जित है। कवि को भाषा पर असाधारण अधिकार है। इसीलिए वाक्यों में शब्द यथास्थान जड़े हुए प्रतीत होते हैं। कवि ने प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपने को महाकवि और अपने काव्य को महाकाव्य कहा है—

इति महाकविहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये प्रथमः सर्गः[2]।

नेमिनिर्वाण महाकाव्य—इस महाकाव्य[3] की रचना महाकवि वाग्भट प्रथम ने की। वाग्भट प्रथम का समय दसवीं शताब्दी है। उन्होंने इस महाकाव्य में बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवनचरित का वर्णन किया है। महाकाव्य की कथावस्तु का आधार कवि जिनसेन प्रथम द्वारा रचित हरिवंश पुराण है किन्तु कवि ने अनेक स्थलों पर परिवर्तन किये हैं। यथा अरिष्टनेमि की जन्म-तिथि श्रावण शुक्ल षष्ठी बतायी गयी है जिसका 'हरिवंश पुराण' से मेल नहीं बैठता है।[4] 'उत्तर पुराण' में उसी तिथि का उल्लेख हुआ है।[5] किन्तु जीवन वृत्त हरिवंश पुराण के समान प्राप्त होता

---

१. निर्णयसागर, बम्बई, १६३३ ई०।
२. धर्मशर्माभ्युदय, पुष्पिका-प्रथम सर्ग।
३. नेमिनिर्वाणम्, सं० शिवदत्त शर्मा और काशीनाथ शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १६३६ ई०।
४. शुद्ध वैशाखजत्रयोदशतिथौ हरिवंश पुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी १६६२।
५. श्रावणे सिते षष्ठ्यां...उत्तर पुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी १६५४ ई०। ७१/१६६-७०।

है । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने महाकाव्य की रचना करने के पूर्व 'हरिवंशपुराण', 'उत्तर पुराण' तथा 'तिलोयपण्णत्ति' जैसे जैन ग्रन्थों का अध्ययन किया था ।

इस महाकाव्य की भाषा अत्यन्त सरस है । किन्तु कवि ने कुछ ऐसे छन्दों का प्रयोग किया है जिनका कालिदास, भारवि, माघ आदि न तो पूर्ववर्ती कवियों ने ही प्रयोग किया है और न वीरनन्दि, हरिश्चन्द्र आदि परवर्ती कवियों ने । यथा—चण्डवृष्टि । इस महाकाव्य में नायिका के नख-शिख का वर्णन अन्य महाकाव्यों की भाँति प्राप्त नहीं होता । यह कवि के काव्य की अपनी विशेषता है ।

नरनारायणानन्द महाकाव्य—इस महाकाव्य[१] की रचना महाकवि वस्तुपाल ने ईसा की तेरहवीं शताब्दी में की । ये राजा वीर धवल तथा उसके पुत्र वीसलदेव के महामात्य थे । तत्कालीन साहित्य में इनकी प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की गयी है ।[२]

कवि वस्तुपाल का जन्म अनहिलवाड़ के एक शिक्षित परिवार में हुआ था । इनके पिता का नाम अश्वराज तथा माता का नाम कुमार देवी था । विजयसेन सूरि इनके गुरु थे ।[३] हरिहर, सोमेश्वर तथा अन्य कवियों ने इनका उपनाम वसन्तपाल रखा था ।[४] इसीलिए बालचन्द्र ने इनके जीवन से सम्बन्धित अपने काव्य का नाम 'वसन्त विलास' रखा है ।

नरनारायणानन्द महाकाव्य का आधार महाभारत है जिसमें कवि ने सुभद्राहरण के मार्मिक प्रसङ्ग को ग्रहण कर काव्य की रचना की है । काव्य में

---

१. नरनारायणानन्द महाकाव्यम्, सं० सी० डी० दलाल और आर० अनन्त कृष्ण शास्त्री, प्र० सेन्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा, सन् १९१६ ई० ।

२. (क) गिरनार के शिलालेख में—'धर्म सूनुः सरस्वत्याः' और 'शारदा प्रतिपन्न-पत्य', 'महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन' ले० डा० भोगीलाल सांडेसरा, प्र० जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी सन् १९५९ ई०, पृ० ५५ ।

(ख) वस्तुपाल यशोवीरौ सत्यं वाग्देवता सुतौ ।
एकोदान स्वभावोऽभूदुभयोरन्यथा कथम् ॥
—कीर्तिकौमुदी सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन बम्बई वि० सं० २०१७ ।

३. नागेन्द्रगच्छमुकुटामरचन्द्र सूरिपादाब्जभृंगहरिभद्रमुनीन्द्र शिष्यात् ।
व्याख्यावचो विजयसेनगुरोः सुधाभमास्वाद्य धर्मपथि सत्पथिकोऽभवद्यः ॥
—नरनारायणानन्द १६/३२ ।

४. ख्यातं प्राप वसन्तपाल इति यो नामाद्वितीयं मुदा ।
विद्वद्भिः परिकल्पितं हरिहर श्रीसोमशर्मादिभिः ॥
—नरनारायणानन्द १६/३८ ।

आद्योपान्त श्रीकृष्ण और अर्जुन की प्रीति का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस महाकाव्य में १६ सर्ग हैं। अन्तिम सर्ग में कवि ने अपना, अपनी वंश-परम्परा तथा अपने गुरु का परिचय दिया है। मूल कथानक से इस सर्ग का कोई सम्बन्ध नहीं है।

भाषा, रीति, गुण, अलंकार एवं छन्द-योजना की दृष्टि से भी यह एक भव्य एवं प्रौढ़ काव्य है। कवि को भाषा पर असाधारण अधिकार है। इनकी भाषा की प्रमुख विशेषता प्रसंग के अनुकूल रूप-परिवर्तन की क्षमता है।

वसन्तविलास महाकाव्य—इस महाकाव्य[1] की रचना महाकवि बालचन्द्र सूरि ने की। इसमें १४ सर्ग हैं जिसमें धौलका (गुजरात) के राजा वीर धवल के प्रसिद्ध अमात्य वस्तुपाल के जीवन-चरित का वर्णन किया गया है। इसमें कुल मिलाकर १०२१ पद्य हैं जिनकी संख्या अनुष्टुप मान से १५१६ हो जाती है। महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में वस्तुपाल के पुत्र जैत्रसिंह की प्रशंसा की गयी है क्योंकि उन्हीं के विनोदार्थ[2] इस काव्य की रचना की गयी है।

'वसन्तविलास' महाकाव्य एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। अतः ऐतिहासिक शैली के महाकाव्यों की समस्त विशेषताएँ प्रस्तुत महाकाव्य में प्राप्त होती हैं। यह महाकाव्य तत्कालीन गुजरात के इतिहास पर निश्चय ही पर्याप्त प्रकाश डालता है।

'वसन्तविलास' महाकाव्य की कथावस्तु वैसे तो छोटी है किन्तु उसका महाकाव्योचित ढंग से विस्तार किया गया है। पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में कवि को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। धीरोदात्त गुणों से युक्त सद्वंशोद्भूत वस्तुपाल इसके नायक हैं। कवि मित्रों ने उनका नाम वसन्तपाल भी रखा है। अतः महाकाव्य के चरितनायक वसन्तपाल के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण प्रस्तुत काव्य का नाम 'वसन्तविलास' किया गया है।

'वसन्तविलास' महाकाव्य की भाषा सरल, कोमल और स्वाभाविक है किन्तु कहीं-कहीं उसमें दीर्घ समासयुक्त पदावली का प्रयोग भी हुआ है। अतः ऐसे स्थलों पर भाषा अस्वाभाविक एवं क्लिष्ट हो गयी है।[3] वैसे तो कवि ने भाषा को प्रवाहमयी बनाने के लिए सूक्तियों का प्रयोग भी यत्र-तत्र किया है।[4] भाषा को सजाने के लिए ही विविध अलंकारों की योजना भी प्रस्तुत महाकाव्य में प्रचुर मात्रा में हुई है। महाकाव्य के परम्परागत नियमों के अनुसार अधिकांशतः कवि ने प्रत्येक

---

१. गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला, बड़ौदा १९१७, जिन रत्नकोश पृ० ३४४।

२. श्री वस्तुपालाङ्गभुवो नवोक्ति प्रियस्य विद्वज्जन मज्जनस्य।
श्री जैत्रसिंहस्य मनोविनोदकृते महाकाव्य मुदीर्यतेऽदो॥
—वसन्तविलास, १/७५।

३. वसन्तविलास १०/२६-३०।

४. वही, १०/७,१७ तथा २३।

सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग करके सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन भी किया है किन्तु कुछ सर्गों में विविध छन्दों की योजना भी हुई है। इस प्रकार शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार 'वसन्तविलास' एक सफल महाकाव्य है।

मुनिसुव्रत महाकाव्य—इस महाकाव्य[१] की रचना महान कवि अर्हदास ने चौदहवीं शताब्दी में की। इसमें बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी के जीवन चरित का वर्णन किया गया है। मुनि गुणभद्रकृत उत्तर पुराण पर आधारित यह काव्य दश सर्गों में समाप्त होता है। इस काव्य का दूसरा नाम 'काव्यरत्न' भी है।[२]

'मुनिसुव्रत महाकाव्य' वैराग्यमूलक महाकाव्य है। अतएव इसमें शान्त रस की प्रधानता है किन्तु यत्र-तत्र हास्य और वात्सल्य रस के भी दर्शन होते हैं। इसके साथ ही वीर, रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों का इसमें सर्वथा अभाव है। काव्य की भाषा प्रौढ़ एवं सरस है। कवि ने उसे सजाने के लिए विविध प्रकार के अलङ्कारों का प्रयोग किया है। सर्गों का विभाजन वर्ण्य-विषय के आधार पर हुआ है तथा शास्त्रीय परम्परा के अनुसार प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग है और सर्गान्त में उस छन्द का परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है।

बालभारत महाकाव्य—'वीर' शब्दाङ्कित यह महाकाव्य[३] प्रसिद्ध कवि श्री अमरचन्द्र सूरि की रचना है जिसका प्रणयन उन्होंने तेरहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में किया। यह महाकाव्य १८ पर्वों में विभाजित है। एक पर्व में एक से अधिक सर्ग हैं। कुल सर्गों की संख्या ४४ है। इसमें महाभारत की सम्पूर्ण कथा का वर्णन संक्षेप में किया गया है।

महाकाव्य की दृष्टि से 'बालभारत' एक सफल रचना है। लोक-विश्रुत वीर पाण्डव इसके नायक हैं जिनमें एक धीरोदात्त नायक के समस्त गुण उपलब्ध हैं। सर्गों का नामकरण भी वर्ण्य-विषय के आधार पर किया गया है।[४] पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में भी कवि को सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ—सत्पक्ष के नियन्ता स्वयं भगवान श्रीकृष्ण हैं जिनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य ही सत्पक्ष की स्थापना तथा असत्पक्ष का विनाश है।

इस काव्य की भाषा वैदग्ध्यपूर्ण, परिमार्जित, प्रांजल और प्रवाहमयी है।

---

१. जैन सिद्धान्त भवन, आरा १९२९, जिन रत्नकोश, पृ० ३१२।

२ यद्वर्ण्यते जैनचरित्रमत्र चिन्तामणिर्भव्य जनस्य यच्च।
हृद्यार्थरत्नैकनिधिः स्वयं मे तत्काव्यरत्ना भिधमेतदस्तु ॥
—मुनिसुव्रतकाव्य १/२०।

३. काव्यमाला (संख्या ४५) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १८९४।

४. उदाहरणार्थ आदि पर्व के प्रथम सर्ग का नाम 'आदिवंशावतारो पुरुखप्रभृति-राजचतुष्टय वर्णन है।

इसमें माधुर्य गुण सर्वत्र परिलक्षित होता है तथा कटु शब्दों का इस महाकाव्य में सर्वथा अभाव है । इसीलिए कवि ने स्वयं इसे 'वाणीवेश्म' तथा भाषा रूपी पृथ्वी पर खड़ा किया गया श्रेय और शोभा का भवन कहा है ।[1]

हम्मीर महाकाव्य—'वीराङ्कित' हम्मीर महाकाव्य[2] नयचन्द्र सूरि की ऐतिहासिक रचना है । इसमें रणथंभौर के चौहानवंशी अन्तिम नरेश हम्मीर तथा दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के बीच हुए युद्ध का ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है । इसमें चौदह सर्ग हैं । महाकाव्यीय तत्त्वों की दृष्टि से यह एक उदात्त एवं सशक्त रचना है । पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में कवि को अपूर्व सफलता मिली है । प्राकृतिक चित्रणों की भी कमी नहीं है । हाँ इतना अवश्य है कि युद्ध प्रधान काव्य होने के कारण धार्मिक भावना का अभिव्यक्तीकरण मंगलाचरण के पश्चात् सम्पूर्ण महाकाव्य में कहीं भी नहीं हुआ है । रस योजना की दृष्टि से यह अपने युग का सर्वश्रेष्ठ काव्य है । कवि ने स्वयं ही इस काव्य को 'शृङ्गारवीराद्भुतं' (१४/४३) अर्थात् शृङ्गार, वीर और अद्भुत रस से युक्त कहा है । इसमें सर्वत्र माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण मण्डित शैली का विन्यास किया गया है । सूक्तियों और सुभाषितों का यथा-स्थान प्रयोग भाषा में मोहकता ला देता है । काव्य सौन्दर्य वृद्धि हेतु विविधालङ्कारों की योजना भी हुई है । छन्द प्रयोग में महाकाव्य के छन्दोविधान सम्बन्धी नियमों का प्रायः सर्वत्र पालन किया गया है ।

पद्मानन्द महाकाव्य—'वीराङ्क' चिह्न से विभूषित पद्मानन्द महाकाव्य[3] महाकवि अमरचन्द्र सूरि की रचना है । इसमें आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के जीवन-चरित का वर्णन १९ सर्गों में किया गया है । इस महाकाव्य का निर्माण पद्ममन्त्री की प्रार्थना पर हुआ । अतः पद्म को आनन्दित करने के कारण इसका नाम 'पद्मानन्द' रखा गया । इसके साथ ही इसका दूसरा नाम 'जिनेन्द्र चरित' भी वर्ण्य-विषय के आधार पर रखा गया है तथा सर्गों का नामकरण भी वर्णित कथाओं के आधार पर हुआ है ।

---

१. वाणीवेश्मनि बालभारत महाकाव्ये तदन्तर्द्वंगु-
न्मेष प्रेषणिभासि पर्वदशमं शान्तिं पयौ सौप्तिकम् ।
तदभाषा भुविबालभारतमहाकाव्येऽनुशास्ति क्रमं ॥
—बालभारत, सौप्तिक पर्व, श्लोक-११० ।
श्रेयः श्रीसदनं त्रयोदशमिदं पर्व प्रमेदे शमम् ॥
—बालभारत अनुशासन पर्व, श्लोक-५१ ।

२. संपा० नीलकण्ठ जनार्दन कीर्तने, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १८७९, मुनि जिनविजय द्वारा संपादित, राजस्थान ग्रन्थमाला से प्रकाशित ।

३. पद्मानन्द महाकाव्य-ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा १९३२ ई० ।

'पद्मानन्द' पौराणिक शैली का शान्त रस पर्यवसायी धार्मिक महाकाव्य है। इसकी समाप्ति ऋषभनाथ की मोक्ष प्राप्ति से होती है। भगवान् ऋषभनाथ के पावन चरित्र की विशेषताओं का चित्रण करना ही कवि का मुख्य उद्देश्य है और उसमें उसे पर्याप्त सफलता भी मिली है। प्रकृति-चित्रण भी काव्य में प्रस्तुत किया गया है। सौन्दर्य चित्रण में वाह्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य को अंकित करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। कथानक में तत्कालीन समाज में प्रचलित कतिपय मान्यताओं और रीति-रिवाजों का वर्णन भी यत्र-तत्र हुआ है। इसके साथ ही जैनधर्म के नियमों और सिद्धान्तों का यथास्थान विवेचन कर काव्य को धार्मिक रूप प्रदान किया गया है।

शान्तरस पर्यवसायी काव्य होने के कारण प्रस्तुत काव्य का अङ्गी रस शान्त है किन्तु अङ्ग के रूप में अन्य रसों की भी योजना हुई है। भाषा की दृष्टि से भी अमरचन्द्र सूरि एक कुशल कलाकार हैं। उनकी शैली में वैविध्य के दर्शन होते हैं। नीतिपरक सूक्तियों में कवि की भाषा सरल, प्रसाद गुण युक्त एवं असमस्त पदावली से मण्डित दिखलायी पड़ती है। भाषा को प्रभावशाली बनाने के लिए कवि ने यमक, अनुप्रास आदि शब्दालंकारों तथा उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों की योजना भी की है। काव्य में प्रसाद गुण सर्वत्र व्याप्त है।

नलायनम् महाकाव्य—'नवमंगल' शब्दांकित 'नलायनम् महाकाव्य'[1] कवि माणिक्यदेव सूरि की रचना है। इसमें दश स्कन्ध तथा सौ सर्ग हैं। महाकाव्य का कथानक लोकविश्रुत नल-दमयन्ती के चरित्र से सम्बन्धित है जिसका आधार जैन चरित ग्रन्थ है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महाकाव्य के नायक नल तथा नायिका दमयन्ती के चरित्र का ही विकास हुआ है।

प्राकृतिक चित्रण की दृष्टि से यह एक उच्चकोटि का महाकाव्य है। काव्यकार ने प्रकृति को अलौकिक तथा मानवीकरण दोनों ही रूपों में चित्रित किया है। सौन्दर्य चित्रण में उसने नख-शिख पद्धति का अवलम्बन लेकर दमयन्ती के विभिन्न अवयवों का सौन्दर्यांकन किया है। इसके साथ ही कवि ने समय की रूढ़ियों, परम्पराओं, मान्यताओं तथा रीति-रिवाजों का यत्र-तत्र उल्लेख कर सामाजिक अध्ययन की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है।

इस महाकाव्य का अङ्गीरस शान्त है तथा अंग के रूप में अन्य रसों की भी योजना हुई है। कवि को भाषा पर पूर्ण अधिकार है इसीलिए भाषा उसके संकेतों पर नाचती है। उसमें अनुप्रास और यमक का प्रयोग पग-पग पर मिलता है किन्तु इन अलंकारों का प्रयोग भाषा-सौन्दर्य में वृद्धि का सूचक है। श्रुति सुखद अनुप्रास और यमक के प्रयोग से भाषा प्रवाहयुक्त दिखलायी पड़ती है। महाकाव्यीय

---

१. तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, पृ० ३३९।

परिभाषा के अनुसार एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है और सर्गान्त में छन्द परिवर्तन के नियम का पालन भी किया गया है।

महाकवि अभयदेव तथा उनका 'जयन्तविजय' महाकाव्य

संस्कृत महाकाव्यों की गौरवशाली परम्परा में 'जयन्तविजय' महाकाव्य अपने काव्यात्मक गुणों के कारण विशेष स्थान रखता है। इसके रचनाकार महाकवि अभयदेव सूरि के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में अब तक कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। उनके परिचय का एकमात्र साधन 'जयन्तविजय' के अन्त में दी हुई ग्रन्थकर्ता की प्रशस्ति है। प्रशस्ति में अभयदेव सूरि ने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है। जिसके अनुसार चंद्रवंशरूपी आकाश में सूर्यतुल्य, श्री वर्धमान प्रभु के चरण-कमलों में चञ्चरीक जैसा आचरण करने वाले और चरित्र-वानों में अग्रगण्य श्री सूरि जिनेश्वर जी हुए। गङ्गाजल के प्रवाह के समान जिनके स्वच्छन्द यश समूह ने तीनों लोकों की पवित्रता को ग्रथित किया था—

आसीच्चन्द्रकुलाम्बराम्बरमणिः श्रीवर्धमानप्रभोः
पादाम्भोरुहचञ्चरीकचरितश्चारित्रिणामग्रणीः ।
स श्रीसूरिजिनेश्वर स्त्रिपथगापाथः प्रवाहैरिव
स्वैरं यस्य यशोभरैस्त्रिजगतः पावित्र्यमासूत्रितम् ॥[1]

उन (श्री सूरि जिनेश्वर) से अभयदेव नामक सूरि उत्पन्न हुए जिनके प्रभु पार्श्वनाथ ने स्तम्भन में सन्तोष को प्राप्त किया। जिन्होंने संघ साम्राज्य की वृद्धि के लिए अपार धन को उत्पन्न करने वाली निधि के समान गम्भीर अर्थ को प्रकट करने वाली नवाङ्गी वृत्ति का निर्माण किया—

अभवदभयदेवः सूरिरस्मात्स यस्य
प्रभुरभजत तोषं स्तम्भने पार्श्वनाथः ।
प्रकटित विकदार्थां संघसाम्राज्यवृद्ध्यै
व्यधित निधिसमानां यश्च वृत्तिं नवाङ्ग्याः ॥[2]

उन (अभयदेव सूरि) के शिष्य पृथ्वी रूपी सुन्दरी के देदीप्यमान मस्तक मणि के समान सुन्दर और कोमल यश समूह वाले, शान्ति को भी शान्ति प्रदान करने वाले जिन वल्लभ प्रभु हुए। जिनके दोनों चरण-कमल श्री नरवर्मा नरेश के शिर के अग्रभाग पर धारण किये गये रत्नों के ज्योति पुञ्ज से सदैव पुष्ट होते रहते थे—

---

१. जयन्त प्रशस्ति, १।

२. वही, २।

तच्छिष्यो जिनवल्लभः प्रभुरभूद्विश्वंभराभामिनी-
भास्वद्भाललाम कोमलयशः स्तोमः शमारामभूः ।
यस्य श्रीनरवर्मभूपतिशिरः कोटीररत्नाङ्कुर-
ज्योतिर्जालजलैरपुष्यत सदा पादारविन्दद्वयी ॥[1]

निरन्तर हिम के संसर्ग से उत्पन्न वैराग्य से मानो कश्मीर को छोड़कर सघन सुगन्ध से प्रफुल्लित देवी सरस्वती विकसित गुण सम्पत्ति से परिचित जिन (इन्हीं जिन वल्लभ प्रभु) के मुखकमल में निवास करती हुई प्रवाहपूर्ण निर्मल एवं उत्तम काव्य रचना के बहाने चिरकाल तक नृत्य करती रही ।

कश्मीरानपहाय संततहिम व्यासङ्ग वैराग्यतः
प्रोन्मीलद्गुणसंपदा परिचिते यस्यास्यपङ्केरुहे ।
सान्द्रामोदतरङ्गिता भगवती वाग्देवता तस्थुषी
धारालामलभव्यकाव्यरचना व्याजादनृत्यच्चिरम् ॥[2]

उन (जिन वल्लभ सूरि) से, उनके चरण कमल के भ्रमर तुल्य शान्ति-रूपी कवच से शरीर को आवृत्त किये हुए जिनशेखर नाम के सूरि उत्पन्न हुए । वीरव्रत का आचरण करने वाले जिन्होंने तीनों लोकों की विजय करने में लगे हुए कामदेव को भी जीत लिया था—

भृङ्गस्तदङ्घ्रिकमले जिनशेखराह्वः
सूरिस्ततः प्रशमवर्मितकाययष्टिः ।
जिग्ये जगत्त्रयजय प्रयतोऽपि येन
वीरव्रतं कलयता रतिजीवितेशः ॥[3]

राग के वैराग्य को प्राप्त होने पर, क्रोधरूपी योद्धा के मान रहित होकर शोकग्रस्त हो जाने पर, मान के अभिमान रहित होने पर कपटी वीर लोभ के क्षोभ को प्राप्त होने पर, युद्ध में कामदेव के बाण के संकुचित हो जाने पर, अपनी सेना को दैन्यपूर्ण देखकर विजय की आशा त्यागकर मोहरूपी राजा चुपचाप जिन (जिनशेखर) के पास से दूर भाग गया—

वैराग्यं यातिरागे भजति विधुरतां क्रोधयोधे विमाने
माने नष्टाभिमाने कपटपटुभटेक्षोभमाप्ते च लोभे ।
पञ्चेषौ कुञ्चितेषौ समिति निजमिति प्रेक्ष्य सैन्यं सदीन्यं
मुक्त्वा येषां जयाशां निभृतमपसृतं मोहराजेन दूरम् ॥[4]

१. जयन्त प्रशस्ति, ३ ।
२. वही, ४ ।
३. वही, ५ ।
४. वही, ६ ।

उनके बाद अत्यधिक करुणा वाले, क्षमा से शोभित सुन्दर शरीर वाले, विषय समूह को वश में करने वाले पद्मेन्दु मुनिराज उत्पन्न हुए—

प्रगुणितकरुणः क्षमया विराजितश्चारुविग्रहस्तदनु ।
अजनि वशीकृत विषयग्रामः पद्मेन्दु मुनिराजः ।।[1]

विकसित मालती के समान कान्ति वाली जिन (पद्मेन्दु मुनिराज) की कीर्ति लोकों में भ्रमण करती हुई लक्ष्मी के साथ मैत्री की आकांक्षा से मानो विष्णु की भी कालिमा का अपहरण करती थी ।

उत्फुल्लमल्लीप्रतिमल्लकान्तिः कीर्तिर्भ्रमन्ती भुवनेषु यस्य ।
श्रिया समं सौहृदकांक्षयैव मुष्णाति विष्णोरपि कृष्णभावम् ।।[2]

तीनों लोकों में प्रसिद्ध कीर्तिरूपी लता वाले उन्हीं (पद्मेन्दु मुनिराज) के शिष्य प्रशंसनीय महिमा वाले, सरस्वती की प्रवाहपूर्ण प्रतिमा से विलसित श्री अभयदेव सूरि ने इस 'जयन्तविजय' नामक काव्य की रचना की—

विश्वत्रयप्रथितकीर्तिलतस्य तस्य
शिष्यः प्रशस्य महिमाभयदेवसूरिः ।
काव्यं जयन्त विजयं रचयांचकार
सारस्वतप्रसृमरप्रतिभा विलासः ।।[3]

महाकवि अभयदेव ने किस स्थान को अपने जन्म और तपश्चरण से गौरवान्वित किया । इसकी जानकारी प्राप्त नहीं होती । इसके साथ ही उनके बाल जीवन तथा माता-पिता आदि के सम्बन्ध में भी तथ्य अवगत नहीं होते ।

काल-निर्धारण

महाकवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य के अन्त में जो प्रशस्ति दी है, उसमें जयन्तविजय के रचना काल का निर्देश करके, काव्य के मङ्गलमय भविष्य की कामना की गयी है । अतः कवि के समय के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है । प्रशस्ति में कहा गया है—

दिक्करिकुलगिरि दिनकर (१२७८) परिमितविक्रमनरेश्वर समायाम् ।
द्वाविंशतिशतमानं शास्त्रमिदं निर्मितं जयतु ।।[4]

अर्थात् विक्रम संवत् १२७८ (१२२१ ई०) में बाइस सौ श्लोकों वाला यह 'जयन्तविजय' काव्य-निर्मित होकर जय को प्राप्त करे । अतः स्पष्ट है कि कवि अभयदेव का समय तेरहवीं शती है ।

---

१. जयन्त प्रशस्ति, ७ ।
२. वही, ८ ।
३. वही, ९ ।
४. वही, १० ।

काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण

कवि अभयदेव एक उच्चकोटि के कवि होने के साथ-साथ एक श्रेष्ठ काव्य-शास्त्री भी हैं। सम्भवतः उन्होंने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था इसीलिए वे कान्त प्रबन्ध और रस को महत्त्व देते हुये कहते हैं—

देव्या गिरां लास्यकलाविलासे रसानुगाः कान्तपदप्रबन्धाः।
भवन्ति चक्रेषु महाकवीनां चित्रं तु सर्वत्र कृतप्रचाराः ॥[१]

अतः स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि में रमणीय कलाविलास के लिए रमणीय पद और रस का सन्निवेश अत्यावश्यक है। कोई भी प्रबन्ध तभी सुन्दर और सरस होता है, जब उसमें कान्तपद एवं उचित परिणाम में रस विद्यमान हो।

इससे अनुमान लगाया जा सकता है, कि कवि रस सिद्धान्त का पूर्ण समर्थक है और उनकी यह परिभाषा आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा[२] के अत्यधिक निकट है।

इसके अतिरिक्त कवि ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में काव्य सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किये हैं, वे वस्तुतः मौलिक तो नहीं हैं परन्तु इनके द्वारा उनके सूक्ष्म अध्ययन, विचारशीलता तथा सत्काव्य के सम्बन्ध में उनके आदर्श का परिचय मिलता है। वे आचार्य दण्डी से भी प्रभावित प्रतीत होते हैं।

आचार्य दण्डी ने काव्य में दोषों के साहित्य पर विशेष बल दिया है उनके अनुसार स्वल्प से स्वल्प दोष भी काव्य में उपेक्षणीय नहीं समझा जाना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार शरीर को कुष्ठ रोग का स्वल्प सा दोष भी उसे उपेक्षणीय बना देता है—

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्यादवपुः सुन्दरमपिश्वित्रेणैकेनदुर्भगम् ॥[३]

कवि अभयदेव का भी कथन है—

उद्वासयत्यात्मविरूपशब्दैर्यो दुर्जनः काव्यगृहं निविश्य।
उलूकपक्षीव स दूर एव दोषैकदृष्टिर्विबुधैर्विधेयः ॥[४]

अर्थात् जो दुष्ट कवि अपने बिगड़े हुए शब्दों से काव्यगृह में प्रवेश करके उसे विकृत कर देता है उसे एक मात्र दोषदृष्टा उलूक पक्षी की भाँति बुद्धिमानों को दूर ही रखना चाहिए। अतः कवि अभयदेव की दृष्टि में भी काव्य में दोष उपेक्षणीय नहीं है। उनका स्पष्ट मत है कि सच्चा कवि यशोविलास की प्राप्ति के लिए

१. जयन्तविजय, १/१६।
२. 'वाक्यंरसात्मकं काव्यम्।'—साहित्य दर्पण।
३. काव्यादर्श, १/७।
४. जयन्तविजय, १/१३।

यत्नशील होकर दोषों को उसी प्रकार दूर कर देता है जिस प्रकार सफल वैद्य शरीर के सुख के लिए काँटे को निकाल देता है—

अभ्यर्थितः सोऽपि यशोविलासलास्याय काव्यस्य धुनोति दोषम् ।
समुद्धरत्ये वहि वैद्यराजः शल्यं तनोः सौख्यकृते कृतार्थः ।।[1]

इसके साथ ही कवि अभयदेव उन कवियों का जय-जयकार भी करते हैं जिनके सत्काव्य के अमृत का प्रवाह विस्फारित नेत्रों वाले सुहृज्जनों के द्वारा पान किया जाता है—

जयन्तु सर्वेऽपि कवीश्वरास्ते यदीय सत्काव्य सुधा प्रवाहः ।
विकूणिताक्षेण सुहृज्जनेन निपीयमानोऽप्यतिपुष्यतीव ।।[2]

इस प्रकार उनके ऊपर मम्मट के काव्य लक्षण का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। मम्मट ने 'अदोषौ' और 'सगुणौ' पदों से इसी भाव को व्यक्त किया है।[3]

कवि अभयदेव ने दुष्ट कवियों की निन्दा करते हुए लिखा है—

न दुर्जनस्यानुनयो गुणाय स्वभावदौर्जन्यमलीमसस्य ।
सुगन्धिलक्षैरपि किं सुगन्धी कर्तुं हि शक्यं लशुनं कदापि ।।[4]

अर्थात् स्वभाव से दुर्जनता एवं मलिनतापूर्ण दुर्जन का अनुनय भी गुण के लिए उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार हजारों सुगन्धियों से युक्त लहसुन को सुगन्धित नहीं किया जा सकता।

कवि अभयदेव के मतानुसार वास्तव में वही व्यक्ति कवि कहलाने योग्य है जो कि सरल अर्थात् प्रसाद गुण युक्त काव्य की रचना करने में दक्ष हो।

वे काव्य के सिद्धान्त का निरूपण करते हुए कहते हैं—काव्य वही श्रेष्ठ है जिसके आलोक मात्र से अन्य कवि कविता का प्रणयन करने में समर्थ हो सकें। जिस प्रकार चन्दन वृक्षों की गन्ध के सम्पर्क से वन के समस्त वृक्ष चन्दन बन जाते हैं। उसी प्रकार कवि का सफल काव्य वही है जिसकी सुधामयी उक्तियाँ अन्य कवियों को कवि बनाने में समर्थ हो सकें—

जयन्ति ते सत्कवयो यदुक्त्या बाला अपि स्युः कविता प्रवीणाः ।
श्री खण्डवासेन कृताधिवासाः श्रीखण्डतां यान्त्यपरेऽपि वृक्षाः ।।[5]

---

१. जयन्तविजय, १/१२ ।
२. वही, १/१८ ।
३. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।' —काव्य प्रकाश, सूत्र-१
४. जयन्तविजय, १/१४ ।
५. वही, १/१० ।

इस प्रकार कवि अभयदेव के काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण में पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

कर्तृत्व

कवि अभयदेव की 'जयन्तविजय' एकमात्र रचना है। इसके कर्तृत्व के विषय में किसी प्रकार का सन्देह प्राप्त नहीं होता है। सभी विद्वान् इसे एक स्वर से कवि अभयदेव की कृति मानते हैं। 'जयन्तविजय' महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में कवि अभयदेव का स्पष्टतः नामोल्लेख है।[१] इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के अन्त में दी हुई ग्रन्थकर्ता की प्रशस्ति भी इसी कथन की पुष्टि करती है।[२] डा० वी० राघवन ने '**New Catalogus Catalogorum**' में जयन्तविजय को कवि अभयदेव की रचना माना है।[३] श्रीवरदाचारी,[४] बल्देव उपाध्याय[५], श्री एस० के० डे[६], रामजी उपाध्याय[७] तथा एम० कृष्णमाचारी[८] आदि अनेक संस्कृत साहित्यकारों ने भी 'जयन्तविजय' महाकाव्य के रचनाकार के रूप में कवि अभयदेव का ही उल्लेख किया है। अतः 'जयन्तविजय' कवि अभयदेव की रचना है। इसमें किसी प्रकार के सन्देह का स्थान नहीं है।

ग्रन्थ परिचय

'जयन्तविजय' महाकाव्य की जो प्रति हमें प्राप्त होती है वह निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित है। यद्यपि इसमें यत्र-तत्र श्लोक कुछ खण्डित से प्रतीत होते हैं, किन्तु फिर भी काव्य में प्रवाह की कमी नहीं परिलक्षित होती। महाकाव्य के परिमाण के सम्बन्ध में कवि ने स्वयं 'जयन्तविजय' की प्रशस्ति में उल्लेख किया है—

---

१. 'इति श्वेताम्बर श्रीमदभयदेवाचार्य विरचिते जयन्तविजय नाम्नि महाकाव्ये शब्दाङ्के प्रस्तावनादि निरूपणो नाम प्रथम सर्गः। इसी प्रकार प्रत्येक सर्ग के अन्त में।

२. विश्वत्रय प्रथित कीर्तिलतस्य तस्य शिष्यः प्रशस्य महिमाभयदेवसूरिः।
काव्यं जयन्तविजयं रचयांचकार सारस्वतप्रसृमर प्रतिभाविलासः॥
—जयन्तविजय, प्रशस्ति श्लोक—६

३. **Dr. V. Reghavan, 'New Catalogus Catalogorum'. University of madras P. 209.**

४ **V. Varadachari, A History of Sanskrit literature. P. 86.**

५. आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २६७।

६. **Dr. S. N. Dassgupta and S.K. De, History of Sanskrit literature.**

७. श्रीरामजी उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम भाग।

८. **M. Krishnamachariar, History of Classical Sanskrit literature. P. 197.**

दिक्करिकुलगिरि द्विनकर (१२७८) परिमितविक्रमनरेश्वर समासम् ।
द्वाविंशतिशतमानं शास्त्रमिदं निर्मितं जयतु ।[1]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है, कि काव्य की कुल श्लोक-संख्या २२०० है, किन्तु निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित 'जयन्तविजय' की श्लोक-संख्या केवल १५४८ ही है। कदाचित् कवि ने यह संख्या अनुष्टुप्-परिमाण से दी है।

महत्त्व

इस काव्य में अभयदेव की कल्पना-शक्ति, सौन्दर्य-बोध की क्षमता एवं सहज अनुभावों की सम्प्रेषणीयता प्रकट होती है । कवि ने वनस्थलियों के लता-प्रतान मुकुलित कविताएँ, हरित-श्यामायित सागर तट, अनन्त वनकान्तार, धान की पोत मंजरियों से सुशोभित खेत, कृषक बालाओं का खेतों के प्रति स्नेह, आदर एवं प्रणय के मनमोहक चित्र प्रस्तुत करने में अपनी प्रतिभा का पूरा परिचय प्रस्तुत किया है । दृश्यांकन और भावबोधन में कवि को माघ कवि के समान सफलता प्राप्त हुई है।

संक्षिप्त कथा

प्रथम सर्ग—महाकवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य का विभाजन उन्नीस सर्गों में हुआ है । सर्वप्रथम ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमान तीर्थंकरों की स्तुति के पश्चात् मगध देश का वर्णन हुआ है। इस समृद्धिशाली देश में जयन्ती नाम की नगरी है जो अपनी समृद्धि और वैभव के कारण अमरपुरी के समान सुशोभित थी। इस नगरी में विक्रम सिंह नामक एक महाप्रतापी राजा हुए जिनकी पत्नी का नाम प्रीतिमती था तथा वृहस्पति के समान उनका सुबुद्धि नाम का मन्त्री था।

द्वितीय सर्ग—एक दिन शिशुगज के साथ सरोवर में क्रीडा करती हुई करिणी को देखकर प्रीतिमती को अपनी अपत्यहीनता की स्मृति आ जाती है। फलस्वरूप वह उदास रहने लगती हैं । उनकी उदासी का कारण जानकर राजा विक्रम सिंह प्राणों की बाजी लगाकर भी रानी की इस इच्छा को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

तृतीय सर्ग राजा विक्रम सिंह राजसभा में आकर अपनी प्रतिज्ञा की चर्चा मन्त्री सुबुद्धि से करते हैं। मन्त्री इस प्रतिज्ञा की पूर्ति का साधन 'श्रीपञ्चपरमेष्ठि-नमस्कार मन्त्र' को बताता है । इस नमस्कार का माहात्म्य बताने के लिए वह 'धनावह श्रेष्ठी' का उपाख्यान भी कहता है । नमस्कार-प्रभाव को सुनकर राजा इस व्रत को ग्रहण कर लेते हैं।

---

१. जयन्तविजय, प्रशस्ति श्लोक-१०।

चतुर्थ सर्ग—एक दिन राजा विक्रम सिंह वेश बदलकर नगर में परिभ्रमण करते हैं। वे एक नारी का चीत्कार सुनकर उसी ओर चल देते हैं । मार्ग में एक श्मशानवासी सुर उनका रास्ता रोकता है । नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से राजा युद्ध में उसे परास्त कर देते हैं। सुर द्वारा दीन भाव से प्राणों की भिक्षा माँगे जाने पर राजा उसे छोड़ देते हैं। इस पर प्रसन्न होकर सुर राजा को एक ऐसा मुक्ताहार प्रदान करता है जिसके धारण करने से बन्ध्या स्त्री उदात्त पुत्र उत्पन्न करती है। यहाँ से राजा आगे बढ़ते हैं । कुछ दूर जाने पर देवता को प्रसन्न करने के लिए चीत्कार करती हुई नारी की बलि देने को उद्यत योगी से उनका युद्ध होता है। राजा उस योगी को परास्त करते हैं। विजयी राजा पर वह कन्या मुग्ध हो जाती है। राजा विक्रमसिंह संयम की सीमा का निर्वाह करते हैं।

पञ्चम सर्ग—एक सुर आकर राजा को बताता है कि यह कन्या आपकी पत्नी प्रीतिमती की बहिन है। इसका अनुराग आप में है और यह आपकी पत्नी बनेगी। सुर योगी के वास्तविक स्वरूप पर भी प्रकाश डालता है और बताता है कि राज्य प्राप्ति के लिए अघोरघंट योगी से दीक्षा लेकर इस योगी ने कन्याबलि का उपक्रम किया है । वह (सुर) विक्रम सिंह को उनके पूर्व-जन्म का विवरण भी बताता है।

षष्ठ सर्ग—इसके पश्चात् सुर से कन्या का परिचय पाकर राजा विक्रम सिंह कन्या के पिता जितारि के पास कन्या को साथ लेकर जाते हैं। जितारि सारा समाचार जानकर कन्या का विवाह विक्रमसिंह से कर देता है। नवपरिणीता पत्नी को साथ लेकर राजा जयन्ती नगरी को लौटते हैं और सुर द्वारा प्रदत्त मुक्ताहार प्रीतिमती को देते हैं, जसके प्रभाव से वह गर्भवती होती है । उचित समय पर उसके पुत्र उत्पन्न होता है जिसका नाम जयन्त रखा जाता है । जयन्त बालोचित क्रीडाएँ करते हैं और युवा होने पर उन्हें युवराज बना दिया जाता है।

सप्तम सर्ग—वसन्त ऋतु के पदार्पण करते ही चारों ओर हर्षोल्लास व्याप्त हो जाता है। नवमल्लिका के पुष्पों से वन की शोभा कई गुना बढ़ जाती है। नये पल्लव ताम्रवर्ण की आभा लिये युवकों के हृदय में शृंगार रस की भावना को उत्कृष्ट कर रहे हैं तथा उपवन की शोभा युवक-युवतियों को मदोन्मत्त बना रही है।

अष्टम सर्ग—उपवन में दोला डाला जाता है । इस अवसर पर रमणियों के अनेक प्रकार के कामजन्य विलास दृष्टिगोचर होते हैं। वन विहार के प्रसङ्ग में पुष्पावचय की क्रीड़ा सम्पन्न की जाती है । इसके पश्चात् जल-विहार होता है। यहाँ पर हंस समूह कमल श्रेणियों में छिपकर दिन व्यतीत करते हैं । पक्षियों के झुंड कलरव-स्वागत करते हुए दिखलायी पड़ते हैं।

नवम सर्ग—एक दिन सिंहलभूपति हरिराज का हाथी भाग जाता है और वह मगध की जयन्ती नगरी में चला आता है । विक्रम सिंह को यह भविष्यवाणी सुनायी पड़ती है कि इस हाथी के प्रभाव से युवराज जयन्त खचरेश्वर होंगे । अतः वे उस हाथी को पकड़ने का आदेश देते हैं और हाथी पकड़ लिया जाता है । सिंहल-भूप का दूत हाथी माँगने आता है, किन्तु विक्रम सिंह दैवदत्त गज को वापिस करने से इन्कार कर देते हैं । फलस्वरूप सिंहल भूप हरिराज जयन्ती नगरी पर आक्रमण कर देता है जिसके प्रतिरोध के लिए जयन्त को ससैन्य भेजा जाता है ।

दशम सर्ग—जयन्त और हरिराज के मध्य घनघोर युद्ध होता है । युद्ध में सिंहल भूपति हरिराज मारा जाता है और विजय लक्ष्मी जयन्त को प्राप्त होती है ।

एकादश सर्ग—इसके पश्चात् युवराज जयन्त दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते हैं । वे चतुरङ्गिणी सेना के साथ सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर जाते हैं । इस दिशा में राजाओं से कर वसूलकर उन्हें अपने अधीन बनाते हैं तथा पर्वतीय एवं गोड़ों को अपने बल-पराक्रम से पराजित करते हैं । इसके पश्चात् कलिङ्गराज को पराजित कर, उनके पुत्र को शासन का अधिकारी नियुक्त करते हैं । दक्षिण दिशा के राजा उनका स्वागत करते हैं और बहुमूल्य पदार्थ उपहार में देते हैं । तदनन्तर केरल, पाण्ड्य, कांचीनरेश, कर्नाटक नरेश प्रभृति को अधीन करते हैं । उत्तर दिशा की ओर गमन कर धाराधीश से सम्मानित होकर हूण राजाओं को पराजित करते हैं तथा कामराज से सम्मानित होते हुए अपनी नगरी को लौटते हैं ।

द्वादश सर्ग—एक दिन सेना के मध्य से जयन्त अदृश्य हो जाते हैं जिससे महाराज विक्रम सिंह बहुत विकल हो जाते हैं । विद्याधर नरेश महेन्द्र अपने पुत्र के लिए गगन विलासपुर के राजा पवनगति से उसकी पुत्री कनकवती की याचना करता है पर पवनगति उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर देता है । कनकवती अनुरूप वर की प्राप्ति के लिए शासन देवता की आराधना करती है । प्रसन्न होकर शासन देवता उसके लिए जयन्त का अपहरण करके जिन मन्दिर पर ले जाते हैं । यहाँ जयन्त जिनबिम्बि के दर्शन कर धर्मसूरि की देशना सुनते हैं और श्रावक धर्म स्वी-कार करते हैं ।

त्रयोदश सर्ग—उपवन में जयन्त और कनकवती एक दूसरे को देखकर मुग्ध हो जाते हैं । पवनगति भी कनकवती का विवाह जयन्त के साथ कर देते हैं ।

चतुर्दश सर्ग—जब महेन्द्र चक्रवर्ती को यह ज्ञात होता है कि पवनगति ने उसके पुत्र की उपेक्षा करके अपनी पुत्री का विवाह जयन्त से कर दिया है तो वह पवनगति पर आक्रमण कर देता है । युद्ध में जयन्त की तलवार से महेन्द्र की मृत्यु होती है । जयन्त महेन्द्र पुत्र को करद बनाकर पवनगति के साथ अपने नगर को लौट आते हैं ।

पञ्चदश सर्ग—एक दिन जयन्ती नगरी के उद्यान में सुस्थिताचार्य आते हैं। राजा विक्रम सिंह उनकी वन्दना के लिए जाते हैं। राजा आचार्य की देशना सुनकर बहुत प्रभावित होते हैं। उनका मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है और उन्हें सम्यकत्व प्राप्त होता है। इस सभा में एक विद्वान् का आचार्य के साथ सर्वज्ञ विषय पर विवाद होता है। वह विद्वान् आचार्य के साथ शास्त्रार्थ में पराजित हो जाता है। इसी समय जयन्त आकर पिता को प्रणाम करते हैं जिससे वातावरण में हर्ष की लहर दौड़ जाती है।

षोडश सर्ग—कुछ दिनों के उपरान्त कुमार जयन्त हस्तिनापुर के राजा वैरिसिंह की पुत्री रतिसुन्दरी के स्वयंवर में जाते हैं। वहाँ रतिसुन्दरी जयन्त के गले में वरमाला पहनाती है। विवाह के पश्चात् जयन्त अपनी पत्नी के साथ राजधानी जयन्ती नगरी में लौट आते हैं।

सप्तदश सर्ग—विद्यादेवी जयन्त और रतिसुन्दरी के पूर्वभवों का वर्णन करती हुई बताती है कि वे पूर्वभव में भिक्षा माँगकर निर्वाह करते थे। एक बार उन्होंने भिक्षा में प्राप्त अन्न में से मासोपवास करने वाले मुनि को पारणा करायी। इसी कारण उन्हें इस जन्म में राज्यपद प्राप्त हुआ है।

अष्टादश सर्ग—इसके पश्चात् कवि ने परम्परागत ग्रीष्म, वर्षा और शरद ऋतु का विस्तृत वर्णन किया है। ग्रीष्म में आतप का सन्ताप जितना कष्ट दे रहा था, वर्षा के आते ही वह समाप्त हो गया। शरद् में सभी व्यक्तियों को आनन्द प्राप्त होता है।

एकोनविंशति सर्ग—वैरिसिंह अपने जामाता जयन्त को हस्तिनापुर का राज्य-भार सौंप कर दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। जयन्त हस्तिनापुर से जयन्ती नगरी की ओर प्रस्थान करते हैं। विक्रम सिंह भी जयन्त को राज्य सौंपकर प्रव्रजित हो जाते हैं। जयन्त नीति से प्रजा का पालन और जिनेन्द्र भक्ति का प्रचार करते हैं। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर जिन मन्दिर में पूजा महोत्सव के अवसर पर सौधर्मपति भी आते हैं और जयन्त को अर्धासन प्रदान करते हैं। सर्ग के अन्त में सत्पात्रदानमहिमा सम्बन्धी इस श्लोक के साथ कथानक की समाप्ति होती है—

इत्थं नन्दोपनिषदुदयात्स्वानुभूतप्रभावं
स्तावं स्तावं मुनिवितरणं भक्तिसन्दर्भगर्भम्।
सार्वः सर्वं गुरुरिवजनं तत्र सोत्कण्ठमुच्चैः
कुर्वन्नुर्वीमवनितिलकः श्रीजयन्तः प्रशस्ति ॥[1]

---

१. जयन्तविजय, १६/८६।

द्वितीय अध्याय

'जयन्तविजय' महाकाव्य का महाकाव्यत्व

'जयन्तविजय' महाकाव्य का महाकाव्यत्व

अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने महाकाव्य के सम्बन्ध में अपनी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रतिपादित की हैं।

उनका अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि महाकाव्य के कुछ प्रमुख अंग हैं जिनके अन्तर्गत अन्य समस्त गौण तत्त्वों का समाहार हो जाता है। ये हैं— कथानक, नायक और रस। आचार्य धनञ्जय ने इनका उल्लेख नाटक के पक्ष में किया है। उनके अनुसार नाटक के प्रमुख तीन तत्त्व हैं—वस्तु, नेता तथा रस[1]। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि अलङ्कार शास्त्रियों ने भी इन्हीं तत्त्वों को ध्यान में रखकर महाकाव्य की परिभाषाएँ प्रस्तुत कीं। अतः महाकाव्य की आलोचना करने के लिए इन तीनों अङ्गों की विस्तृत विवेचना आवश्यक है।

कथानक

उद्देश्य—किसी भी काव्य की रचना करने के पीछे कवि का कोई न कोई उद्देश्य छिपा रहता है। साधारणतः कवि काव्य की रचना कीर्ति अथवा अर्थ प्राप्ति के लिए करता है। भामह ने भी काव्य का प्रयोजन कवि के पक्ष में कीर्ति तथा श्रोता के पक्ष में प्रीति बतलाया है।[2] आचार्य मम्मट ने उसकी और विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने इन दो उपर्युक्त उद्देश्यों के अतिरिक्त अर्थ प्राप्ति, व्यवहार ज्ञान, अमंगल का परिहार तथा कान्तासम्मित उपदेश का समावेश भी काव्य के प्रयोजनों में कर दिया है।[3] किन्तु जैन कवि होने के कारण कवि अभयदेव का प्रधान लक्ष्य जयन्त-कथा के सहारे पञ्चपरमेष्ठिनमस्कार मन्त्र की महिमा बताना रहा है। काव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक है। किन्तु कवि ने अपने समय की प्रचलित लोककथाओं को भी महाकाव्य के अन्तर्गत लिया है। क्योंकि कथावस्तु में जोड़े गये अनेक कथानक भी लोक प्रचलित हैं, पर कवि ने उन्हें पौराणिक रूप प्रदान करने का प्रयास किया है। कथावस्तु के निर्वाह में कवि को अपूर्व सफलता भी प्राप्त हुई है।

---

१ वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः।—दशरूपक १-११।

२. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्यनिबन्धनम्।—काव्यालङ्कार १-२।

३. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोऽपदेशयुजे॥—काव्यप्रकाश १-२।

प्रारम्भ—संस्कृत ग्रन्थों के आरम्भ में मङ्गलाचरण की परम्परा रही है। कवि अभयदेव भी ग्रन्थ के आरम्भ में ही अपने इष्ट देवता की प्रार्थना करते हुए ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति हेतु कामना करते हैं। महाकाव्य का प्रारम्भ नमस्कार के अतिरिक्त आशीर्वाद अथवा वस्तु निर्देश से भी होता है जैसा कि आचार्य दण्डी तथा विश्वनाथ ने निर्देश किया है।[1] 'जयन्तविजय' महाकाव्य का मङ्गलाचरण समन्वयात्मक है। मङ्गलाचरण का श्लोक इस प्रकार है—

श्रेयांसि विश्राणयतादजस्रं नाभेयदेवस्य पदाम्बुजं वः।[2]
समस्त सम्पन्मधुबद्धरागा यत्र त्रिलोकी भ्रमरीव भाति ॥

अर्थात् नाभेयदेव का चरण कमल आप लोगों को निरन्तर कल्याण प्रदान करता रहे। जिस चरण कमल में त्रिलोकी सम्पूर्ण सम्पत्ति रूपी मधु में अनुराग लगाये हुए भ्रमरी की भाँति सुशोभित होता है।

यहाँ सज्जनों के आशीर्वादरूप मङ्गलाचरण है। इसके साथ कवि ने अपने इष्ट देव के प्रति नमस्कार भी व्यक्त किया है। नाभेयदेव के चरण कमल में तीनों लोकों का अनुराग होने के कारण हमारा ध्यान उनके प्रति होने वाली त्रिभुवन की भक्ति की ओर आकृष्ट हो जाता है और इसी भक्तिभावना का प्रतिपादन जयन्तविजय का प्रधान लक्ष्य है। अतः यहाँ पर वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण भी माना जा सकता है। इस प्रकार मङ्गलाचरण की तीनों विशेषताओं का समन्वय करने के कारण कवि अभयदेव का यह मङ्गलाचरण साहित्य में अपनी विशिष्टता रखता है।

नामकरण नामकरण का आधार कथानक की कोई प्रमुख घटना अथवा पात्र होता है। महाकाव्य के नामकरण के विषय को भामह अथवा दण्डी ने अपने लक्षण में स्थान नहीं दिया है किन्तु विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में महाकाव्य के नाम के सम्बन्ध में अपना मत दिया है। उनके अनुसार महाकाव्य का नाम कवि, कथानक, मुख्य घटना, नायक अथवा किसी पात्र के आधार पर रखा जाता है।[3] प्रस्तुत महाकाव्य 'जयन्तविजय' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका नाम नायक के नाम पर आधारित है। इसमें महाकाव्य के नायक जयन्त की दिग्विजयों का वर्णन किया गया है। अतः उन्हीं विजयों के आधार पर इस महाकाव्य का नाम 'जयन्तविजय' रखा गया है। महाकाव्य के नाम श्रवण मात्र से ही पाठक को कथावस्तु का आभास हो जाता है एवं ग्रन्थ के प्रति उसकी रुचि जाग्रत हो जाती है। कवि ने काव्य की कथावस्तु हेतु कल्पना का आश्रय भी लिया है। इसी लिए मगध में जयन्ती नामक नगरी का उल्लेख किया है—

---

१. (क) आशीर्नमस्क्रिया वस्तु निर्देशो वापि तन्मुखम्।—काव्यादर्श १/१४।

२. जयन्तविजय, १/१।

३. कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।—साहित्यदर्पण ६/३२५।

भोगावतीं भोगिपतिः सुरेन्द्रोऽमरावतीं प्रत्यधिकानुरागम् ।
मुमोच चारुत्वमवेक्ष्य यस्याः सा तत्र नाम्नास्ति पुरी जयन्ती ।।[१]

अर्थात् जिस नगरी की चारुता को देखकर शेषनाग ने भोगावती तथा इन्द्र ने अमरावती के प्रति अधिक प्रेम छोड़ दिया ऐसी नाम के अनुरूप जयन्ती नगरी है ।

इसी जयन्ती नगरी में जयन्त नामक राजा हुए जिनकी विजयों का वर्णन प्रस्तुत महाकाव्य में हुआ है । अतः कवि ने अपने काव्य का नाम 'जयन्तविजय' रखा है ।

कथानक का आधार - 'जयन्तविजय' महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक है, क्योंकि इसमें मगध देश के राजा जयन्त की विजयों का वर्णन किया गया है । किन्तु कवि ने अपने समय की प्रचलित लोककथाओं को भी महाकाव्य में स्थान दिया है । इसके साथ ही महाकाव्य में समकालीन परम्पराओं और मान्यताओं को भी ग्रहण किया गया है । अघोरघण्ट योगी से दीक्षा लेकर एक नृपति का राज्य प्राप्ति के लिए मान्त्रिक अनुष्ठान करना तथा उसमें नारी के बलिदान की तैयारी करना[२] ईसवी सन् की ११वीं-१२वीं शती की तान्त्रिक परम्परा का प्रतिफल है । राजा विक्रमसिंह को पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति उत्पन्न करने वाले मुक्ताहार की प्राप्ति पौराणिक मान्यता है । इस प्रकार का वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है । प्रीतिमती का नायिका की बहन होना और आगे चलकर नायक के साथ उसका विवाह हो जाना रत्नावली नाटिका[३] तथा कर्पूरमञ्जरी सट्टक[४] से गृहीत है । इसी प्रकार सिंहलभूपति के हाथी को विक्रमसिंह के द्वारा रोका जाना और हाथी में दैवी चमत्कारों का समारोप करना भास के नाटकों[५] एवं प्राचीन प्रचलित अन्धविश्वासपूर्ण चमत्कारों का ही प्रभाव है । जयन्त का अदृश्य होना और पवनगति की पुत्री कनकवती से उनका विवाह होना 'कुवलयमाला'[६] तथा 'वराङ्गचरित'[७] से गृहीत है । जयन्त का दिग्विजय के लिए प्रस्थान करना एवं रतिसुन्दरी के स्वयंवर में हस्तिनापुर जाना जिनसेन के 'महापुराण'[८] और कालिदास के 'रघुवंश'[९] से गृहीत है । इस प्रकार जयन्तविजय

१. जयन्तविजय १/४१ ।
२. वही, ४/३७-४४ ।
३. रत्नावली नाटिका में रत्नावली वासवदत्ता की बहन है ।
४. कर्पूरमञ्जरी सट्टक में कर्पूरमञ्जरी चन्द्रपाल की रानी विभ्रमलेखा की बहन है ।
५. Sanskrit Drama, by A B Keith, Oxford, 1924, P. 102 ।
६. कुवलयमाला सिन्धी० १९५९, पृ० २६-३० ।
७. वराङ्गचरित १२/४५-४ ।
८. महापुराण, ज्ञानपीठ १९५१, पर्व २८-३७ ।
९. रघु दिग्विजय चतुर्थ सर्ग एवं इन्दुमती स्वयंवर षष्ठ सर्ग ।

महाकाव्य की कथावस्तु का स्रोत ऐतिहासिक होते हुए भी पुराण एवं लोककथाओं पर पूर्णरूप से आधारित है ।

महाकाव्य की कथावस्तु के निर्वाह में कवि को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है । पन्द्रहवें सर्ग में दार्शनिक सिद्धान्त और सत्रहवें सर्ग में जयन्त और रतिसुन्दरी के पूर्व भव का वर्णन कथा-प्रवाह को अवरुद्ध नहीं करते हैं । पौराणिक तत्त्वों के आ जाने से कथा-प्रवाह में यत्र-तत्र शैथिल्य तो अवश्य आ गया है किन्तु क्रम भङ्ग नहीं होने पाया है । महाकाव्य में पात्रों के वार्तालाप नाटकीय सजीवता को लिए हुए हैं । कथावस्तु व्यापक है क्योंकि इसका सम्बन्ध अनेक पात्रों के साथ है । अघोरघण्ट, योगीन्द्र और मत्सरी ब्राह्मण का समावेश कथानक में गति उत्पन्न करने के लिए किया गया है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'जयन्तविजय' की कथावस्तु में यद्यपि पुराण एवं लोककथाओं को पर्याप्त स्थान मिला है फिर भी कवि को अपने लक्ष्य को पूरा करने में अद्‌भुत सफलता प्राप्त हुई है ।

कथानक का विस्तार—कथानक के सम्बन्ध में आचार्यों का मत है कि महाकाव्य का कथानक विस्तृत होना चाहिए तथा इसका निबन्धन सर्गों में होता है । भामह ने इसके लिए महत्[१] तथा दण्डी ने असंक्षिप्त[२] शब्दों का प्रयोग किया है । भाव दोनों का समान है । दण्डी ने सर्गों के 'अनति विस्तीर्ण' होने पर बल दिया है[३] । किन्तु विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य में आठ से अधिक सर्ग होने चाहिए जो विस्तार में न बहुत छोटे हों और न बहुत बड़े ।[४]

महाकवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य की कथावस्तु १६ सर्गों में विभक्त है । इन सर्गों का रूप न तो अधिक विस्तृत ही है और न अधिक संक्षिप्त । संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों के समान ही इसका विस्तार किया गया है । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कथानक के विस्तार के सम्बन्ध में जयन्तकार भामह दण्डी तथा विश्वनाथ से प्रभावित हैं । उन्होंने कथानक के विस्तार हेतु अनेक अवान्तर प्रसङ्गों की योजना भी की है । कवि का प्रमुख लक्ष्य तो महाकाव्य के माध्यम से

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत् ।
भामह : काव्यालंकार १.१६

२. अलंकृतमसंक्षिप्तं-रसभाव निरन्तरम् ।
—काव्यादर्श १.१८ ।

३. सर्गैरनति विस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ।
—वही १.१८ ।

४. नीति स्वल्पा नाति दीर्घा सर्गा अष्टाधिकाइह ।
—साहित्य दर्पण ६.३१६ ।

पंचपरमेष्ठि नमस्कार के माहात्म्य का प्रतिपादन करना ही रहा है। अतः जयन्त कथा के सहारे उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु सफल प्रयास किया है।

अवान्तर प्रसंग—महाकाव्य में मुख्य कथा के अन्तर्गत उपकथाओं की योजना का भी विधान है। दण्डी के अनुसार महाकाव्य को सर्वत्र भिन्न वृत्तान्तों से युक्त होना चाहिए।[1] रुद्रट के अनुसार भी महाकाव्य में मुख्य कथा के अन्तर्गत अवान्तर प्रकरणों की रचना की जानी चाहिए।[2] 'जयन्तविजय' महाकाव्य की मुख्य घटना पञ्चपरमेष्ठि के माहात्म्य का प्रतिपादन करना है। कवि ने इस प्रमुख घटना को जयन्त की विजय से जोड़ दिया है और महाकाव्य का नाम 'जयन्तविजय' रखा है। इसके अतिरिक्त भी महाकाव्य में अनेक अवान्तर प्रसंगों की योजना हुई है। यथा श्मशानवासी सुर का आगमन तथा उसके द्वारा राजा को मुक्ताहार देना,[3] अघोरघण्ट योगी द्वारा नारी की बलि देने के लिए उद्यत होना,[4] सिंहल-भूपति हरिराज द्वारा जयन्ती पर आक्रमण[5] तथा जयन्त द्वारा उसका वध होना,[6] शासन देवता द्वारा जयन्त का कनकवती के लिए अपहरण[7] तथा जयन्त द्वारा कनकवती के पिता पवनगति पर आक्रमण करने वाले महेन्द्र चक्रवर्ती का वध होना,[8] जयन्ती नगरी के उद्यान में सुस्थिताचार्य का आगमन[9] और मत्सरी ब्राह्मण के साथ उनका शास्त्रार्थ होना,[10] तथा विद्यादेवी द्वारा जयन्त और रति सुन्दरी के पूर्वभवों का वर्णन करना,[11] आदि। इन अवान्तर वर्णनों के द्वारा नायक के व्यक्तित्व के विभिन्न गुण यथा विनम्रता, शौर्य, उदारता, शरणागत, वत्सलता आदि उद्घाटित किये गये हैं। साथ ही ये प्रकरण महाकाव्य के मुख्य रस वीर रस के परिपोष में भी सहायक सिद्ध हुये हैं।

वर्णन प्रसंग—संस्कृत महाकाव्यों में अवान्तर प्रसंगों के अतिरिक्त वर्णन प्रसंगों के समावेश की भी एक विशिष्ट परम्परा रही है। कालिदास, भारवि इत्यादि महाकवियों ने अपने महाकाव्यों में नायक के जन्म, विद्याभ्यास, यौवन, विविध प्रकार की क्रीडाओं के साथ ही नदी, पर्वत, समुद्र, ऋतुओं इत्यादि के वर्णनों का समावेश कथा-प्रवाह में रोचकता लाने के लिये तथा काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि के

---

१. सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरूपेतं लोकरञ्जनम्।—काव्यादर्श १-१९।
२. सर्गाभिधानि चास्मिन्नवान्तर प्रकरणानि कुर्वीत।—रुद्रट १६-१९।
३. जयन्तविजय, ४/१५-३४।
४. वही; ४/३०-४५।
५. वही; ९/५०-५६।
६. वही; १०/७३।
७. वही; १२/३।
८. वही, ११/१०६।
९. वही; १५/१।
१०. वही; १५/८,१०,१२,१७,२२,४२।
११. वही; १७/६-३०।

लिये किया है। महाकाव्य की परिभाषा करने वाले आलंकारिकों ने इन महाकाव्यों के उदाहरण पर इस प्रकार के वर्णनों को महाकाव्य की परिभाषा में ही सम्मिलित कर लिया। दण्डी के अनुसार महाकाव्य के कथानक में, नगर, समुद्र, पर्वत, षड्-ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, सूर्यास्त, उद्यान, जलक्रीडा, मद्यपान, सुरतोत्सव विप्रलम्भ, विवाह, कुमारोदय, मन्त्रणा, दूतप्रयाण, युद्ध, नायक इत्यादि वर्णनों का होना आवश्यक माना गया है।[1]

इसीलिये परवर्ती कवियों ने अपने महाकाव्यों में अवसर न रहने पर भी परम्परा निर्वाह के लिए इन सभी वर्णनों का समावेश आवश्यक माना है जिसके परिणामस्वरूप महाकाव्यों में कथाप्रवाह की अपेक्षा वर्णन प्रधान होने लगे हैं। इन्हीं लम्बे-लम्बे वर्णनों के कारण कथा-प्रवाह शिथिल हो जाता है तथा पाठक का मुख्य कथा के साथ तारतम्य टूट जाता है।

महाकवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इन वर्णनों को स्थान दिया है किन्तु कवि द्वारा प्रस्तुत ये वर्णन कथानक के प्रवाह में किसी प्रकार की शिथिलता का आभास नहीं होने देते। महाकाव्य में प्रयुक्त इन वर्णनों द्वारा नायक जयन्त तथा ग्रन्थ के अंगी एवं अन्य रसों का परिपाक हुआ है। ग्रंथ के आरम्भ में कवि अभयदेव मगध देश का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। इसी समृद्धिशाली देश में जयन्ती नामक नगरी है जो अपनी समृद्धि और वैभव के कारण अमरपुरी के समान सुशोभित है। इस नगरी वर्णन के अतिरिक्त नायक के रण-प्रयाण, युद्ध आदि का सजीव वर्णन भी हुआ है। नायक जयन्त के युवावस्था में प्रवेश करने पर ही वसन्त ऋतु का आगमन हो जाता है और इस अवसर पर उपवन में झूला डाला जाता है। कवि द्वारा प्रस्तुत वह दोला विलास, पुष्पावचय एवं जलकेलि वर्णन युवकों के हृदय में श्रृंगार रस की भावना को उद्दीप्त कर देता है। इसी समय कवि ने सूर्यास्त एवं चन्द्रोदय का मनोहारी चित्र भी खींचा है। इन वर्णनों के अतिरिक्त कवि ने परम्परागत ग्रीष्म, वर्षा और शरद ऋतु का भी वर्णन किया है। ग्रीष्म के आतप का सन्ताप प्राणियों को अत्यधिक कष्ट देता है, किन्तु वर्षा ऋतु के आते ही वह समाप्त हो जाता है तथा शरद ऋतु समस्त प्राणियों के लिये आनन्ददायक होती है। कवि द्वारा प्रस्तुत ये वर्णन कथा-प्रवाह में बाधक न होकर, सौन्दर्यवर्धक सिद्ध हुए हैं। कवि अभयदेव समय एवं परिस्थिति का विशेष ध्यान

---

१. नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्चकुमारोदयवर्णनै ।
मन्त्रदूतप्रयाणानिनायकाभ्युदयैरपि ॥

—काव्यादर्श १/१६-१७।

रखते हैं क्योंकि इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है—जयन्त के युवावस्था में प्रवेश करने पर वसन्त ऋतु का आगमन।

अतः स्पष्ट है कि 'जयन्तविजय' महाकाव्य में आये हुए वर्णन प्रसंग नायक जयन्त के चरित्र के कोमल पक्ष का उद्घाटन करते हैं। अधिक क्या कहा जाय, ऋतुएँ भी उनका ध्यान रखती हैं। कवि के शब्दों में—

न परमुग्रमयं रतिसुन्दरी प्रियतमः सहते निज शासनात्।
इति भयादिव कम्पितमानसस्त्वरितमुग्रऋतुः प्रपलायत ॥[1]

अर्थात् रतिसुन्दरी के प्रियतम (जयन्त) अपने शासन द्वारा अत्यन्त उग्रता को सहन नहीं कर सकते। इसीलिए भय से काँपती हुई यह उग्र (ग्रीष्म) ऋतु शीघ्र भाग गयी।

वे एक आदर्श नृपति हैं। उनके राज्य में मेघ समय पर वर्षा करते हैं और जनता ईति-भीति के डर से मुक्त दिखलायी पड़ती है—

तस्मिन्महीं पालयति क्रमाप्तां नयांचिते पंचमलोकपाले।
ववर्ष काले जलदः समस्त प्रशस्यसस्योद्गममूल बीजम् ॥[2]

इस प्रकार कवि द्वारा प्रस्तुत वर्णन प्रसंग महाकाव्य की कथावस्तु हेतु सहायक सिद्ध हुए हैं। दण्डी के द्वारा निर्दिष्ट वर्णनों में से समुद्र, विप्रलम्भ इत्यादि के लिए कथानक में अवसर न रहने के कारण उन्हें महाकाव्य में स्थान नहीं दिया गया है।

कथानक की सन्धियाँ—अलंकारशास्त्रियों ने महाकाव्य में नाटकीय पञ्च-सन्धियों की योजना का भी विधान किया है। भामह,[3] दण्डी,[4] रुद्रट[5] तथा विश्वनाथ[6] आदि प्रमुख आचार्य महाकाव्य के कथाविस्तार को सन्धियों से युक्त मानते हैं। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने भी इन आचार्यों का समर्थन किया है किन्तु उन्होंने कथानक में रसाभिव्यक्ति के अनुकूल ही सन्धियों की योजना को उचित माना है। उनके अनुसार संधि तथा सन्ध्यंगों का योजना केवल शास्त्र की मर्यादा के लिए ही नहीं अपितु रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा की जानी चाहिए।[7] इसी लिए महाकाव्य में सन्धियों को उतना महत्त्व प्राप्त नहीं है जितना कि नाटक में।

---

१. जयन्तविजय १८/१५।
२. वही, १९/७१।
३. 'पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तम्'—काव्यालंकार १/२०।
४. श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः।—काव्यादर्श १/१८।
५. संधीनपि संश्लिष्टांस्तेषामन्योन्य संबंधात्।—काव्यालंकार १६/१९।
६. अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक सन्धयः।—साहित्यदर्पण ६/३१६।
७. सन्धिसन्ध्यङ्गघटनम् रसाभिव्यक्तयपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थिति सम्पादनेच्छया ॥—ध्वन्यालोक ३/१२।

नाटकीय इतिवृत्त पाँच अर्थ प्रकृतियों—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य एवं पाँच अवस्थाओं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम से विभक्त किया गया है। सन्धियाँ इन्हीं अर्थ प्रकृतियों एवं अवस्थाओं के मिश्रण से बनती हैं।[1] इस प्रकार सन्धियाँ पाँच हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण।[2]

मुखसन्धि—मुखसन्धि कथानक की वह अवस्था कहलाती है जहाँ पर काव्य की प्रमुख घटना की सूचना सर्वप्रथम मिलती है अर्थात् प्रमुख घटना के बीज का उपन्यास होता है। धनञ्जय के अनुसार मुखसन्धि में नाना प्रकार के रस को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति पायी जाती है[3]। 'जयन्तविजय' महाकाव्य की मुख्य घटना जयन्त का राज्याभिषेक है। जिसकी सूचना हमें महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में ही प्राप्त हो जाती है। इस सर्ग में अपने शिशु गज के साथ सरोवर में क्रीडा करती हुई करिणी को देखकर प्रीतिमती को अपनी अपत्यहीनता की स्मृति आ जाती है और वह उदासीन रहने लगती है क्योंकि—

नभस्थलीव द्युतिमद्विना कृता निशेव शीतद्युतिमण्डलोज्झिता।
महौषधीवोन्मदवीर्यवर्जिता न सूनुहीना वनिता प्रशास्यते ॥[4]

अर्थात् सूर्य के बिना आकाश, चन्द्रमा के बिना रात्रि, विशिष्ट शक्ति के बिना औषधि के समान सन्तानहीन स्त्री की प्रशंसा नहीं होती।

अपि च—परां जनन्या जनयत्यनारतं महाकुलीनस्तनयो नयाश्चितः।
महर्घतामेधयते गुणश्रियो न किं यशोराशिरदम्भः सौरभः ॥[5]

अर्थात् नीतिमान, महाकुलीन, अदम्भी, यशोराशि रूप पुत्र क्या गुणयुक्त माता की मार्गता को नहीं बढ़ाता। अर्थात् माता के गौरव को अवश्य बढ़ाता है।

प्रीतिमती सोचने लगती है कि स्त्रियाँ चरित्रवान् पुत्र के द्वारा ही पति के अति गौरव को प्राप्त करती हैं क्योंकि रत्न की खान प्रकाण्ड (अत्यधिक) मणियों से बहुमूल्यता को क्या प्राप्त नहीं करती अर्थात् अवश्य प्राप्त करती है—

किमन्यदाप्नोत्यतिगौरवं वि (व) धूः प्रियस्य पुत्रैः खलु वृत्तशालिभिः।
महार्घ्यतां रत्नखनी न किं भजेन्मणिप्रकाण्डैरिति सा व्यचिन्तयत् ॥[6]

---

१. अर्थ प्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्था समन्विताः।
यथा संख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसन्धयः ॥—दशरूपक १/२२।
२. मुख प्रति मुख गर्भः सावयर्शोपसंहृतिः।—वही १/२४।
३. मुख बीज समुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ॥—वही. १/२५।
४. जयन्तविजय २/२।
५. वही, २/४।
२. वही, २/७।

इस प्रकार रानी प्रीतिमती के चिन्तित होने पर राजा विक्रम सिंह अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी उसकी इस इच्छा को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करते हैं—

निवेश्य संदेहपदेऽपि जीवितं प्रिये प्रियं ते त्वरितं करोत्यदः।
न चेज्जनोऽयं ज्वलने प्रवेशतः पतङ्गतां याति तदा विनि श्चतम् ॥[1]

प्रतिमुख सन्धि—धनञ्जय के अनुसार मुख सन्धि में बोया गया बीज जब अंकुरित होकर कुछ दिखायी दे तथा कुछ स्पष्ट रहे वहाँ प्रतिमुख सन्धि होती है।[2] जयन्तविजय के चतुर्थ सर्ग में राजा विक्रमसिंह को सुर द्वारा एक ऐसा मुक्ताहार प्राप्त होता है जिसके धारण करने से वन्ध्या स्त्री भी उदात्त पुत्र उत्पन्न करती है। कवि के शब्दों में—

इदमुदात्तसुताय मृगीदृशां भवति कण्ठतले विनिवेशिता।
इति निशम्य सतां द्रुतमाददे प्रणयिनां हि समाधि विधिस्तथा ॥[3]

अर्थात् यह हार मृगनयनियों के कण्ठतल में पहनाये जाने पर उदात्त सन्तान होती है। इस प्रकार से सुनकर राजा ने उस हार को शीघ्र ही ले लिया।

इस प्रकार इस सर्ग में जयन्त की उत्पत्ति रूप बीज कुछ स्पष्ट हो जाता है किन्तु हार को लेकर आगे चलने पर राजा विक्रम सिंह का एक योगी से युद्ध होता है। यह योगी देवता को प्रसन्न करने के लिये चीत्कार करती हुई नारी की बलि देने को उद्यत है। युद्ध में योगी परास्त होता है। विजयी राजा पर वह कन्या मुग्ध हो जाती है। पञ्चम सर्ग में सुर आकर बताता है कि यह कन्या आपकी पत्नी प्रीतिमती की बहिन है। इसका अनुराग आपमें है और यह आपकी पत्नी बनेगी। सुर योगी के वास्तविक स्वरूप पर भी प्रकाश डालता है और बताता है कि राज्य प्राप्ति के लिये अघोरघण्ट योगी से दीक्षा लेकर इस योगी ने कन्या बलि का उपक्रम किया है। वह (सुर) विक्रमसिंह को उनके पूर्व जन्म का पूरा विवरण भी बताता है। छठे सर्ग में सुर से कन्या का परिचय पाकर राजा विक्रमसिंह कन्या के पिता जितारि के पास कन्या को साथ लेकर जाते हैं। जितारि कन्या का विवाह विक्रमसिंह से कर देता है। नवपरिणीता पत्नी को साथ लेकर राजा विक्रमसिंह जयन्ती नगरी को लौटते हैं और सुर द्वारा प्रदत्त मुक्ताहार प्रीतिमती को देते हैं जिसके प्रभाव से वह गर्भवती होती है।

इस प्रकार राजा को चतुर्थ सर्ग में मुक्ताहार की प्रप्ति होती है किंतु वे मार्ग में अन्य कार्यक्रमों में व्यस्त हो जाते हैं। फलतः जो जयन्त की उत्पत्ति रूप बीज

---

१. जयन्तविजय, २/३१।
२. लक्ष्यालक्ष्यतयोदभेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।—दशरूपक १,३०।
३. जयन्तविजय, ४/३४।

का स्पष्टीकरण हुआ था वह अस्पष्ट हो जाता है और छठे सर्ग में आकर जब वे मुक्ताहार प्रीतिमती को देते हैं तो उसी हार के प्रभाव से प्रीतिमती गर्भ धारण करती है। इस प्रकार अस्पष्ट बीज पुनः स्पष्ट हो जाता है। अतः चतुर्थ सर्ग में राजा को उदात्त पुत्र उत्पन्न करने की क्षमता वाले मुक्ताहार की प्राप्ति से लेकर छठे सर्ग में मुक्ताहार के धारण करने से प्रीतिमती के गर्भवती होने तक के वर्णन में प्रतिमुख सन्धि की योजना का सफल निर्वाह हुआ है।

गर्भ सन्धि—जब बीज के दिखने के बाद फिर से नष्ट हो जाने पर उसका अन्वेषण बार-बार किया जाता है तो गर्भसंधि होती है।[1] जयन्तविजय महाकाव्य के ग्यारहवें और बारहवें सर्ग में गर्भ सन्धि मानी जा सकती है क्योंकि महाकाव्य के नायक जयन्त गर्भित (अन्तर्निविष्ट, गायब) रहते हैं। इन सर्गों में एक ओर राजा विक्रमसिंह जयन्त के दिग्विजय के समाचार को सुनकर प्रसन्न होते हैं तो उसी क्षण ही उनके अदृश्य होने से चिंतित हो उठते हैं। इस प्रकार बीज के लाभ-अलाभ, प्रसन्नता-चिंता के द्वन्द्व का चित्रण प्रस्तुत महाकाव्य में करके गर्भ सन्धि की सफल योजना की गई है।

अवमर्श सन्धि—जहाँ क्रोध से, व्यसन से या विलोभन (लोभ) से फल प्राप्ति के विषय में विचार या पर्यालोचन किया जाय तथा जहाँ गर्भ सन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो, वहाँ अवमर्श सन्धि कहलाती है।[2]

जयन्तविजय महाकाव्य के तेरहवें-चौदहवें सर्ग में अवमर्श सन्धि है। तेरहवें सर्ग में उपवन में जयन्त और कनकवती एक दूसरे को देखकर मुग्ध हो जाते हैं। यह जानकर पवनगति भी कनकवती का विवाह जयन्त के साथ कर देता है। कनकवती से विवाह हो जाने पर जयन्त के राजधानी लौटने की संभावना होती है किन्तु फिर भी सन्देह बना रहता है, क्योंकि विघ्न-बाधाओं से मुठभेड़ अभी समाप्त नहीं होती है। विद्याधरेश चक्रवर्ती महेन्द्र जैसे प्रबल शत्रु से जयन्त को लोहा लेना पड़ता है क्योंकि जब महेन्द्र चक्रवर्ती को यह ज्ञात होता है कि पवनगति ने उसके पुत्र की उपेक्षा करके अपनी पुत्री का विवाह जयन्त से कर दिया है तो वह पवनगति पर आक्रमण कर देता है। युद्ध में जयन्त की तलवार से महेन्द्र की मृत्यु होती है। जयन्त महेन्द्र पुत्र को करद बनाकर पवनगति के साथ अपने नगर को लौट आते हैं। इस प्रकार फल प्राप्ति की नियत संभावना और विघ्न-बाधाओं के कारण इसकी

---

१. गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।—दशरूपक १/३६।

२. क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः॥—दशरूपक १/३४।

संदिग्धता के द्वन्द्व में यहाँ जो नाटकीयता का विकास हुआ है उसमें अवमर्श सन्धि का सुन्दर निर्वाह है। शास्त्रीय परम्परा के अनुसार ही इस सन्धि में महाकाव्य के प्रधान चरित्र का पौरुष और भी अधिक उद्दीप्त रूप में प्रकट हुआ है।

निर्वहण सन्धि कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो इधर-उधर बिखरे हुए हैं, जब एक साथ एकत्रित हो जाते हैं तो निर्वहण सन्धि होती है।[1]

जयन्तविजय महाकाव्य के उन्नीसवें सर्ग में निर्वहण सन्धि का निर्वाह हुआ है क्योंकि राजधानी जयन्ती लौटने पर जयन्त को राजा विक्रम सिंह राज्य सौंपकर प्रव्रजित हो जाते हैं—

अथाद्यमात्मानमिवात्मजं स शुभे निवेश्याह्नि यौवराज्ये।
निनायकालं ललितैर्विलासैस्तत्संनिधानात्तनुराज्यचिन्तः ॥[2]

अर्थात् इसके पश्चात् शुभ मुहूर्त में राजा विक्रम सिंह अपने प्रथम पुत्र (जयन्त) को युवराज पद पर करनियुक्त राज्य की चिन्ता से मुक्त हो गये और वे राजा जयन्त ललित विलासों से समय व्यतीत करने लगे।

राजा जयन्त भी एक कुशल शासक हैं क्योंकि वे कुछ ही दिनों में अपने गुणों के कारण लोकप्रिय हो जाते हैं और प्रजा वैरि सिंह को भूल जाती है—

अत्यन्तविस्मारितवैरिसिंहक्ष्माधिराजः स्वगुणैः प्रजानाम्।[3]

इस प्रकार 'जयन्त विजय' महाकाव्य में नाटकीय पञ्च सन्धियों की योजना का भी सफल निर्वाह हुआ है।

पुरुषार्थ चतुष्टय निरूपण—अलङ्कार शास्त्रियों ने महाकाव्य का प्रमुख उद्देश्य चतुर्वर्गफल प्राप्ति माना है। आचार्य दण्डी के अनुसार उदात्तादिगुणान्वित चतुर नायक की चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन महाकाव्य में आवश्यक है।[4] आचार्य रुद्रट का यही मत है।[5] किन्तु साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ का मत दण्डी तथा रुद्रट से पृथक् है। उनके अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का वर्णन तो महाकाव्य में आवश्यक है किन्तु इनमें से किसी एक का वर्णन महाकाव्य के फल के रूप में होना चाहिए।[6]

इस प्रकार स्पष्ट है, कि सभी आचार्यों ने महाकाव्य में पुरुषार्थ चतुष्टय

---

१. बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हितत् ॥ —दशरूपक १/४८।
२. जयन्तविजय; १९/५९। ३. वही; १९/१।
४. चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्त नायकम्। —काव्यादर्श १/१५।
५. तत्र महन्तोयेषु च विततेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः। —काव्यालङ्कार १६/५।
६. चत्वारस्तस्यवर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत। —साहित्य दर्पण ६/१८।

निरूपण पर बल दिया है । कवि अभयदेव वस्तुतः भक्त थे और जैन सम्प्रदाय के होने के कारण उनकी जैन धर्म में अटूट आस्था थी । कवि के ही शब्दों में—

जैनस्तु धर्मो हृदि जागरूकः स्यादैहिकामुष्मिकसौख्यहेतुः ।[१]

अर्थात् हृदय में जागरूक होता हुआ जैन धर्म ऐहिक (इस लोक) और आमुष्मिक (पारलौकिक) दोनों के सुख का कारण होता है ।

उन्होंने यद्यपि जैन धर्म के नियमों तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन महाकाव्य में अति विस्तार के साथ नहीं किया है किन्तु फिर भी पन्द्रहवें सर्ग में उनका कवि स्वरूप बहुत कुछ तिरोहित हो गया है और धार्मिक तत्त्व का निरूपण ही प्रधान हो गया है । इस सर्ग में सर्वज्ञता के सम्बन्ध में ब्राह्मण और जैन सिद्धान्तों का विवरण शास्त्रार्थ के रूप में देकर ब्राह्मण विचारधारा पर जैन विचारधारा की विजय दिखलायी गयी है ।[२] महाकाव्य के नायक जयन्त में भी धर्म के प्रति आस्था है । जिन शासन देवता जया द्वारा अपहृत किये जाने के बाद उद्यान में वे श्री धर्मसूरि को देखते ही उन्हें प्रणाम करते हैं और उनके उपदेशों को ध्यानपूर्वक सुनते हैं ।

शृणु सगुण जयन्त जैनधर्मं सकलसुखोपयिकं भवद्वयेऽपि ।
इति गुरुवचने स बद्धतृष्णः समजनि चातकवत्पयोदनीरैः ॥[३]

उनकी जिनेश्वर में भी अतुल भक्ति है । वे जिन मन्दिरों में भक्तिपूर्वक जिनबिम्ब की अर्चना करते हैं । जिनेश्वर में उनकी प्रगाढ़ भक्ति को देखकर स्वयं इन्द्र उनकी प्रशंसा करते हैं –

धन्योऽसि राजन्सफलं तवैव राज्यं धनं जन्म च जीवितं च ।
दुःखार्दितेऽपीह मनुष्यभावे यस्यातिभक्तिर्जिनपुङ्गवेषु ॥[४]

इस प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य का प्रधान लक्ष्य धर्म की प्राप्ति है किन्तु इसमें अर्थ का निरूपण भी धर्ममर्यादा में बँधकर हुआ है । आचार्य भामह ने तो महाकाव्य का उपदेश सदैव अर्थोपदेश ही माना है । उनके अनुसार—

चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत ।[५]

अर्थात् महाकाव्य में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों वर्गों को स्थान दिया जाता है किन्तु उसका उपदेश सदैव अर्थोपदेश ही होता है ।

जयन्तविजयकार कवि अभयदेव भामह के इस मत को स्वीकार नहीं करते

---

१. जयन्तविजय १/२० ।
२. वही, १५/८, १०, १२, १७, २२, ४२ ।
३. वही, १२/४७ ।
४. वही, १६/७७ ।
५. काव्यालङ्कार, १/२१ ।

हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में सज्जनों की यह विचारधारा है कि अर्थ और काम यह दोनों ऐहिक सुख के लिए हैं भव के उद्‌भव के लिए नहीं—

तत्रार्थकामद्वयमैहिकार्थं भवोद्‌भवत्वेन सतां मतं न ।[1]

अतः स्पष्ट है, कि इनके द्वारा परम पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती। जयन्त एकादश सर्ग में दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते हैं, किन्तु जो राजा उनकी अधीनता को स्वीकार कर लेते हैं वे उन्हें परेशान नहीं करते हैं तथा जो बहुमूल्य पदार्थ उन्हें उपहार में प्राप्त होते हैं। वे उन्हें सहर्ष स्वीकार करते हैं।

सर्वस्वदानतः केचिन्मानभङ्गाच्च केचन ।
शरण्यं शरणीकृत्य मार्गभूपास्तमन्वयुः ॥[2]

अर्थात् कुछ राजाओं ने उन्हें अपना सर्वस्व दानकर तथा कुछ ने अपना अभिमान छोड़कर उन राजा की शरण लेकर उनके पीछे चल पड़े।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि ने 'काम' को निरूपण भी बड़ी कुशलता से किया है। बसन्त ऋतु के पदार्पण करते ही चारों ओर हर्षोल्लास व्याप्त हो जाता है। नवमालिका के पुष्प वन की शोभा को कई गुना बढ़ा देते हैं तथा नये पल्लव ताम्रवर्ण की आभा लिए हुए युवकों के हृदय में शृंगार रस की भावना को उद्दीप्त कर देते हैं। इसी अवसर पर उपवन में दोला डाला जाता है तथा रमणियों के अनेक प्रकार के कामजन्य विलास दृष्टिगोचर होते हैं। यथा कोई सुन्दरी झूले पर बैठी आकाश में ऊपर को बढ़ जाती है, उसके साथ ही युवकों के नेत्र भी चले जाते हैं। दीर्घाकार क्षेत्र में पेंग लगाने पर झूला तिर्यक् रूप से आगे बढ़ता है जिससे भुजग-भुजाओं को पकड़े हुए सी वह प्रतीत होती है—

व्रजति वियति काचिल्लोल दोलाधिरूढा ।
सह युवजननेत्रैः पद्मपत्त्रायताक्षी ।
चलति तदनु धन्यंमन्यदीर्घप्रसर्प-
द्भुजगभुजधृतासौ किं चितैरेव सार्द्धम् ॥[3]

इसी प्रकार जलक्रीडा के अन्तर्गत प्रेमियों की यह प्रेमलीला भी दर्शनीय है

पयसि लघुनिलीनः कौतुकेनापकर्षत्-
परिहितसि(च)यान्तं दक्षयालक्षि कान्तः ।
तदनु च स तयोक्तः कोऽपिचौरोऽयमेवं
सरसविधि बबन्धे बाहुपाशेन सद्यः ॥[4]

---

१. जयन्तविजय, १/२० । २. वही, ११/७ ।
३. वही, ८/६ । ४. वही, ८/४१ ।

अर्थात् किसी दक्ष स्त्री के द्वारा पानी में शीघ्रता से डुबकी लगाये हुए कुतूहलवश वस्त्र खींचे जाते हुए कान्त को देख लिया गया। इसके बाद उसके द्वारा 'यह कौन चोर है' इस तरह से कहते हुए बाहुपाश में शीघ्र पकड़ लिया गया।

इस प्रकार जयन्तविजय' महाकाव्य में जो कामकेलि का चित्रण हुआ है वह सर्वथा धर्ममर्यादित है।

मुक्ति तो प्रस्तुत महाकाव्य का परम प्रयोजन है, क्योंकि यह एक भक्ति-प्रधान काव्य है। अठारहवें सर्ग में वैरिसिंह अपने जामाता जयन्त को राज्य सौंपकर दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।[1] उन्नीसवें सर्ग में राजा विक्रमसिंह भी जयन्त को राज्य-भार सौंपकर प्रव्रजित हो जाते हैं—

सदस्यभिप्रायमिमं निवेद्य सुतस्य सर्वं विदधे तथैव।
अन्ते च योगेन तनुत्यजां स शिश्राय मार्गं सुधियां नृपाणाम्॥[2]

अर्थात् राजा विक्रम सिंह ने सभा में अपने अभिप्राय को बताकर उसी समय पुत्र को राज्य-भार सौंपकर अन्त में योग से शरीर छोड़ने वाले बुद्धिमान राजाओं के मार्ग का आश्रय लिया।

इस प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि अभयदेव ने पुरुषार्थ चतुष्टय का निरूपण भी बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है।

नायक

महाकाव्य के कथानक का आधार नायक होता है। 'जयंतविजय' महाकाव्य के नायक विक्रमसिंह के सुयोग्य पुत्र जयन्त हैं। लक्षण शास्त्रियों के अनुसार नायक में कतिपय गुणों का होना आवश्यक माना गया है। दण्डी के अनुसार महाकाव्य का नायक उदात्त एवं चतुर होता है तथा वह सदैव ही चतुर्वर्ग फल प्राप्ति के लिए उत्सुक एवं प्रयत्नशील रहता है।[3] अन्य आलंकारिकों ने भी नायक को सर्वगुण सम्पन्न माना है।[4] इसका प्रमुख कारण है महाकाव्य की उपदेशात्मकता। क्योंकि

---

१. जयन्तविजय, १८/५६ तथा ६१। २. वही; १६/४१।

२. चतुर्वर्ग फलायतं चतुरोदात्त नायकम्। —काव्यादर्श १.१५

३. (क) तत्र त्रिवर्गसक्तं समृद्धिशक्ति त्रयं च सर्वगुणम्।
रक्त समस्त प्रकृतिं विजगीषुं नायकं न्यस्येत॥
—रुद्रट-काव्यालंकार १६.८

(ख) नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रुढवंशः स्थिरोयुवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृति प्रज्ञा कलामान समन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥ —दशरूपक २/१-२

प्रत्येक कवि के काव्य का सम्बन्ध समाज से होता है। समाज के व्यक्ति कवि के काव्य से प्रभावित होते हैं। अतः कवि को सदैव ऐसे नायक की सृष्टि करनी चाहिए जिससे समाज के व्यक्ति उसके गुणों से प्रभावित हो सकें। इसीलिए नायक के विजगीषु होने पर सभी अलंकारिकों का विशेष आग्रह है। महाकाव्य के अन्त में नायक की विजय दिखाने का उद्देश्य सम्भवतः समाज के व्यक्तियों को उसके सदाचरण का अनुकरण करने के प्रति प्रोत्साहित करना है।

'जयन्तविजय' महाकाव्य के नायक जयन्त में हमें आदर्श नायक के सभी गुणों का समावेश मिलता है। उन्हें राजनीति का ज्ञान होने के साथ ही-साथ अपने गौरव का भी पूर्ण ध्यान है। सिंहलेश का दूत जब उनके पिता के पास हाथी वापस करने की माँग करता है और सिंहल भूपति के पराक्रम का भय दिखलाता है तो वे गम्भीर भाव से जो उत्तर देते हैं वह उनकी नीतिनिपुणता का परिचायक है—

महानिधीनामधिपोऽपि चक्रभृन्नयागतं वस्तु न जातु मुञ्चति।
मतङ्गजस्यास्य मिषात्स्वमन्दिरे रमा प्रविष्टा क्रियते कथं बहिः॥
द्विषो न पोष्याः प्रणिपातमन्तरा निजैः पदार्थैरिति भूभृतां नयः।
न जातु तेषां तमपश्यतां भवेज्जनाद्विशेषः फणिदुग्धपायिन॥[१]

अर्थात् महानिधि के स्वामी सुदर्शन चक्रधारी भगवान् विष्णु भी नीति से आयी हुई वस्तु को कभी नहीं छोड़ते। अतः इस हाथी के बहाने से हमारे घर में प्रविष्ट लक्ष्मी को कैसे बाहर किया जा सकता है। प्रणाम के बिना अपने ही पदार्थों से शत्रुओं का पालन-पोषण नहीं करना चाहिए, यह राजनीति है क्योंकि बिना वस्तु को देखे हुए कोई विशेषता नहीं बतायी जा सकती जिस प्रकार दूध पिलाये हुए सर्प में किसी प्रकार की विशेषता नहीं होती।

विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य का नायक कोई देवता, उच्चवंश में उत्पन्न क्षत्रिय, एकवंश में उत्पन्न कई राजा अथवा कई वंशों में उत्पन्न राजा हो सकते हैं।[२] जयन्त जयन्ती जैसी राजधानी के राजकुमार हैं। वे क्षत्रिय हैं तथा क्षत्रियोचित गुणों से युक्त हैं। धनिक तथा धनञ्जय ने भी धीरोदात्त नायक को महान् वीर, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मप्रशंसा न करने वाला तथा दृढ़प्रतिज्ञ बतलाया है।[३] जयन्त वास्तव में एक धीरोदात्त नायक हैं। वे बड़े शूरवीर हैं। सिंहलनरेश के प्रति-

---

१. जयन्तविजय ६ ३१, ३३।
२. सर्गबन्धो महाकाव्यः तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः॥
एकवंशभवाभूपा कुलजा बहवोऽपि वा॥—साहित्यदर्पण ६/३१४
३. महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावान विकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारी धीरोदात्तो दृढव्रतः॥—दशरूपक २/४,५

रोध के लिए पिता को रणक्षेत्र में जाते हुए देखकर वे इन शब्दों द्वारा उन्हें रोककर स्वयं युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं—

मयि स्थिते हन्त निदेशवर्तिनि स्वयं प्रयासः कतमः प्रभोरिति ।[1]

सिंहल नरेश हरिराज के अतिरिक्त वे भिल्ल[2], सुह्म[3] आदि अनेक राजाओं को पराजित कर दिग्विजय करते हैं । वे जहाँ जाते हैं विजयी होकर ही लौटते हैं । यही उनकी वीरता का ज्वलन्त उदाहरण हैं । विद्याधरेश महेन्द्र चक्रवर्ती जैसे प्रबल शत्रु का सामना होने पर भी उनके मन में विकलता का आभास तक नहीं मिलता । वे बड़ी निश्चिन्तता के साथ नित्यक्रिया करके संग्राम भूमि की ओर प्रस्थान करते हैं—

पूर्वाचलं चुम्बिति चण्डरश्मौ विस्मेरवक्त्राम्बुरुहो जयन्तः ।
प्रत्यूषकृत्यं विधिवद्विधाय संस्मृत्य चान्तः स्मरणीयमिष्टम् ।।
प्रदक्षिणीकृत्यपतिं प्रभूणायुदङ्मुखः संगरबद्धलक्ष्यः ।
आनन्द दानैरनुजीविवर्गं संग्रामभूमिं समलंचकार ।।[4]

युद्ध भूमि में उनके शौर्य पर देवगण भी मुग्ध हो जाते हैं और उनके जीतने पर भेरी-निनाद तथा पुष्प-वृष्टि करते हैं —

अथ सुरपथवल्गद्दिव्य भेरी निनाद-
द्विगुणित कलभृङ्गारावगर्भं नमस्तः ।
शिरसि सुरकराब्जप्रेरितं पुण्यवर्षं
न्यपतदवनिभर्तुर्मङ्गलोद्गार सारम् ।।[5]

जयन्त कामदेव के समान सौन्दर्यशाली भी हैं, क्योंकि कनकवती और रति-सुन्दरी उनके अतुल रूप पर प्रथमदर्शन में ही मुग्ध हो जाती है—

खेचरेन्द्रदुहितापि कुमारं रूपसंपदपहस्तितमारम् ।
वीक्ष्य तत्क्षणमभूदनुरागक्षीर सागर तरङ्ग निमग्नाः ।।[6]

विनयशीलता उनके चरित्र की एक अन्य विशेषता है । जिन शासन देवता जया द्वारा अपहृत किये जाने पर वे उद्यान भूमि में श्री धर्मसूरि को देखते ही प्रणाम करते हैं और उनके उपदेशों को ध्यानपूर्वक सुनते हैं ।[7]

---

१. जयन्तविजय ६/६० ।
२. वही, ११/८ ।
३. वही, ११/६ ।
४. वही, १४/४४-४५ ।
५. वही, १४/१०७ ।
६. वही, १३/३६ ।
७. वही, १२/४७ ।

चक्रवर्ती हो जाने पर भी उनके मन में रंचमात्र भी गर्व नहीं है। विमान से उतरते ही वे अपने पिता को भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं—

जिनेन्द्रमिव देवेन्द्रः समुत्तीर्ण विमानतः।
नमश्चक्रे नमस्याहँ श्रीजयन्तो गुरुं ततः ॥[1]

वे प्रजावत्सल एवं कुशल शासक हैं। प्रजा उनके शासन में सुख का अनुभव करती है क्योंकि वे कुछ ही दिनों में अपने गुणों के कारण लोकप्रिय हो जाते हैं और प्रजा वैरिसिंह को भूल जाती है—

अत्यन्त विस्मारित वैरिसिंह क्षमाधिराजः स्वगुणैः प्रजानाम्।[2]

उनके राज्य की तुलना हम रामराज्य से कर सकते हैं क्योंकि वे एक आदर्श राजा हैं। अतः उनके राज्य में मेघ समय पर वर्षा करते हैं और जनता ईति-भीति के डर से मुक्त दिखलाई पड़ती है—

तस्मिन्महीं पालयति क्रमाप्तां नयांचिते पंचम लोकपाले।
ववर्ष काले जलदः समस्तप्रशस्य सस्योद्गममूल बीजम् ॥[3]

जयन्त प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए जहाँ एक ओर वाह्य शत्रुओं का नाश करते हैं वहीं वह अपने षट् शत्रुओं के प्रति भी सावधान रहते हैं—

अङ्गैस्ततः सप्तभिरप्यवन्ध्यं प्रवृद्ध शक्तित्रयकीर्तिरेषः।
राज्यं शशासापर वैरि नाशान्षडन्तरङ्गान विजित्य शत्रून् ॥[4]

उनके हृदय में धर्मपिपासा भी है। वे जिन मन्दिरों में जाकर भक्तिपूर्वक जिन विम्बों की अर्चना करते हैं। जिनेश्वर में उनकी प्रगाढ़ भक्ति को देखकर स्वयं इन्द्र उनकी प्रशंसा करते हैं—

धन्योऽसि राजन् सफलं तवैव राज्यं धनं जन्म च जीवितं च।
दुःखार्दितेऽपीह मनुष्यभावे यस्यातिभक्तिर्जिन पुङ्गवेषु ॥[5]

इस प्रकार जयन्त वीर, पराक्रमी, नीतिवान, यशस्वी, रमणियों के लिए आराध्य एवं जिनेन्द्र भक्त हैं। श्रद्धा और भक्ति उनके जीवन के आवश्यक अङ्ग हैं। नवीन चैत्यालय बनवाना और पुराने चैत्यालयों का पुनः निर्माण कराना भी उनके जीवनोद्देश्य में गर्भित है। अतः नायक के समस्त गुण जयन्त में पाये जाते हैं।

प्रतिनायक नायक के साथ ही महाकाव्य में प्रतिनायक का भी समावेश रहता है। यह प्रतिनायक महाकाव्यों में बिल्कुल विपरीत प्रदर्शित किया जाता है।

---

१. जयन्तविजय १५/७३।
२. वही; १६/१।
३. वही; १६/७१।
४. वही; १६/४८।
५. वही; १६/७७।

अर्थात् नायक जहाँ सर्वगुणसम्पन्न होता है वहीं प्रतिनायक को क्रूर तथा सभी दुर्गुणों का आगार प्रदर्शित किया जाता है। वस्तुतः इसके मूल में वही भावना विद्यमान रहती है जो कि नायक को सर्वगुण सम्पन्न प्रदर्शित करने के मूल में है। नायक समाज के समक्ष सद्गुणों का प्रतिनिधित्व करता है किन्तु प्रतिनायक दुर्गुणों का। नायक की प्रतिनायक पर विजय दिखाने का प्रमुख लक्ष्य दुर्गुणों पर सद्गुणों की विजय है तथा समाज को अच्छे आदर्शों पर चलने के लिए प्रेरित करना है। आलंकारिकों ने यद्यपि महाकाव्य में प्रतिनायक का स्पष्ट रूप से उल्लेख तो नहीं किया है किन्तु उसके गुणी तथा अभिजात होने पर बल दिया है।[१] दशरूपककार के अनुसार प्रतिनायक लोभी, धीरोदात्त, घमंडी, पापी तथा व्यसनी होता है। प्रतिनायक का लक्षण देते हुए उन्होंने कहा है --नायक की फलप्राप्ति में विघ्न करने वाला, नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है।[२]

जयन्तविजय महाकाव्य में हरिराज तथा महेन्द्र का वर्णन प्रतिनायक के रूप में आया है। हरिराज सिंहल देश का भूपति है। जयन्त का सर्वप्रथम युद्ध इसी के साथ होता है। अतः यही महाकाव्य का वास्तविक प्रतिनायक है। एक दिन हरिराज का हाथी मगध की जयन्ती नगरी में चला आता है। विक्रमसिंह यह भविष्यवाणी सुनकर कि इस हाथी के प्रभाव से युवराज जयन्त खचरेश्वर होंगे, उस हाथी को पकड़ने का आदेश देते हैं और हाथी पकड़ लिया जाता है। सिंहल भूपति हाथी को वापस प्राप्त करने के लिए विक्रमसिंह को सभा में दूत भेजता है, पर विक्रमसिंह उस दैवप्रदत्त गज को वापस करने से इन्कार कर देते हैं। सिंहलनरेश शूरवीर और अभिमानी है। वह इस समाचार को सुनते ही विक्रमसिंह पर आक्रमण कर देता है। विक्रमसिंह की सभा में उसका दूत उसके वीरत्वपूर्ण व्यक्तित्व का वर्णन इन शब्दों में करता है

परत्र वीरे नरवीर का कथा न शङ्कते जातु पुरन्दरादपि।
प्रचण्डदोर्दण्डबलावलेपतस्तृणाय न त्वामपि मन्यते प्रभोः ॥[३]

अर्थात् हे नरवीर अन्य वीरों की बात ही क्या ? वह कभी पुरन्दर से भी शंकित नहीं होते और अपने प्रचण्ड भुजदण्ड के अवलेप से आपको तृण के समान भी नहीं मानते।

---

१. स्वार्थं मित्रार्थं वा धर्मादि साधयिष्यतस्तस्य।
कुल्यादिष्वन्यतमं प्रतिपक्षं वर्णयेद् गुणिनम् ॥—रुद्रट : काव्यालंकार १६/१०

२. अथ प्रतिनायक :—
लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनीरिपुः ॥—दशरूपक २/६

३. जयन्तविजय ६/४८।

वह दर्पयुक्त और उद्धत है। इसीलिए मन्त्रियों की मन्त्रणा की अवहेलना कर वह युद्ध के लिए प्रस्थान करता है क्योंकि भवितव्यता को मेटा नहीं जा सकता--

तथाप्यवज्ञाय तदीय मन्त्रितं प्रयाणमाधत्त मदोद्धतस्ततः।
अरिष्टसंसूचितमृत्युरप्यसौ विलंघ्यते कैर्भवितव्यताथवा ॥[1]

युद्ध में वह अपने सेनापति सुषेण के मारे जाने पर भी विकल नहीं होता। ऐसे अवसर पर जयन्त के प्रति कहे गये उसके ये शब्द उसके चरित्र की निर्भयता, शूरता और स्वाभिमान को व्यक्त करने में सफल हुए हैं —

अथ क्लेशावेश प्रसर विरसं सिंहलपति-
र्जगादैवं वध्यस्त्वमसि मम नासेः शिशुरिति।
सतां निस्त्रिंशोऽपि प्रभवति न हि भ्रूणहतये
प्रपद्याज्ञां तन्मे व्रज निजगृहं रन्तुमधुना ॥[2]

अर्थात् इसके बाद सिंहलपति ने कहा कि तुम मेरी तलवार से बध्य नहीं हो क्योंकि तुम बच्चे हो। सज्जनों की तलवार बाल-हत्या के लिए नहीं होती अतः मेरी आज्ञा को पाकर इस समय आराम करने के लिए अपने घर जाओ।

इस प्रकार वह उद्धत नायक के रूप में हमारे सामने आता है। धनञ्जय ने धीरोद्धत नायक के गुण जो बतलाये हैं[3] वह हमें सभी उसमें प्राप्त होते हैं। वह अन्त में जयन्त की तलवार के घाट उतरता है किन्तु उसके चरित्र-चित्रण में प्रतिनायक के चरित्र के गौरव की रक्षा हुई है।

प्रतिनायक महेन्द्र भी वीर और अहंकारी है। पवन गति से वह कनकवती की याचना करता है किन्तु जब पवनगति उसकी उपेक्षा करके अपनी पुत्री का विवाह जयन्त से कर देता है तो उसका क्रोध उद्दीप्त हो जाता है और वह पवनगति पर ससैन्य आक्रमण कर देता है। कवि ने उसके रौद्र रूप का विश्लेषण करते हुए लिखा है —

अथेति दूतादवगम्य सम्यग्विद्याधराणामधिपः प्रवृत्तिम्।
कराल कोपस्फुरदोष्ठपृष्टः क्षणादभूदभ्रूकुटि भीषणास्यः ॥[4]

अतः स्पष्ट है कि वीरता के कारण अधीनस्थ राजा के आदेश न मानने पर महेन्द्र का क्रोध प्रज्ज्वलित हुआ है। उसके होंठ फड़कने लगते हैं और भ्रुकुटि तन जाती है।

---

१. जयन्तविजय, ६/५२।
२. वही, १०/७२।
३. दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्म परायणः।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थन ॥ —दशरूपक २/५, ६।
४. जयन्तविजय, १४/१।

वह बड़ा वीर, साहसी और स्वाभिमानी है। युद्ध में उसके द्वारा छोड़े गये चक्र के भी निष्फल हो जाने पर वह हताश नहीं होता और उसी उत्साह से युद्ध करता है तथा जयन्त को तृणवत् समझता है—

श्रुत्वेति कोपान्धितधीर्नरेन्द्रःसोऽप्याह योग्योऽस्मि न तेऽधुनाऽपि।
गम्योऽस्ति गोमायुशिशोः कदाचिद् गृध्रोऽपि किं रे हरिणाधिराजः ॥[१]

इस प्रकार प्रतिनायक महेन्द्र भी वीर, साहसी, पराक्रमी और प्रतिभाशाली नृपति है।

रस

महाकाव्य में सभी रसों की योजना भी आवश्यक मानी गयी है, क्योंकि इसमें जीवन के विविध पक्षों का चित्रण होता है। इसीलिए सभी आलंकारिकों ने महाकाव्य में रस की सत्ता को स्वीकार किया है। भामह के अनुसार—महाकाव्य में सभी रसों का निर्देश पृथक्-पृथक् होना चाहिए।[२] दण्डी ने भी भामह के मत को स्वीकार किया है।[३] किन्तु महाकाव्य में सभी रसों के होने पर भी प्रधान अथवा अङ्गी रस एक ही होता है और इसी रस का परिपाक महाकाव्य में प्रमुख रूप से किया जाता है। विश्वनाथ ने शृङ्गार, वीर अथवा शान्त रस में से ही किसी एक को अङ्गी रस के रूप में मान्यता दी है तथा शेष रसों का वर्णन अङ्ग रूप में स्वीकार किया है।[४]

'जयन्तविजय' महाकाव्य का अङ्गी रस वीर है क्योंकि जयन्त की विजयों का ही वर्णन इस काव्य में हुआ है। इस रस के अतिरिक्त विभिन्न प्रसङ्गों में अन्य रसों की भी अवतारणा हुई है यथा नवम् सर्ग में विक्रम सिंह के हाथी न लौटाने के प्रसङ्ग में सिंहलि भूपति के दूत के क्रोधित होने पर रौद्र रस की योजना, श्मशान के वर्णन में वीभत्स और भयानक रस की योजना, वनक्रीड़ा एवं जलकेलि प्रसङ्गों में संयोग शृङ्गार की योजना, छठे सर्ग में अपने पुत्र शिशु जयन्त को देखकर विक्रमसिंह के हृदय में उमड़ते हुए पुत्र प्रेम में वात्सल्य रस की योजना तथा संसार की अनित्यता देखकर विक्रमसिंह के हृदय में उत्पन्न विरक्ति में शान्त रस की योजना आदि। इस प्रकार जयन्तविजय महाकाव्य में सभी रसों का यथावसर परिपाक प्रस्तुत किया गया है।

छन्द

इस काव्य में रसों के साथ ही छन्दों की अनिवार्यता पर भी बल दिया गया

---

१. जयन्तविजय, १४/१ ५।
२. युक्तं लोकस्वभावैश्चरसैश्च सकलैः पृथक्। —काव्यालंकार १/२१।
३. अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव निरन्तरम्। —काव्यादर्श १/१८।
४. शृङ्गारवीर शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक सन्धयः॥ —साहित्यदर्पण ६,३१६।

है जिसका विशद अध्ययन आगे किया जावेगा। काव्यशास्त्रियों ने कथा-प्रवाह को अविच्छिन्न बनाये रखने के लिए एक सर्ग में एक ही छन्द की योजना का विधान किया है और वह विधान भी वर्णनानुकूल होना चाहिए। तभी कवि का काव्य छन्द शास्त्र की कसौटी पर खरा माना जावेगा। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार सर्ग के अन्त में सामान्यतः वृत्त परिवर्तन पाया जाता है किन्तु कहीं-कहीं एक सर्ग में अनेक छन्दों की योजना भी होती है।[1] जयन्तविजय महाकाव्य में सामान्यतः एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। यथा—प्रथम सर्ग में उपजाति, द्वितीय सर्ग में वंशस्थ, तृतीय सर्ग में अनुष्टुप आदि। किन्तु कवि ने प्रत्येक सर्ग में छन्द-परिवर्तन भी स्वीकार किया है। यथा प्रथम सर्ग के अन्त में शार्दूल विक्रीडित, द्वितीय सर्ग के अन्त में शार्दूल विक्रीडित तथा हरिणी तथा तृतीय सर्ग के अन्त में उपजाति, मन्दाक्रान्ता, प्रमाणिका, उपेन्द्रवज्रा तथा वसन्ततिलका आदि। इस प्रकार कवि अभयदेव ने जयन्तविजय महाकाव्य की रचना में आचार्यों द्वारा निर्देश किये गये लक्षणों का पालन किया है तथा जिन छन्दों का इस महाकाव्य में प्रयोग हुआ है वे हैं—उपजाति, शार्दूल विक्रीडितम्, वंशस्थ, हरिणी, अनुष्टुप, मन्दाक्रान्ता, प्रमाणिका, उपेन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, पृथ्वी, रथोद्धता, स्रग्धरा, पुष्पिताग्रा, मालिनी, स्वागता तथा इन्द्रवज्रा।

अलङ्कार

रस यदि काव्य की आत्मा है तो अलङ्कार उसके शोभादायक आभूषणों की भाँति है। काव्य शोभा के लिए दोनों का ही महत्त्व है। इसीलिए महाकाव्य में अलङ्कारों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। भामह के अनुसार महाकाव्य की भाषा अग्राम्य शब्दार्थों वाली तथा अलङ्कारों से युक्त होनी चाहिए।[2] दण्डी ने भी भामह के इसी मत का समर्थन किया है।[3] जयन्तविजय महाकाव्य में अलंकारों का विशद तथा चारु प्रयोग है किन्तु कवि के रचना कौशल से अलङ्कार काव्य में स्वाभाविक तथा सहज निष्पन्न प्रतीत होते हैं। अलङ्कारों से न तो काव्य में कहीं दुरूहता आयी है और न ही कथा-प्रवाह में किसी प्रकार की बाधा पड़ती है। शब्दालंकारों का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में हुआ है। किन्तु चित्रालंकार का प्रयोग काव्य में कहीं पर भी नहीं हुआ है। अर्थालङ्कारों में उपमा कवि को विशेष प्रिय है। इसके अतिरिक्त उपमारूपक, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, असंगति, अपह्नुति, काव्यालिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, विभावना, श्लेष इत्यादि अलंकार काव्य को अपूर्व सौन्दर्य प्रदान करते हैं।

---

१. एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते। —साहित्यदर्पण १६/३२०-२१।

२. अग्राम्य शब्दमर्थ्यञ्च सालङ्कारं सदाश्रयम्। —काव्यालङ्कार १/१६।

३. अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव निरन्तरम्। —काव्यादर्श १/१८।

रीति

रीति भी रसाभिव्यक्ति का माध्यम है। अतः रस से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार रीति गुणों का आश्रय लेकर विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति में सहायक होती है।[1] जयन्तविजय महाकाव्य की रीति वैदर्भी है। प्रसाद गुण सर्वत्र वर्तमान है। ओज तथा माधुर्य भी यथावसर प्राप्त होते हैं। दीर्घ समासों का प्रयोग कम हुआ है जिससे अर्थ की प्रतीति सरलता से हो जाती है।

इस प्रकार जयन्तविजय महाकाव्य में महाकाव्य के समस्त लक्षण विद्यमान हैं। कथानक के प्रवाह में रोचकता है। कवि अभयदेव ने महाकाव्य के उन वर्णनों को कोई स्थान नहीं दिया है जिनके लिए कथानक में कोई अवसर नहीं है। अलङ्कारों के प्रयोग में स्वाभाविकता है। वर्णनात्मक स्थल भी पाठक की रुचि बनाये रखने में पूर्ण समर्थ हुए हैं। अतः स्पष्ट है, कि जयन्तविजय महाकाव्य संस्कृत महाकाव्य की परम्परा में प्रमुख स्थान पाने का अधिकारी है।

---

१. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन व्यनक्ति सा।
रसान ... .। —ध्वन्यालोक ३/६।

तृतीय अध्याय

'जयन्तविजय' महाकाव्य की ऐतिहासिकता

'जयन्तविजय' महाकाव्य के कथानक का स्रोत एवं गठन

महाकाव्य के कथानक के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों ने अपने मत भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त किये हैं। आचार्य भामह ने कथानक के विषय में संकेत किया है कि यह महान् व्यक्तियों के विषय में होता है।[1] दण्डी ने कथानक को इतिहास-प्रसिद्ध होना बताया है तथा उनके अनुसार इसका आश्रय कोई सज्जन व्यक्ति ही हो सकता है।[2] रुद्रट ने कथानक के उत्पाद्य और अनुत्पाद्य दो भेद बताये हैं।[3] विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य की कथा इतिहासोद्भूत अथवा किसी अन्य सज्जन पुरुष का आश्रय लेकर विरचित होती है।[4] इस प्रकार विश्वनाथ की परिभाषा आचार्य दण्डी के काफी निकट है। संस्कृत साहित्य में इतिहास से तात्पर्य महाभारत, रामायण व पुराण आदि से लिया गया है। राजशेखर ने इतिहास को दो प्रकार का बतलाया है—(१) परक्रिया, (२) पुराकल्प। इनमें से परक्रिया में एक ही नायक होता है तथा पुराकल्प में अनेक नायक होते हैं। परक्रिया का उदाहरण उन्होंने रामायण तथा पुराकल्प का उदाहरण महाभारत को माना है।[5] कौटिल्य ने इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अन्तर्भाव माना है।[6]

संस्कृत के जैन कवियों का आदर्श भी यही महाकाव्यविषयक विचारधारा रही है। अतः उनके महाकाव्यों पर इस विचारधारा का प्रभाव होना स्वाभाविक है किन्तु फिर भी अनेक स्थलों पर हमें विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं इसका प्रमुख कारण जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार है, क्योंकि जैन संस्कृत काव्यों का कथा-स्रोत वैदिक पुराणों के स्थान पर लोकप्रचलित कथाओं एवं श्रमणिक परम्परा के

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च यत् महच्चयत्। —काव्यालङ्कार १.१९।

२. इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्। —काव्यादर्श १.१५।

३. सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये।
   उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि ॥
   —रुद्रटः काव्यालंकार १६.२।

४. इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वासज्जनाश्रयम्। —साहित्य दर्पण ६.३१७।

५. परिक्रियापुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा।
   स्यादेकनायकापूर्ण द्वितीया बहुनायका ॥
   तत्र रामायणं महाभारतं चोदाहरणे। —काव्यमीमांसा पृ० ८।

६. इतिहास श्रवणे पुराणमिति वृत्तमाख्यायिकोदाहरणं।
   धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः ॥
   —कौटिल्य, अर्थशास्त्र/प्रथम अधिकरण २-४, पृ० १५।

पुराणों से संग्रहीत है। महाकवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य की कथावस्तु का आधार लोकप्रचलित कथाएँ रही हैं किन्तु फिर भी पात्रों की ऐतिहासिकता के आधार पर इसे एक मात्र लोकप्रचलित कथाओं पर ही आधारित महाकाव्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें मगध के जिम राजा विक्रमसिंह और उनके पुत्र जयन्त की विजयों का वर्णन किया गया है, वे मगध के पृथित सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय हैं।

जयन्तविजय महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में अघोरघण्ट योगी से दीक्षा लेकर एक नृपति का राज्य-प्राप्ति के लिए मान्त्रिक अनुष्ठान करना और उसमें नारी का बलिदान करने की तैयारी करना[१] ईसवी सन् की ११-१२वीं शती की तान्त्रिक परम्परा का प्रतिफल है। इसी समय कापालिक और वाममार्गी श्री पर्वत से जालंधर तक विचरण किया करते थे। इन्हें तन्त्र, मन्त्र, यक्षिणी, योगिनी, राक्षसी और पिशाची आदि देवियाँ सिद्ध थीं। ई० सन् १०८२ में गुणचन्द्र गणि विरचित 'महावीरचरियं' के चतुर्थ उल्लास में आया है कि घोर शिव तपस्वी वशीकरण आदि विद्याओं में निष्णात था। राजा नरसिंह ने उसे अपने मन्त्र बल से कोई कौतुक दिखाने की प्रार्थना की। घोर शिव ने कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के समय श्मशान में जाकर अग्नितर्पण करने के लिए राजा से कहा। श्मशान में पहुँचकर घोर शिव ने वेदिका रची, मण्डल बनाया। यह राजा का वध करना चाहता था, पर राजा ने किसी तरह इसके जाल से मुक्ति प्राप्त की।[२]

इसी प्रकार जयन्तविजय के चतुर्थ सर्ग में जब राजा विक्रमसिंह वेश परिवर्तित कर नगर में परिभ्रमण करते हैं तब एक श्मशानवासी सुर उनका मार्ग रोकता है। राजा विक्रमसिंह उस सुर को नमस्कार-मन्त्र के प्रभाव से परास्त करते हैं तथा सुर द्वारा दीन भाव से प्राणों की भिक्षा माँगने पर वे उसे छोड़ देते हैं। इस पर प्रसन्न होकर सुर विक्रमसिंह को एक ऐसा मुक्ताहार प्रदान करता है जिसके धारण करने से बन्ध्या स्त्री के भी पुत्र उत्पन्न होता है। कवि के शब्दों में श्मशानवासी सुर कहता है—

> इयमुदात्तसुताय मृगीदृशां भवति कण्ठतले विनिवेशिता।
> इति निशम्य स तां द्रुतमाददे प्रणयिनां हि समाधि विधिस्तथा ॥[३]

---

१. जयन्तविजय, ४/३७-४७।

२. घोर सिवेणावि आलिहियं मंडलं, निसन्नो तहि, निबद्धं तहिं पडमासणं, कयं सकलीकरणं, निवेशिआ नासावंसग्गे दिट्ठो, कओ पाणायामो, नायविन्दुलवोववेयं आढत्तं मंतसुभरणं, समारुढो झाणपगरिसम्मि। इओ य चिंतियं राइणा ··जं थोभकरणविहिण मरणं मह वंछइ कांड····। महावीरचरियं के चतुर्थ प्रस्ताव के रूप में पृथक् मुद्रित नरविक्रमचरित्रम् नेमि विज्ञान ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, वि० सं० २००८, पृ० १९-२०।

३. जयन्तविजय, ४।३४।

अर्थात् यह हार मृगनयनियों के कण्ठतल में पहनाये जाने पर सुन्दर सन्तान के लिए होता है। यह सुनकर उन्होंने उस हार को शीघ्र ले लिया, क्योंकि प्रेमियों में ऐसी ही समाधि विधि होती है अर्थात् ऐसा ही व्यवहार होता है।

कवि अभयदेव द्वारा प्रस्तुत यह वर्णन पौराणिक मान्यता पर आधारित है। पं० भगवानदास द्वारा सम्पादित 'समराइच्चकहा' में भी इसी प्रकार की मान्यताएँ प्राप्त होती हैं। इसमें यह बताया गया है कि मनोहरदत्त सनत्कुमार को एक 'नयन मोहन'[1] नाम का चमत्कारपूर्ण वस्त्र देता है। उस वस्त्र की यह विशेषता है कि उससे आच्छादित व्यक्ति को कोई आँखों से देख नहीं सकता है। वस्त्र का प्रयोग करते ही व्यक्ति अदृश्य हो जाता है। इस प्रकार औषधि एवं मन्त्रों के चमत्कार भी इस ग्रन्थ में अंकित हैं। 'जयन्तविजय' में सुर द्वारा प्रदत्त हार भी उक्त वस्तुओं का संस्करण मात्र ही है। आधुनिक मन्त्र या ताबीज उक्त हार का ही संक्षिप्त रूप है।

जयन्तविजय के चतुर्थ सर्ग में राजा विक्रमसिंह बलि दी जाने वाली कन्या की रक्षा करते हैं। पञ्चम सर्ग में एक सुर आकर बताता है कि वह उनकी पत्नी प्रीतिमती की ही बहन है—

देवोऽवदत्तदनु देव निवेद्यमानं
जिज्ञासितुं निजमिदं शृणु रत्नपुर्याम्।
जज्ञे जितारिनृपतेर्दुहितेन्दुमत्यां
श्रीः श्रीमतीयमनुजा तव पट्टराज्ञाः ॥[2]

आगे चलकर राजा विक्रमसिंह का विवाह भी इसी कन्या से हो जाता है। इस प्रकार प्रीतिमती का नायिका की बहन होना तथा आगे चलकर नायक के साथ उसके विवाह हो जाने की घटना रत्नावली नाटिका[3] तथा कर्पूरमञ्जरी सट्टक[4] की घटना से मिलती-जुलती है।

'रत्नावली' नाटिका में उदयन का मंत्री यौगन्धरायण अपने स्वामी का विवाह सिंहल की राजकुमारी रत्नावली से कराना चाहता है क्योंकि रत्नावली को देखकर एक सिद्ध ने यह घोषणा की थी कि जो इस कन्या से विवाह करेगा वह चक्रवर्ती

---

१. भणियं च तेण, कुमार, सकोऽयंति करिऊण गेण्हाहि एयं नयणमोहणाभिहाण पऽरयणति। मए भणियं—'की इसं कोउगं ति। तेन भणियं। इमेण पच्छाइयसरीरो न दीसह नयणेहिं पुरिसोत्ति।
—पं० भगवानदास द्वारा सम्पादित समराइच्चकहा, अहमदाबाद, पृ० ४००।
२. जयन्तविजय, ५/१०।
३. श्री हर्ष, रत्नावली, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद-२, १९६९।
४. राजशेखर कर्पूरमञ्जरी।

सम्राट् होगा किन्तु उदयन की प्रथम स्त्री वासवदत्ता के होते हुए रत्नावली के पिता ने जब इस विवाह के लिए स्वीकृति नहीं दी तो यौगन्धरायण ने वासवदत्ता के जल मरने का समाचार सिंहल पहुँचवाकर इस अभिनव विवाह के लिए सिंहल-राज को प्रस्तुत कर लिया। उसने रत्नावली को अपने कञ्चुकी और प्रधानमन्त्री के साथ कौशाम्बी के लिए प्रस्थान करा दिया। मार्ग में समुद्र में जलयान के भग्न होने पर रत्नावली और उसके संरक्षक बच तो गये किन्तु रत्नावली से उनका साथ छूट गया। रत्नावली उदयन की राजधानी कौशाम्बी में आयी और यौगन्धरायण के माध्यम से सागरिका नाम से परिचारिका के रूप में राजा के अन्तःपुर में वासवदत्ता के साथ रहने लगी। वसन्तोत्सव के समय राजा उदयन तथा सागरिका की दृष्टि एक दूसरे पर पड़ती है। दोनों काम-भावना से विह्वल हो जाते हैं किन्तु वासवदत्ता के भय से परस्पर मिल नहीं पाते। वासवदत्ता को भी इस बात की जानकारी हो जाती है अतः सागरिका को एकान्त स्थान में रख देती है। एक दिन एक ऐन्द्रजालिक आकर अपना जाल बिखेरता है। इस पर रानी भयभीत होकर उदयन से सागरिका की रक्षा के लिए कहती है। राजा उदयन सागरिका की रक्षा करते हैं। उधर सिंहलराज का मन्त्री वसुभूति भी वहाँ आ जाता है और रत्नावली पहचान ली जाती है। इसी बीच यौगन्धरायण आकर अपनी योजना के लिए क्षमा माँगता है। रानी वासवदत्ता अपनी बहन रत्नावली को गले लगा लेती है और अपने आभूषणों से सुसज्जित करके उसका हाथ राजा को पकड़ाते हुए कहती है कि वह रत्नावली के साथ ऐसा स्नेहिल व्यवहार करें जिससे वह दूरस्थ बन्धुओं को भूली रहे।

इसी प्रकार 'कर्पूरमञ्जरी' सट्टक में कर्पूरमञ्जरी राजा चन्द्रपाल की रानी विभ्रमलेखा की बहन है। एक दिन राजसभा में भैरवानन्द नामक एक अद्भुत योगी आता है। राजा चन्द्रपाल योगी से कोई आश्चर्य दिखाने का अनुरोध करते हैं। विदूषक की सलाह से विदर्भ नगर की राजकुमारी को भैरवानन्द अपनी योग शक्ति से सबके सामने ला दिखाता है। राजा चन्द्रपाल उसके अनुपम सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं और उससे प्रेम करने लगते हैं। यह राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी रानी विभ्रमलेखा की मौसी शशिप्रभा और मौसा बल्लभराज की पुत्री है। विदूषक के पूछने पर वह अपना परिचय देती है।

नायिका—अत्थि एत्थ बिदबभं णाम णअरं कुंतलेषु, तहिं सअलजण बल्लहो बल्लहराओ णाम राजा।

(कुन्तल देश में विदर्भ नाम का नगर है। वहाँ सर्वजनप्रिय बल्लभ नाम का राजा है)

देवी—(स्वगतम्) जो मह माउस्सिआए पई होई। (जो मेरी मौसी के पति हैं)

नायिका—तस्स घरिणी ससिप्पहा णाम। (उनकी रानी का नाम शशिप्रभा है।)

देवी—(स्वगतम्) सावि में माउस्सिआ। (वह भी मेरी मौसी हैं।)

नायिका—तेहिं अहं उप्पण्णेत्ति। (उनसे मैं उप्पन्न हुई हूँ।)

देवी—(स्वगतम्) ण क्खु ससिप्पहागबभुप्पत्तियंतरेण ईदिसी रुअरेहा होदि। ण क्खु बेहुरिअ भूमिगब भुप्पत्तिमंतरेण वेदुरिअमणिसलाआ णिप्पजई (प्रकाशम्) णं तुमं कप्पूर मञ्जरी? देवी (मन में) इस तरह की सुन्दर रूपरेखा शशिप्रभा के गर्भ के अतिरिक्त और कहीं से उत्पन्न नहीं हो सकती। विदूर्यमणि, वैदूर्यमणि की खान से ही निकल सकती है (प्रकाश में) तो तुम क्या कर्पूरमञ्जरी हो?

नायिका सलज्जमधो मुखी तिष्ठति (नायिका लज्जा के साथ मुख नीचा किये रहती है।)

देवी—एहि वहिणिए! आलिंगेसु मं (इति परिष्वजते)।

(देवी, आओ बहिन! मुझसे मिलो तो) (आलिंगन करती है।)

रानी विभ्रमलेखा बहन को पाकर अत्यधिक प्रसन्न होती है। और भैरवानन्द से कहकर कर्पूरमञ्जरी को कुछ दिन के लिए रोक लेती है। कुछ समय पश्चात् कर्पूरमञ्जरी भी राजा से प्रेम करने लगती है। रानी को जब यह पता चलता है तो वह उसे कठोर नियन्त्रण में रखती है किन्तु वह भैरवानन्द से दीक्षा ले लेती है और योगीश्वर भैरवानन्द से गुरुदक्षिणा के लिए आग्रह करती है। भैरवानन्द लाट देश के राजा चण्डसेन की पुत्री घनसार मञ्जरी का राजा से विवाह कराने को कहता है, क्योंकि ज्योतिषियों ने उसे चक्रवर्ती राजा की रानी होना बताया है। वह कहता है कि इस प्रकार महाराज भी चक्रवर्ती हो जावेंगे और मुझे भी दक्षिणा मिल जावेगी। रानी घनसार मञ्जरी को कर्पूरमञ्जरी से भिन्न कोई स्त्री समझती है। राजा का विवाह घनसार मञ्जरी से हो जाता है किन्तु यह घनसार मञ्जरी कर्पूरमञ्जरी ही होती है। अन्त में यह भेद खुल जाता है।

इसी प्रकार सिंहलभूपति के हाथी को विक्रमसिंह के द्वारा रोका जाना तथा हाथी में दैवी चमत्कारों का समारोप करना भास के नाटकों[1] एवं प्राचीन प्रचलित अन्धविश्वासपूर्ण चमत्कारों का ही प्रभाव प्रतीत होता है। जयन्तविजय महाकाव्य के नवम सर्ग में वर्णन इस प्रकार आता है कि एक दिन सिंहलभूपति हरिराज का हाथी भाग जाता है और वह मगध की नगरी जयन्ती में आ जाता है। राजा विक्रमसिंह को यह भविष्यवाणी सुनायी पड़ती है कि इस हाथी के प्रभाव से युवराज जयन्त खचरेश्वर होंगे। कवि अभयदेव के शब्दों में—

१. Sanskrit Drama, A. B. Keith, Oxford 1924, p. 102.

तदन्तरे श्रौतसुखैक पारणामिवादधद्भूमिपतेर्जनस्य च ।
वचो वरादित्युदियाय दैवतं तवैष भावी खचरेश्वरः सुतः ।।
शुभोदयादस्य वशंवदात्मना मयार्पितोऽत्रैष चकास्तु कुञ्जरः ।
उदन्वता श्रीकुचकुम्भलालिते हरेर्यथा वक्षसि कौस्तुभो मणिः ।।
अयं गजः सिंहलदेशभूपतेरभंगुरैस्तैः सुकृतैः समाहृतः ।
गृहाङ्गणं प्राप मम प्रभावतो गृहाण तं भो निगृहाण विद्विषः ।।[1]

अर्थात् इसके बाद भूमिपति विक्रमसिंह तथा अन्य लोगों के कानों को सुख देने वाली देववाणी इस तरह से सुनायी पड़ी कि तुम्हारा यह पुत्र भावी स्वर्ग का स्वामी होगा । इसके सौभाग्योदय के कारण वशीभूत आत्मा वाले मुझसे समर्पित, लक्ष्मी के कुचकुम्भ से सुशोभित हरि के वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि के समान, यह कुञ्जर यहाँ पर सुशोभित है । यह हाथी सिंहलदेश के राजा का है जो उसके पुण्यों के क्षीण होने पर मेरे प्रभाव से आपके गृहाङ्गण में प्राप्त हुआ है अतः इसको पकड़कर शत्रुता ग्रहण कीजिए ।

राजा विक्रमसिंह इस प्रकार भविष्यवाणी सुनते ही उस हाथी को पकड़ कर उसकी पूजा करते हैं —

शशाम यावत्तद मानवं वचो महीपतिस्तावदिभेन्द्रमात्मना ।
सुगन्ध धूपप्रसवैरपूजयज्जयास्पदं चक्रमिवाशु चक्रभृत् ।।[2]

अर्थात् जब तक वह देववाणी समाप्त हुई तब तक राजा ने अपने आप विजयसूचक चक्ररूप उस गजराज की सुगन्धित धूप से विष्णु की भाँति पूजा की ।

सिंहलभूपति हरिराज के इस गजराज की भाँति ही नाटककार भास के 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण'[3] नामक नाटक में हाथी में चमत्कारों का वर्णन प्राप्त होता है । नाटक के प्रथम अङ्क में उदयन बिना किसी को सूचित किये हुए प्रातःकाल नागवन को जाकर वहाँ एक नीला हाथी देखते हैं और उसे चक्रवर्ती हाथी समझकर पकड़ने का प्रयास करते हैं । किन्तु वह एक कृत्रिम हाथी है क्योंकि हाथी के पास में जाने पर उसमें से अस्त्रधारी योद्धा निकल पड़ते हैं । उदयन इसे प्रद्योत का कपट समझते हैं और अपने सीमित सैनिकों के साथ वहाँ युद्ध करते हैं किन्तु शत्रु की प्रबल सेना के द्वारा वे बन्दी बना लिए जाते हैं। इधर यौगन्धरायण को जब यह पता चलता है तो वह प्रतिज्ञा करता है कि—

१. जयन्तविजय, ६/६-११ ।
२. वही, ६/१२ ।
३. भास नाटक चक्र, भाग २ ।

सुभद्रामिव गाण्डीवी नागः पद्मलतामिव ।
यदि तां न हरेद् राजा नास्मि यौगन्धरायणः ॥[1]

अर्थात् जिस प्रकार कमलवल्ली को हाथी सहज ही तोड़ डालता है और सुभद्रा को अर्जुन लेकर भागे थे उसी प्रकार यदि राजा उस (प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता) को न हर लें तो मैं यौगन्धरायण नहीं ।

अपि च—

यदि तां चैव तं चैव तां चैवायतलोचनाम् ।
नाहरामि नृपं चैव नास्मि यौगन्धरायणः ॥[2]

अर्थात् यदि मैं उस (घोषवती वीणा) को, नलागिरि हाथी को, उस विशाल नयन वाली (वासवदत्ता का) तथा राजा (वत्सराज) को हर कर (कौशाम्बी) न ले जाऊँ तो मेरा यौगन्धरायण नाम नहीं ।

नाटक के चतुर्थ अङ्क में यौगन्धरायण अपनी युक्तियों द्वारा अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लेता है तथा नलागिरि हाथी के प्रभाव से उदयन चक्रवर्ती सम्राट् बनता है । इस प्रकार जयन्त विजयकार कवि अभयदेव ने अपने महाकाव्य में भास के 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' नाटक से हाथी में चमत्कारों की भावना को ग्रहण किया है । 'जयन्तविजय' में भी हाथी वापस न करने पर हरिराज तथा जयन्त के मध्य युद्ध होता है किन्तु हाथी के प्रभाव से जय लक्ष्मी जयन्त को प्राप्त होती है तथा आगे चलकर वे चक्रवर्ती सम्राट् बनते हैं ।[3]

जयन्त का सेना से अदृश्य होना और पवनगति की पुत्री कनकवती से उनका विवाह होना वर्धमान कवि द्वारा विरचित वरांगचरित[4] से लिया गया है । वरांग-चरित में राजा धर्मसेन अपने पुत्र वरांग के श्रेष्ठ गुणों की प्रशंसा सुनकर अपने अन्य पुत्रों के रहते हुये भी उन्हें युवराज बना देते हैं । किन्तु वरांग के इस अभ्युदय से उनकी सौतेली माता मृगसेना तथा सौतेले भाई सुषेण को ईर्ष्या होती है और वे सुबुद्धि मन्त्री से मिलकर षड्यन्त्र करते हैं । मन्त्री के द्वारा शिक्षित घोड़ा वरांग को दिया जाता है । वरांग उस घोड़े पर जैसे ही बैठते हैं कि वह घोड़ा हवा से बातें करने लगता है । वह नदी, सरोवर, वन, अटवी को पार करता हुआ आगे बढ़ता है तथा एक कुएँ में वरांग को गिरा देता है । वरांग कुएँ से किसी प्रकार बाहर

---

१. भास नाटक चक्र, भाग २, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, ३/८ ।
२. वही, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, ३/९ ।
३. जयन्तविजय, सर्ग १०-११ ।
४. यह महाकाव्य मराठी अनुवाद सहित पं० जिनदास पार्श्वनाथ फड़कुले द्वारा सम्पादित होकर राव जी सखाराम दोशी, सोलापुर द्वारा सन् १९२७ में प्रकाशित है ।

निकलते हैं तथा अनेक विघ्न-बाधाओं से अपने प्राणों की रक्षा करते हुए सागरवृद्धि के वजीर से मिल जाते हैं तथा वहीं डाकुओं एवं सार्थवाहों के युद्ध में सागरवृद्धि की सहायता कर ललितपुर में ही रहने लगते हैं। इधर राजा धर्मसेन वरांग के गायब हो जाने से अत्यन्त दुःखी होते हैं। एक दिन मथुराधिपति इन्द्रसेन का पुत्र उपेन्द्रसेन ललितपुर के नृपति से अप्रतिमल्ल नामक हाथी माँगता है किन्तु उनके न देने पर वह क्रुद्ध होकर ललितपुर पर आक्रमण कर देता है। दोनों में घमासान युद्ध होने पर वरांग की सहायता से ललितपुर का राजा विजयी होता है। ललितपुर का नृपति कुमार वरांग के बल-पराक्रम से प्रसन्न होकर उन्हें अपनी कन्या सुनन्दा और आधा राज्य प्रदान करता है। इधर वरांग के लुप्त हो जाने पर उनका सौतेला भाई सुषेण उत्तमपुर का राज्य सँभालता है किन्तु अपनी अयोग्यता के कारण शासन में असफल रहता है। उसकी इस दुर्बलता तथा धर्मसेन के बुढ़ापे का अनुचित लाभ उठा कर वकुलाधिपति उत्तमपुर पर आक्रमण कर देता है। धर्मसेन ललित-पुराधिपति से सहायता माँगता है। वरांग इस अवसर पर जाकर वकुलाधिपति के दाँत खट्टे करते हैं। उत्तमपुर की जनता वरांग का स्वागत करती है तथा पिता-पुत्र का मिलन होता है।

कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय'[1] महाकाव्य में भी इसी प्रकार का प्रसंग आता है कि दिग्विजय के उपरान्त सेना के मध्य से जयन्त अदृश्य हो जाते हैं जिससे महाराज विक्रमसिंह बहुत विकल होते हैं। विद्याधर नरेश महेन्द्र अपने पुत्र के लिए गगन विलासपुर के राजा पवनगति से उसकी पुत्री कनकवती की याचना करता है। पर पवनगति उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर देता है। कनकवती अनुरूप वर की प्राप्ति के लिए शासन देवता की आराधना करती है। प्रसन्न होकर शासन देवता उसके लिए जयन्त का अपहरण करके जिन मन्दिर पर ले जाती है। यहाँ जयन्त जिनबिम्बि के दर्शन कर धर्मसूरि की देशना सुनते हैं और श्रावक धर्म स्वीकार करते हैं। एक दिन उपवन में जयन्त और कनकवती एक दूसरे को देखते हैं तथा परस्पर मुग्ध हो जाते हैं। पवनगति भी कनकवती का विवाह जयन्त के साथ कर देता है, किन्तु जब महेन्द्र चक्रवर्ती को यह ज्ञात होता है कि पवनगति ने उसके पुत्र की उपेक्षा कर अपनी पुत्री का विवाह जयन्त से कर दिया है तो वह पवनगति पर आक्रमण कर देता है। युद्ध में जयन्त की तलवार से महेन्द्र की मृत्यु होती है। जयन्त महेन्द्र पुत्र को करद बनाकर पवनगति के साथ अपने नगर को लौट आते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि अभयदेव ने यह कथानक वरांगचरित से लिया है क्योंकि 'वरांगचरित' में मन्त्री सुबुद्धि कुमार वरांग का अपहरण एक घोड़े

१. जयन्तविजय, सर्ग १२-१४।

को सिखाकर करवाता है तथा 'जयन्तविजय' में जयन्त का अपहरण शासन देवता के द्वारा होता है। 'वरांगचरित' में वरांग का विवाह अपहरण काल में होता है क्योंकि ललितपुराधीश अपनी कन्या का विवाह कुमार वरांग के बल-पराक्रम से सन्तुष्ट होकर करता है तथा जयन्तविजय में भी जयन्त का विवाह अपहरण काल में होता है। जयन्त भी अपने श्वसुर पवनगति को महेन्द्र चक्रवर्ती का वध करके सन्तुष्ट करते हैं।

जयन्त का दिग्विजय के लिए प्रस्थान करना एवं रति सुन्दरी के स्वयंवर में जाना जिनसेन के महापुराण[१] और कालिदास के रघुवंश[२] से ग्रहीत है। महापुराण में कथानक इस प्रकार आता है कि भरत दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते हैं[३] और सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर जाते हैं।[४] मार्ग में अनेक मण्डलेश्वर उन्हें प्रणाम करते हैं।[५] भरत अपने पास आये हुए राजाओं की भेंट स्वीकार कर आगे बढ़ जाते हैं।[६] भील जंगली हाथियों के दाँत और मोती भेंटकर उनके दर्शन करते हैं।[७] म्लेच्छ राजा उन्हें चमरी गाय के बाल तथा कस्तूरी मृग की नाभि देते हैं।[८] आगे चलकर वे अन्तपालों के लाखों किले अपने वश में करते हैं।[९] इसके बाद वे गङ्गा नदी के तट पर होते हुए समुद्र पर पहुँचते हैं।[१०] मागधदेव चक्रवर्ती भी अपना गर्व छोड़कर हार एवं कुण्डल भेंट करता है[११] तथा उनकी रत्नों से पूजा करता है।[१२] पूर्व दिशा को जीतने के बाद भरत जिनेन्द्र देव की पूजा कर दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं।[१३] मार्ग में अनेक शत्रु राजा गण अपना सर्वस्व देकर उन्हें प्रणाम करते हैं तथा अपनी अधीनता स्वीकार करते हैं।[१४] इसके बाद उत्तम-उत्तम मणियों को भेंट कर नमस्कार करते हुए अंग देश के राजाओं पर, ऊँचे हाथियों को भेंट कर नमस्कार करते हुए वंग देश के राजाओं पर और मणि तथा हाथी दोनों भेंट करते हुए कलिंग देश के राजाओं पर भरत बहुत प्रसन्न होते हैं।[१५] तदनन्तर वे कुरु, अवन्ती, पांचाल, काशी, कोशल और विदर्भ देश के राजाओं को जीतते हैं[१६] तथा मद्र, कच्छ, चेदि, वत्स, सुह्म, पुण्ड, औण्ड और गौड़ देशों में उनकी विजय-घोषणा

---

१. महापुराण, ज्ञानपीठ० १६५१, पर्व २८-३७।
२. रघुवंश, रघु दिग्विजय चतुर्थ सर्ग एवं इन्दुमती स्वयंवर षष्ठ सर्ग।
३. महापुराण २८/१।
४. वही, २८/५।
५. वही, २८/२४।
६. वही, २८/२६।
७. वही, २८/३७।
८. वही, २८/४२।
९. वही, २८/४३।
१०. वही २८/४५।
११. वही, २८/१६५।
१२. वही, २८/१६६।
१३. वही, २६/१।
१४. वही, २६/१२-३७।
१५. वही, २६/३८।
१६. वही, २६/४०।

सुनायी जाती है ।[1] इसके बाद वे दक्षिण में त्रिकलिंग, औद्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेट और पन्नग देशों को जीतते हैं[2] तथा कूट, ओलिक, महिष, पाण्ड्य और अन्तर पाण्ड्य देश के राजाओं को दण्ड रत्न के द्वारा अपने वशीभूत करते हैं।[3] फिर महेन्द्र पर्वत का उल्लंघन कर विन्ध्याचल के समीपवर्ती प्रदेशों को जीतते हुए नाग पर्वत पर चढ़कर मलय पर्वत पर पहुँचते हैं ।[4] दक्षिण दिशा के राजाओं को जीतने के बाद वे पश्चिम दिशा की ओर मुड़ जाते हैं[5] तथा मार्ग में किन्नरियों के द्वारा गाया जाता हुआ अपना यशगान सुनते हैं ।[6] विन्ध्याचल के वनों में निवास करने वाले राजा गण उन्हें बड़ी-बड़ी औषधियाँ भेंटकर दर्शन करते हैं ।[7] काम्बोज, वाह्लीक तथा सैन्धव आदि देशों के राजा भी उन्हें घोड़े देते हैं ।[8] वे मार्ग में पहाड़ी राजाओं को जीतते हैं ।[9] इसके पश्चात् उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं[10] तथा विजयार्ध पर्वत पर पहुँचते हैं ।[11] विजयार्ध देव भी चक्रवर्ती को नमस्कार कर उनकी अधीनता स्वीकार करता है तथा रत्न भेंट करता है ।[12] आगे चलकर उनका सेनापति म्लेच्छ राजाओं को वश में करता हैं ।[13] मार्ग में देवगण उनके पराक्रम से सन्तुष्ट होकर पुष्पों की वर्षा करते हैं ।[14] आगे वे हेमकूट पर्वत पर जाकर किन्नरों के द्वारा गाये जाते हुए अपने यश को सुनते हैं ।[15] इस प्रकार अपने पुण्यों से भरत हिमालय से लेकर पूर्व दिशा के समुद्र तक तथा दक्षिण समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने वश में करते हैं[16] और दिग्विजयोपरान्त अपनी नगरी अयोध्या को वापस लौटते हैं ।[17]

इसी प्रकार कालिदास विरचित 'रघुवंश' महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में रघु की दिग्विजय का वर्णन किया गया है । रघु भी सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं तथा मार्ग में राजाओं को पराजित करते हैं ।[18] इसके बाद वे समुद्र तट पर पहुँचते हैं ।[19] यहाँ पर सुम्ह देश के राजा अपना अभिमान त्याग कर रघु की अधीनता स्वीकार करते हैं ।[20] बंग राजाओं को पराजित करने के पश्चात् वे अपनी

---

१. महापुराण, २६/४१ ।
२. वही, २६/७६ ।
३. वही, २६/८० ।
४. वही, २६/८८ ।
५. वही, ३०/१ ।
६. वही, ३०/२६ ।
७. वही, ३०/६२ ।
८. वही, ३०/१०७-१०८ ।
९. वही, ३०/११० ।
१०. वही, ३१/१ ।
११. वही, ३२/३२ ।
१२. वही, ३२/४०-४२, ४८ ।
१३. वही,३२/१३४ ।
१४. वही, ३२/८८ ।
१५. वही, ३२/१३८ ।
१६. वही, ३२/१९९ ।
१७. वही, ३३/१ ।
१८. रघुवंश, ४/३३ ।
१९. वही, ४/३४ ।
२०. वही, ४।३५ ।

विजय का झण्डा गाड़ देते हैं।[1] मार्ग में वे उन राजाओं को पुनः प्रतिष्ठित कर देते हैं जो उनकी शरण में आकर धन भेंट करते हैं।[2] आगे चलकर वे हाथियों का पुल बनाकर कपिशा नदी को पार करते हैं।[3] यहाँ पर उड़ीसा के राजा आकर उनकी अधीनता स्वीकार कर कलिङ्ग देश का मार्ग बताते हैं। रघु कलिङ्ग देश को जीतने के लिए आगे बढ़ जाते हैं।[4] महेन्द्र पर्वत पर पहुँच कर वे अपना पड़ाव डालते हैं।[5] तदनन्तर कलिङ्गराज से युद्ध कर विजय लक्ष्मी प्राप्त करते हैं।[6] महेन्द्र राज के अधीनता स्वीकार करने पर वह उन्हें छोड़ देते हैं।[7] पूर्व दिशा को जीतने के बाद रघु दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं।[8] मलयगिरि पर पहुँच कर वह दक्षिण के पाण्ड्य नरेशों को जीतकर उनकी भेंट स्वीकार करते हैं।[9] इसके पश्चात् पश्चिम के राजाओं से कर ग्रहण करते हैं किन्तु पश्चिम के घुड़सवार राजाओं से उनका युद्ध भी होता है। युद्ध में विजय रघु की होती है तथा पराजित राजा रघु की शरण में आ जाते हैं।[10] पश्चिम दिशा के बाद रघु उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं और हूण तथा कम्बोज नरेशों को परास्त करते हैं।[11] कम्बोज नरेश रघु को बहुत से घोड़े तथा धन भेंट स्वरूप देते हैं।[12] इसके पश्चात् रघु हिमालय पर्वत पर जाते हैं तथा पहाड़ियों को परास्त करते हैं।[13] किन्नरगण रघु की वीरता का गान करते हैं।[14] पहाड़ी राजा रघु को रत्न भेंट करते हैं।[15] तदनन्तर रघु वहाँ से असम की ओर प्रस्थान करते हैं। असम के राजा हाथी भेंट कर रत्नों से उनकी पूजा करते हैं।[16] इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने के बाद रघु अयोध्या नगरी की ओर लौटते हैं।[17]

इस प्रकार जिनसेन द्वारा 'महापुराण' में वर्णित भरत तथा कालिदास द्वारा 'रघुवंश' में वर्णित रघु के दिग्विजय के आधार पर ही कवि अभयदेव ने भी अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में जयन्त की दिग्विजय का वर्णन किया है। भरत तथा रघु की भाँति जयन्त भी सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं।[18] मार्ग में अनेक राजा अपना सर्वस्व दान कर तथा अभिमान छोड़कर उनकी शरण लेते हैं।[19]

---

१. जयन्तविजय, ४/३६।
२. वही, ४/३७।
३. वही, ४/३८।
४. वही, ४/३८।
५. वही, ४/३९।
६. वही, ४/४०-४१।
७. वही, ४/४३।
८. वही, ४/४४।
९. वही, ४/४६-५०।
१०. वही, ४/५८-६४।
११. वही, ४/६६।
१२. वही, ४/६८-६९।
१३. वही, ४/७०।
१४. वही, ४/७८।
१५ वही, ४/७९।
१६. वही, ४/८३-८४।
१७. वही, ४/८५।
१८. वही, ११/२।
१९. वही, ११/७।

वे सर्वप्रथम पूर्वीय पर्वतों की तटी में निवास करने वाले भिल्लों को जीतते हैं।[1] इसके पश्चात् सुह्मानों के तेज को नष्ट करते हैं।[2] उनके पराक्रम से भयभीत होकर गौड़ उन्हें हाथी भेंटकर अपनी अधीनता स्वीकार करते हैं।[3] इस प्रकार वे अपने शत्रुओं को शान्त करते हुए समुद्र तट पर पहुँचते हैं।[4] यहीं पर वे बंग देश के भूपालों को पराजित कर अपने जयस्तम्भों की स्थापना करते हैं।[5] इसके पश्चात् वे अपने प्रताप से कपिशा नदी को सुखाते हुए कलिङ्ग राज की ओर प्रस्थान करते हैं तथा महेन्द्र पर्वत पर जाकर उन्हें परास्त करते हैं।[6] रानियों द्वारा भिक्षा माँगने पर वे उनके पुत्रों को राज्य पर अभिषिक्त कर दक्षिण दिशा की ओर बढ़ जाते हैं।[7] आगे चलने पर वे रेवा नदी पर पहुँचते हैं तथा वहाँ पर किन्नरियों के द्वारा गाये जाते हुए अपने यश को सुनते हैं।[8] रेवा नदी में उनके हाथी स्नान करते हैं।[9] इसके पश्चात् वे केरल की ओर प्रस्थान करते हैं तथा केरल निवासी अपनी पराजय स्वीकार कर उन्हें प्रणाम करते हैं।[10] आगे वे मलयानिल पर्वत की ओर प्रस्थान करते हैं और पराक्रम से पर्वतीयों को जीत कर उपायन स्वीकार करते हैं।[11] इसके बाद वे पाण्डु देश की ओर मुड़ते हैं और पाण्डु नरेश को पराजित कर युद्ध की चरितार्थता को सिद्ध करते हैं।[12] वे ताम्रपर्णी नदी पर पहुँचते हैं।[13] काञ्ची नरेश अपने को असहाय पाकर उन्हें अपना सर्वस्व भेंट कर उनके शासन को स्वीकार करता है।[14] तदनन्तर वे कर्णाटक[15] तथा लङ्का[16] पर विजय प्राप्त करते हैं और पश्चिम दिशा की ओर मुड़ जाते हैं।[17] यहाँ पर उनका युद्ध पश्चिम देश के वासियों से होता है।[18] किन्तु अन्त में विजय-लक्ष्मी जयन्त को प्राप्त होती है।[19] इसी समय उनके पराक्रम से सन्तुष्ट होकर देवता लोग आकाश से पुष्प वृष्टि करते हैं।[20] इस प्रकार पश्चिम दिशा को जीत कर[21] वे उत्तर दिशा[22] की ओर प्रस्थान करते हैं तथा हूणों को पराजित करते हैं।[23] इसके बाद वे हिमालय पर्वत पर पहुँचते हैं।[24] यहाँ पर व वनेचरों को जीतते हैं तथा वे वनेचर हाथ जोड़ते हुए उन्हें मणि, सुवर्ण,

१. जयन्तविजय, ११/८।
२. वही, ११/९।
३. वही, ११/१०।
४ वही, ११/११।
५. वही, ११/१५।
६. वही, ११/१७, १८, २०-२२।
७. वही, ११/२३।
८. वही, ११/२९।
९. वही, ११/३१।
१०. वही, ११/३२, ३६।
११. वही, ११/३७, ४२।
१२. वही, ११/४४, ४६, ४७।
१३. वही, ११/४९।
१४. वही, ११/५४।
१५. वही, ११/५८।
१६. वही, ११/५९।
१७. वही, ११/६२।
१८. वही, १८/६८-७४।
१९. वही, ११/७५।
२०. वही, ११/७६।
२१. वही, ११/७७।
२२. वही, ११/७८।
२३. वही, ११/८३।
२४. वही, ११/८४।

तथा रत्न भेंट करते हैं।[1] तदनन्तर वे कामराज से सम्मानित होते हुए जयन्ती नगरी की ओर लौटते हैं।[2]

अतः स्पष्ट है, कि कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में जो जयन्त की दिग्विजय का वर्णन किया है उसका आधार जिनसेन के 'महापुराण' में वर्णित भरत की दिग्विजय तथा कालिदास के 'रघुवंश' में वर्णित रघु की दिग्विजय रही है। भरत तथा रघु जिस प्रकार दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा के राजाओं को जीतकर अपनी नगरी अयोध्या को वापस आते हैं। ठीक उसी प्रकार जयन्त भी दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा के उन्हीं राजाओं को जीतकर अपनी नगरी जयन्ती को वापस आते हैं।

'जयन्तविजय' महाकाव्य के षोडश सर्ग में वर्णित रतिसुन्दरी के स्वयंवर का आधार भी 'रघुवंश' महाकाव्य के षष्ठ सर्ग में वर्णित इन्दुमती का स्वयंवर रहा है। 'रघुवंश' महाकाव्य में विदर्भ देश का राजा भोज अपनी बहन इन्दुमती के स्वयंवर में अज को बुलाने के लिए अपना दूत रघु के पास भेजते हैं।[3] रघु अपने पुत्र अज को विदर्भ देश के लिए विदा करते हैं।[4] मार्ग में विदर्भराज अज का स्वागत करते हैं[5] तथा सम्मान सहित अपनी नगरी में ले आते हैं।[6] दूसरे दिन प्रातःकाल सूतों के पुत्र अज को स्तुति करके जगाते हैं।[7] अज प्रातःकाल की क्रियाएँ कर तैयार होकर स्वयंवर देखने जाते हैं।[8] अज को स्वयंवर में आया हुआ देखकर अन्य राजागण इन्दुमती को पाने की आशा छोड़ देते हैं।[9] अज राजा भोज द्वारा निर्दिष्ट स्वर्ण-निर्मित उच्च सिंहासन पर बैठते हैं।[10] इसी बीच इन्दुमती पालकी पर चढ़कर स्वयंवर भूमि में आती हैं।[11] इन्दुमती को देखकर राजागण अपनी शृङ्गारिक चेष्टाएँ व्यक्त करते हैं।[12] इसी बीच प्रतिहारी सुनन्दा इन्दुमती को उन राजाओं का क्रमशः परिचय देती है।[13] सुनन्दा राजकुमारी इन्दुमती को एक राजा से दूसरे राजा के पास लेकर उसी प्रकार बढ़ जाती है जिस प्रकार वायु से उठी हुई लहर के सहारे मानसरोवर की हंसिनी एक कमल से दूसरे कमल तक पहुँच जाती है।[14] सुनन्दा अन्य राजाओं का भी परिचय देती है किन्तु इन्दुमती आगे ही

---

१. जयन्तविजय, ११/८८-८९।
२. वही, ११/९२।
३. रघुवंश, ५/३९।
४. वही, ५/४०।
५. वही, ५/६१।
६. वही, ५/६२।
७. वही, ५/६५-७५।
८. वही, ५/७६।
९. वही, ६/२।
१०. वही, ६/३-४।
११. वही, ६/१०।
१२. वही, ६/११-१९।
१३. वही, ६/२२-२५।
१४. वही, ६/२६।

बढ़ती रहती है ।[१] जिस प्रकार राजमार्ग पर चलने वाला दीपक पीछे के महलों पर अँधेरा छोड़ जाता है ठीक उसी प्रकार जिन-जिन राजाओं को छोड़ कर इन्दुमती आगे बढ़ जाती है । उनका मुख उदास हो जाता है ।[२] इन्दुमती अज को देखकर रुक जाती है ।[३] सुनन्दा इन्दुमती के मन की बात को जान कर अज के कुल, रूप, यौवन की भूरि-भूरि प्रशंसा करती है ।[४] वह अज से विवाह भी करने को कहती है ।[५] इन्दुमती अज के गले में जयमाल डाल देती है ।[६] नगरवासी इन्दुमती की प्रशंसा करते हैं किन्तु अन्य राजा उनकी बातों को सुनकर मन ही मन कुढ़ते हैं ।[७] इन्दुमती का विवाह अज के साथ हो जाता है ।[८] अज अपनी पत्नी के साथ अयोध्या लौटते हैं ।

इसी प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य के षोडश सर्ग में एक दिन हस्तिनापुर के राजा वैरिसिंह का दूत आकर सूचना देता है कि रतिसुन्दरी का स्वयंवर होने वाला है ।[९] स्वयंवर में यद्यपि अनेक राजाओं को आमन्त्रित किया गया है[१०] किन्तु रतिसुन्दरी जयन्त को चाहती है ।[११] विक्रम सिंह जयन्त को भेजते हैं ।[१२] जयन्त अपनी सेनाओं के भार से पृथ्वी को नत करते हुए वैरिसिंह की राजधानी की ओर प्रस्थान करते हैं ।[१३] जयन्त को आया हुआ जान कर मार्ग में वैरिसिंह उनकी अगवानी के लिए जाते हैं और सम्मान सहित अपनी पुरी में ले आते हैं ।[१४] दूसरे दिन प्रातः काल बन्दियों की ध्वनि से जग कर जयन्त स्वयंवर देखने के लिए तैयार होते हैं[१५] तथा स्वयंवर मण्डप में जाते हैं ।[१६] वहाँ पर वैरिसिंह द्वारा निर्दिष्ट स्वर्ण निर्मित उच्च सिंहासन पर बैठते हैं ।[१७] इसी बीच मागधों के मांगलिक गीतों एवं वाद्यों के साथ रतिसुन्दरी स्वयंवर में प्रवेश करती है ।[१८] युवराज जयन्त को स्वयंवर मण्डप में आया हुआ देखकर राजा लोग उसकी प्राप्ति की अभिलाषा अपने मन से निकाल देते हैं ।[१९] किन्तु फिर भी कुछ राजागण उसे देखकर अपनी शृङ्गारिक चेष्टाएँ व्यक्त करते हैं ।[२०] इसी समय बन्दियों की आवाज को रोककर वेत्रधारी क्रमशः उन राजाओं का परिचय देती है ।[२१] किन्तु पसन्द न आने के कारण वेत्रधारी रति-

१. जयन्तविजय, ६/२७-६६ ।
२. वही, ६/६७ ।
३. वही, ६/६९ ।
४. वही, ६/७०-७८ ।
५. वही, ६/७९ ।
६. वही, ६/८३ ।
७. वही, ६/८५ ।
८. वही, ७/१ ।
९. वही, १६/१-७ ।
१०. वही, १६/८ ।
११ वही, १६/९ ।
१२. वही, १६/११ ।
१३. वही, १६/१२ ।
१४. वही, १६/१५-१७ ।
१५. वही, १६/२० ।
१६. वही, १६-२२ ।
१७. वही, १६/२३ ।
१८. वही, १६/२७, २८, ३५ ।
१९. वही, १६/३६ ।
२०. वही, १६/३८-४६ ।
२१. वही, १६/४७-५७ ।

सुन्दरी को शीघ्र ही एक राजा से दूसरे राजा के सामने उसी प्रकार ले जाती है जिस प्रकार तरङ्ग पद्धति से हंसिनी एक कमल को छोड़कर दूसरे कमल पर चली जाती है।[1] वेत्रधारी अन्य राजाओं का भी परिचय देती है किन्तु वह आगे बढ़ती जाती है।[2] रतिसुन्दरी गुरुतर काम से विह्वल जिन राजाओं को छोड़कर आगे बढ़ती है वे राजा उसके अञ्जन से युक्त नेत्रों से देखे गये श्यामता को प्राप्त होते हैं।[3] जयन्त को देखकर रति सुन्दरी रुक जाती है।[4] वेत्रधारी भी रति सुन्दरी के मन की बात को जानकर जयन्त के रूप-सौन्दर्य एवं पराक्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा करती है[5] तथा जयन्त का वरण करने को कहती है।[6] रतिसुन्दरी जयन्त के गले में जय-माल डाल देती है।[7] स्वयंवर में आये हुए अन्य राजा लोग जयन्त से ईर्ष्या करते हैं।[8] किन्तु पुरवासी लोग अपनी मांगलिक कामनायें व्यक्त करते हुए रतिसुन्दरी की प्रशंसा करते हैं।[9] जयन्त तथा रतिसुन्दरी का विवाह हो जाता है।[10] कुछ दिनों के बाद जयन्त रतिसुन्दरी के साथ अपनी नगरी जयन्ती को चले आते हैं।

अतः स्पष्ट है कि कवि अभयदेव ने कालिदास के इन्दुमती के स्वयंवर के भावों को लेकर अपने शब्दों में रतिसुन्दरी के स्वयंवर के माध्यम से व्यक्त किये हैं। किन्तु कवि द्वारा प्रस्तुत इन भावों में यत्र-तत्र परिवर्तन कवि की प्रतिभा को अक्षुण्ण बनाये हुये हैं।

इस प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य की कथावस्तु का स्रोत अपने समय की प्रचलित लोककथाओं से पूर्णरूपेण प्रभावित है और कवि ने उसे महाकाव्य का रूप देने का प्रयास किया है। महाकाव्य के अध्यमन से ऐसा ज्ञात होता है, कि कवि अभयदेव ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों का भली-भाँति अध्ययन किया था। अतः उनका प्रभाव इस महाकाव्य में आ जाना स्वाभाविक ही है।

मुख्य पात्रों की ऐतिहासिकता एवं चरित्र चित्रण

कवि अभयदेव ने अपने महाकाव्य में ऐसे पात्रों को स्थान दिया है, जिनके नाम से ही उनके गुणों का पता चल जाता है। सर्वप्रथम वे अपने प्रभाव से विख्यात त्रिभुवन के हृदयग्राही, धर्म, अर्थ, काम की असीम विशेषता वाले, वीरव्रतधारियों के लिए अलंकरणभूत श्रीयुत जयन्तराज के चरित्र के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हैं—

---

१. जयन्तविजय, १६/५८।
२. वही, १६/५९-७१।
३. वही, १६/७२।
४. वही, १६/७३।
५. वही, १६/७३-८५।
६. वही, १६/८६।
७. वही, १६/८७।
८ वही, १६/८९।
९. वही, १६/९२।
१०. वही, १६/९४।

एतत्प्रभावप्रथितं त्रिलोकीहृद्य त्रिवर्गानुपम प्रकर्षम् ।
वीरव्रतालंकरणं चरित्रं श्रीमज्जयन्तस्य नृपस्य वक्ष्ये ।।[१]

इसीलिए वे सज्जनों द्वारा विलसित लक्ष्मी वाले, देदीप्यमान सुमेरु पर्वत के समान, प्रदीप्त दीपशिखा के समान तथा सारे द्वीपों के समुद्र में सुधा के समान जम्बूद्वीप को मध्य में स्थित बताते हैं—

मध्येऽखिलद्वीप समुद्रसौधं चञ्चत्सुवर्णाद्रिशिखावतंसः ।
दीपप्रदीपप्रतिमोऽस्ति जम्बूद्वीपः सदालोक विलास लक्ष्मीः ।।[२]

इसी जम्बूद्वीप के क्रोड में भारतवर्ष नामक क्षेत्र में मगध नामक देश है। जहाँ पर सुन्दर अङ्गहारों द्वारा कल्याण परम्पराओं से रात-दिन लक्ष्मी नृत्य किया करती है—

तस्यावतंसे भरताभिधाने क्षेत्रेऽस्ति देशो मगधाभिधानः ।
कल्याणवृन्दै रुचिराङ्गहारैरिवानिशं नृत्यति यत्र लक्ष्मीः ।।[३]

इसी मगध में अपने नाम के अनुरूप जयन्ती नाम की नगरी है जिस नगरी की चारुता को देखकर शेषनाग ने भोगावती के तथा इन्द्र ने अमरावती के प्रति अधिक प्रेम को छोड़ दिया है -

भोगावतीं भोगपतिः सुरेन्द्रोऽमरावतीं प्रत्यधिकानुरागम् ।
मुमोच चारुत्वभवेक्ष्य यस्याः सा तत्र नाम्नास्ति पुरी जयन्ती ।।[४]

इस प्रकार कवि के कथन से ही यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने मगध की नगरी का नाम जो जयन्ती किया है उसका आधार जयन्त है। इसी प्रकार इस महाकाव्य में कवि अभयदेव अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार जयन्त के चरित्र का चित्रण करते हैं, जिनमें जयन्त की विजय की घटनायें प्रमुख हैं। अतः जयन्त की विजयों के आधार पर ही वे इस महाकाव्य का नाम भी 'जयन्तविजय' रखते हैं। इस प्रकार इस महाकाव्य में गुणों के आधार पर ही नामकरण की योजना करना कवि अभयदेव की अपनी मौलिक विशेषता है।

१—ऐतिहासिक पात्र—

विक्रम सिंह—विक्रम सिंह मगध देश की जयन्ती नगरी के राजा और काव्य के चरितनायक जयन्त के पिता हैं। वे सिंह के समान पराक्रमी एवं वीर हैं जैसा कि उनके नाम से स्वयं स्पष्ट है। कवि अभयदेव उनके राजत्व की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

---

१. जयन्तविजय, १/२४।
२. वही, १/२५।
३. वही, १/२६।
४. वही, १/४१।

तस्यां बभूवाद्भुत विक्रमश्रीः क्षोणीपतिर्विक्रम सिंह संज्ञः ।
विश्वंभराभारभरं बभार यो विश्रुता शेष गुणोऽपि चित्रम् ॥[1]

अर्थात् जयन्ती नगरी में अद्भुत पराक्रम एवं श्रीयुक्त विक्रम सिंह नाम के राजा हुए, जिन्होंने सम्पूर्ण गुणों से युक्त पृथ्वी के भार का वहन किया ।

यहाँ पर कवि अभयदेव द्वारा विक्रमसिंह को दी गयी 'अद्भुतविक्रमश्री' की उपाधि हमारा ध्यान पृथित सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की ओर ले जाती है क्योंकि उदयगिरि अभिलेख में उन्हें भी अद्भुत (चन्द्रगुप्ताख्यमद्भुतम्)[2] कहा गया है । इसके साथ ही चन्द्रगुप्त द्वितीय को भी 'सिंह विक्रम' (विक्रम सिंह) की उपाधि प्राप्त हुई है क्योंकि उनके द्वारा चलाये गये सिक्कों पर 'सिंह विक्रम'[3] लिखा हुआ मिलता है ।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि अभयदेव विक्रम सिंह के शासन की प्रशंसा करते हुए पुनः लिखते हैं

राजन्वती येन जगत्यजस्रं निजाः प्रजा पालयता नयेन ।[4]

उदयगिरि अभिलेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन का वर्णन भी इसी प्रकार किया गया है—

यस्य शासन संरक्ता धर्मज्ञस्य वसुन्धरा ।[5]

इसी प्रकार कवि अभयदेव द्वारा वर्णित विक्रमसिंह का सौधर्म्य साम्राज्य (सौधर्म साम्राज्यमलंकरिष्णुः)[6] उनके शौर्य पर प्रतिष्ठित शौर्य साम्राज्य ही था—

साश्चर्य शौर्य साम्राज्यं राजेवोच्चैर्बिभर्ति यः ।[7]

उदयगिरि अभिलेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए भी इसी प्रकार बताया गया है कि उन्होंने अपने विक्रम (शौर्य) से खरीदकर राजाओं को अपना दास बनाया था—

विक्रमावक्रय क्रीतादास्य-न्यग्भूत-पार्थिव ।[8]

---

१. जयन्तविजय, १/५८ ।
२. Dr Rai Bali Pandey. Historical and Literary Inscriptions, Line-1.
३. B. N. Luniya, Political and Cultural History of Gupta Empire P.216.
४. जयन्तविजय, १/५६ ।
५. Dr. Raj Bali Pandey Historical and Literary Inscriptions Line-2.
६. जयन्तविजय, १/७१ । ७. वही, ३/३२ ।
८. Historical and Literary Inscription Line-2.

विक्रम सिंह के मगध देश के राजा होने के कारण हमारी धारणा और भी पुष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार से 'जयन्तविजय' महाकाव्य में मगध देश के वैभव का वर्णन किया गया है[1] वह गुप्तकालीन मगध देश का ही वैभव है। इसी समय श्रेष्ठी भी एक स्थान से दूसरे स्थान को (स्वदेश और परदेश में) आते-जाते रहते थे।[2] कवि अभयदेव के शब्दों में भी इन्हीं श्रेष्ठियों के आवागमन का वर्णन हुआ है—

तत्रैवासीद्धन श्रेष्ठी श्रीदश्रीपरमार्हतः।
श्रीमती श्रीमती कान्ता सुतस्तस्यधनावहः॥
महासार्थेन सोऽन्येद्युः प्राचलत्कुण्डिनंपुरम्।
मासेन प्राप कारायाः प्रदोषमिव चन्द्रमा॥[3]

'जयन्तविजय' महाकाव्य का प्रमुख लक्ष्य जयन्त कथा के सहारे पञ्च-परमेष्ठि नमस्कार मन्त्र का माहत्म्य बतलाना रहा है—

नमस्कारः परं तत्र श्रीपञ्च परमेष्ठिनाम्।
प्रयात्यनन्य सामान्य यान पात्र सगोत्रताम्॥
किं चायं विधिवद्ध्यातः सर्वकर्मसु कर्मठः।
कल्याण कदली कन्दस्यन्दमानः सुधारसः॥[4]

इस नमस्कार मन्त्र का साक्ष्य भी हमें स्कन्धगुप्त के होम लेख में वर्णित पञ्चेन्द्र माहात्म्य के माध्यम से मिल जाता है—

पुण्य-स्कन्धं च चक्रे जगदिदमखिलं संसरद्विक्ष्यभीतो।
श्रेयोत्थँ भूत-भूत्यै पथि-नियमवतामर्हतामादिकर्त्तृन॥
पञ्चेन्द्रां स्थापयित्वा धरणिधरभयान्सन्निर वातस्ततो (ऽ) यम्।
शैलस्तम्भः सुचारुगिवर-शिखराग्रोपमः कीर्तिकर्ता॥[5]

इस प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि अभयदेव द्वारा वर्णित विक्रम सिंह नामक राजा यही पृथित सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय हैं। विक्रम सिंह का चरित्र भी सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की भाँति ही सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। वे अत्यन्त रूपवान, प्रजापालक और पराक्रमी राजा हैं। काव्य में उनके इन गुणों की प्रशंसा इन शब्दों में की गयी है—

---

१. जयन्तविजय, १/२५-५७।
२. Political and Cultural History of Gupta Empire p. 277.
३. जयन्तविजय, ३/८-९।   ४. वही, ३/२-३।
५. Historical and Literary Inscriptions. Line. 9-12.

य: कामिनीनां प्रतिभाति कामः पितेव च प्रीतिपदं प्रजानाम् ।
कालः करालो रिपुभूपतीनां कल्पद्रुमश्च प्रणयिव्रजानाम् ॥[1]

अर्थात् जो राजा कामिनियों के लिए कामदेव, प्रजा के लिए पिता, वैरी राजाओं के लिए कराल काल तथा समीप में आने वालों के लिए कल्पवृक्ष के समान है।

विक्रम सिंह को अपनी पत्नी से भी अगाध प्रेम है। वे जब उसे उदास देखते हैं तो उसकी उदासी का कारण जानने के लिए अत्यन्त बेचैन हो जाते हैं—

स भूभुजङ्गः समपृच्छतादृतः कृशोदरीयं कृशता कुतस्तव ।
विशेष शोषा सरसीव मीनकं करोति या मां खलुखेदभाजम् ॥[2]

अर्थात् उस राजा विक्रम सिंह ने आदरपूर्वक अपनी पत्नी से पूछा कि हे कृशोदरि ! शोषित तालाब द्वारा मीन की भाँति तुम्हारी यह दुर्बलता किस लिए मुझे खेद का भाजन बना रही है।

विक्रम सिंह को जब यह पता चलता है कि उनकी पत्नी के दुःख का कारण अपत्यहीनता है तो वे अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी उसकी इच्छा को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करते हैं—

निवेश्य सन्देह पदेऽपि जीवितं प्रिये प्रियं ते त्वरितं करोत्यदः ।
न चेज्जनोऽयं ज्वलने प्रवेशतः पतङ्गतां याति तदा विनिश्चितम् ॥[3]

राजा विक्रम सिंह द्वारा की गयी यह प्रतिज्ञा उन्हें प्रेमी और वीर सिद्ध करती है।

विक्रम सिंह को अपने मंत्री सुबुद्धि पर अत्यन्त विश्वास है। वे अपनी प्रतिज्ञा का पूरा विवरण उसे सुना देते हैं। सुबुद्धि द्वारा प्रतिज्ञा-पूर्ति का एक मात्र साधन श्री पंचपरमेष्ठि नमस्कार को जानकर वे इस व्रत को स्वीकार कर लेते हैं—

श्रुत्वेति तत्र वर्द्धिष्णुश्रद्धासंबन्धबन्धुरः ।
तृषार्त इव पीयूषं विधिना स तमाददे ॥[4]

विक्रम सिंह धर्मात्मा और श्रद्धालु राजा हैं। अतः वे राजसुख और ऐश्वर्य का उपभोग करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझते हैं। वे प्रजा की दशा जानने के लिए रात्रि में वेष बदलकर नगर में भ्रमण करते हैं। वे निडर और

१. जयन्तविजय १/६० । २. वही, २/६ ।
३. वही, २/३१ । ४. वही, ३/२८ ।

साहसी हैं। रात्रि में नारी के करुण चीत्कार को सुनकर वे भयंकर श्मशान में पहुँचते हैं और उसकी रक्षा के लिए योगी से युद्ध करते हैं। वे सच्चे वीर हैं जो मूर्च्छित शत्रु पर प्रहार नहीं करते। वे पहले सेचनादि क्रिया द्वारा उसकी मूर्च्छा दूर करते हैं और तब उसे युद्ध के लिए ललकारते हैं—

सिचयपल्लववीजन वायुना विगतमूर्छमुवाच नृपोऽथ तम्।
कुरु करेऽसिलतां मम पूरय क्षम रणे रणकेलिकुतूहलम्॥[1]

विक्रम सिंह के चरित्र का एक प्रमुख गुण उनकी दयालुता भी है। नारी का चीत्कार सुनकर जाते हुए उन्हें मार्ग में एक श्मशानवासी सुर रोकता है। सुर उन्हें 'मम पुरो मनुजाः किल कीटकाः' कहकर उत्तेजित भी करता है। किन्तु नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से वे उसे परास्त करते हैं और सुर-द्वारा दीनभाव से प्राणों की भिक्षा माँगने पर उसे छोड़ देते हैं। विक्रम सिंह की इस दयालुता का फल भी उन्हें प्राप्त होता है। सुर उन्हें वन्ध्या स्त्री को वीरप्रसू बनाने वाला मुक्ताहार प्रदान करता है, जिसके द्वारा वे अपनी पत्नी के दुःख को दूर करने में कृतकार्य होते हैं और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करते हैं।

विक्रम सिंह के हृदय में पुत्र स्नेह की उत्कट अभिलाषा है। पुत्र के दिग्विजय करके लौटते समय अदृश्य हो जाने का समाचार सुन कर वे व्याकुल हो उठते हैं—

समजनि पितुराकुलं त्वमन्तस्तद शुभ संभवशङ्कया सुतस्य।
प्रथयति हि तनुत्वमम्बुराशेरविरवियोगदिशापि शीतरश्मेः॥[2]

अर्थात् पुत्र के अशुभ की उत्पत्ति की शंका से पिता के अन्तःकरण में व्याकुलता उत्पन्न हुई, क्योंकि चन्द्रमा का अप्रकटित वियोग भी समुद्र की तनुता को बढ़ाता है।

इस प्रकार विक्रम सिंह की इस व्याकुलता में उनके स्नेहशील हृदय की अभिव्यक्ति हुई है। वे धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। उद्यान में सुस्थिताचार्य के आगमन को सुनकर वे सपरिवार वन्दना के लिए जाते हैं और उनकी देशना से प्रभावित होकर जैन धर्म को स्वीकार कर लेते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नायक जयन्त के पिता विक्रम सिंह वीर, पराक्रमी, नीतिवान तथा यशस्वी राजा हैं।

जयन्त—जयन्त प्रस्तुत महाकाव्य के नायक तथा विक्रम सिंह के पराक्रमी पुत्र हैं। महाकवि अभय देव द्वारा वर्णित उनकी दिग्विजयों के आधार पर हमारा ध्यान 'सिंह विक्रम' (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के पुत्र कुमार गुप्त की ओर चला जाता है

१. जयन्तविजय, ४/६२। २. वही, १२/४।

क्योंकि पुराणों के साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध होता है कि कुमार गुप्त (महेन्द्र) ने कलिङ्ग और महिषक को जीत कर अपने राज्य का विस्तार किया था।[१]

इसी प्रकार कवि अभयदेव ने भी जयन्त की दिग्विजय के सन्दर्भ में उल्लेख किया है कि जयन्त ने कलिङ्गराज को जीता था। कवि के शब्दों में—

सैन्य कोलाहलैर्दूरं पूरयन्नोदसीमथ।
चचाल नरशार्दूलः कलिङ्गाधिपतिं प्रति॥
अखण्डैः खण्डिताराति भुजदर्पः प्रयाणकैः।
महेन्द्र विक्रमः प्राप महेन्द्राद्रेरुपत्यकाम्॥[२]

अर्थात् वे नरशार्दूल (जयन्त) सेना के कोलाहलों द्वारा आकाश को दूर से पूरित करते हुए कलिङ्गराज के प्रति चल पड़े तथा अखण्ड प्रयाण से शत्रुओं के भुजदण्ड को खण्डित करते हुए उन महेन्द्र विक्रम ने महेन्द्र पर्वत की उपत्यका (तरी) को प्राप्त किया।

यहाँ पर कवि अभयदेव ने जयन्त को 'महेन्द्र विक्रम' कहा है। अतः कवि के कथन से थह स्वयं स्पष्ट है कि जयन्त चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र महेन्द्र अथवा कुमार गुप्त हैं।

यह कुमार गुप्त भी जैनधर्म के संरक्षक थे। अतः हमारी धारणा की और भी पुष्टि हो जाती है। मध्य प्रदेश में विदिशा के समीप उदयगिरि की गुफा नं० १० (जैन गुफा) में प्राप्त कुमार गुप्त के अभिलेख[३] में यह स्पष्ट उल्लेख है कि सिंघल के पद्मावती स जन्मे पुत्र शंकर ने गुप्त संवत् १०६ के कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की पंचमी को जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिभा को गुफा-द्वार पर प्रतिष्ठित किया था।

इसी प्रकार मथुरा स्थित कंकाली टीला से कुछ मूर्तियों के साथ एक जैन प्रतिमा भी मिली है। इस प्रतिमा पर एक अभिलेख उत्कीर्ण है।[४]

---

१. 'कलिंगा महिषाश्चैव महेन्द्र निलयाश्चये
एतान जनपदान् सर्वान् पालयिश्यति वैगुहः।' —वायु पुराण
'कौशल ओड्र ताम्रलिप्तान समुद्रतट पुरीं च देवरक्षितो रक्ष्यति।
कलिङ्गं माहिषकम् महेन्द्रः भूमौगुहम् भोक्ष्यन्ति। —विष्णु पुराण

२. जयन्तविजय, ११/१८-१९।

३. Archaeological Survey of India-Report-1880, Vol. 10, P. 53
Indian Antiguary vol. 11. P. 309.

४. Poitical and Cultural History of Gupta Empire, P. 318.

इस अभिलेख में यह उल्लेख है कि गुप्त संवत् ११३ (ईसवी सन् ४३३) में कुमार गुप्त (प्रथम) के राज्य काल में कट्टियगण और विद्याधरी शाखा के दत्तिलाचार्य के कहने से भट्टियव की पुत्री और गृहमित्र पति की पत्नी सामाध्या ने उस मूर्ति को (जिस पर कि लेख उत्कीर्ण है) प्रतिष्ठित किया।

अतः कुमार गुप्त के शासन काल में प्राप्त होने वाले अभिलेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुमार गुप्त जैनधर्म के संरक्षक थे। इसीलिए उनके शासन काल में जैनमूर्तियों की स्थापना हुई। इस प्रकार कुमार गुप्त के जैनधर्म के संरक्षक होने से भी यह सिद्ध होता है कि यह कुमार गुप्त अथवा महेन्द्र ही 'जयन्तविजय' महाकाव्य के नायक जयन्त हैं जिनका कवि अभयदेव ने विक्रम सिंह के पुत्र के रूप में वर्णन किया है।

कुमार गुप्त अथवा महेन्द्र की विजयों का वर्णन करना ही कवि अभयदेव को अभीष्ट है। अतः उन्होंने अपने महाकाव्य में सर्वत्र ही महेन्द्र (जयन्त) के पराक्रम का उल्लेख कर विपक्षी राजाओं पर विजय दिखलायी है तथा कुमार गुप्त के नाम का सीधे उल्लेख न करके उनकी विजयों के आधार पर ही उनका नाम जयन्त किया है।

जयन्त ही प्रस्तुत महाकाव्य के धीरोदात्त नायक हैं जिनका वर्णन द्वितीय अध्याय में नायक के रूप में किया जा चुका है। अतः यहाँ पर केवल उनका ऐतिहासिक परिचय ही प्रस्तुत किया गया है।

अन्य पात्र—'जयन्तविजय' महाकाव्य ऐतिहासिक पात्रों के साथ ही अन्य पात्रों की भी योजना हुई है जिनका सम्बन्ध कथानक की मुख्य घटना से है।

हरिराज—हरिराज सिंहल देश का भूपति तथा प्रस्तुत महाकाव्य का प्रतिनायक है। वह बड़ा शूरवीर एवं पराक्रमी है। एक दिन उसका हाथी भाग कर मगध की जयन्ती नगरी में चला जाता है। अतः वह हाथी वापस करने के लिए विक्रम सिंह की सभा में दूत भेजता है। दूत आकर अपने स्वामी के सन्देश को राजा विक्रम सिंह से बड़ी विनम्रतापूर्वक कहता है। कवि अभयदेव के शब्दों में—

नृपं प्रणम्यैष कृतासनोऽवदत्पयोदगम्भीरगिरा वचोहरः।
त्वदन्तिकं प्राप मम प्रभोः करी सरोवराद्धंस इवापरं सरः॥[1]

अर्थात् राजा को प्रणाम कर आसन पर बैठे हुए इस दूत ने कहा कि मेरे राजा का हाथी एक सरोवर से दूसरे सरोवर में हंस की भाँति तुम्हारे पास आया है।

अपि च—

गजेन्द्र रत्ने गृहमागते स्वयं महीभुजः कस्य मनो न लुभ्यति।
तथापि हेयः सबलीय सस्त्वया न सुन्दरः क्वाप्यसमान विग्रहः॥[2]

---

१. जयन्तविजय, ९/१४। २. वही, ९/१७।

अर्थात् स्वयं घर में आये हुए गजेन्द्र रत्न पर किस राजा का मन लोभित नहीं होता है फिर भी आपके द्वारा वह बलवान (हाथी) त्याज्य है क्योंकि असमान विग्रह कभी भी सुन्दर नहीं होता।

यहाँ पर दूत के कथन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है, कि हरिराज अत्यन्त पराक्रमी राजा है क्योंकि यदि विक्रम सिंह उसके राजा के हाथी को वापस नहीं करेंगे तो उन्हें हरिराज से लोहा लेना पड़ेगा किन्तु जब विक्रम सिंह उसके समझाने पर भी हाथी को वापस करने से इन्कार कर देते हैं तो वह उन्हें पुनः एक बार विचार करने का अवसर देता हुआ अपने स्वामी के पराक्रम का वर्णन करता है—

नरेन्द्र बुध्यस्व धियात्मनोऽथवा महेन्द्र मन्त्रि प्रतिमस्य मन्त्रिणः।
मम प्रभो प्रेषय कुञ्जराधिपं व्रजास्य कोपार्चिषिमा पतङ्गताम् ॥[1]

अर्थात् हे राजन ! वृहस्पति के समान मन्त्रियों से अथवा अपने आप बुद्धि से स्वयं सोचिये और कुञ्जराधिप को मेरे स्वामी के पास भेजिये। आप मेरे प्रभु के कोप की ज्वाला में पतंग मत बनिये।

इस प्रकार पहले तो वह दूत विक्रम सिंह को बहुत समझता है किन्तु जब जयन्त उसके स्वामी के लिए अपमानसूचक शब्द कहते हैं तो वह अत्यन्त क्रोधित होकर पुनः कहता है—

निशम्य निन्दामथ भर्तुरात्मनः परिस्फुरत्कोप भरारुणेक्षणः।
जगाद दूतः क्षितिनाथनन्दनं प्रकम्पसंपक्वलितोत्तराधरः॥
निपीड्य दोर्दण्डबलेन तत्प्रभुद्विपाधिराजं सह राज्य संपदा।
न यावदादास्यति तावदस्य ते प्रभोः प्रतीतिर्न भविष्यति ध्रुवम् ॥[2]

अर्थात् अपने स्वामी की निन्दा को सुनकर क्रोध से लाल नेत्रों वाले दूत ने अपने फड़कते हुए अधरोष्ठों द्वारा राजा के पुत्र (जयन्त) से कहा कि जब तक मेरे स्वामी अपनी भुजाओं द्वारा आपके राज्य तथा गज को जीत न लेंगे तब तक उन प्रभु की वीरता पर आपको निश्चयपूर्वक विश्वास नहीं होगा।

इस प्रकार विक्रम सिंह की सभा में दूत द्वारा कहा जाना हरिराज की शूर-वीरता का द्योतक है। किन्तु हरिराज का सबसे बड़ा दुर्गुण है उसमें अहंकार की भावना का विद्यमान होना। उसकी यह अहंकार की भावना ही उसके विनाश का कारण बनती है क्योंकि वह दूत के मुख से समाचार सुनकर तुरन्त ही मन्त्रियों की मन्त्रणा की भी अवहेलना करके विक्रम सिंह पर आक्रमण कर देता है—

---

१. जयन्तविजय, ६/२६।   २. वही, ६/३८-३६।

तथाप्यवज्ञाय तदीयमन्त्रितं प्रयाणमाधत्त मदोद्धतस्ततः ।
अरिष्ट संसूचितमृत्युरप्यसौ विलङ्घ्यते कैर्भवितव्यताथवा ।।[१]

अर्थात् इसके पश्चात् मदोद्धत राजा ने मन्त्रियों की मन्त्रणा की अवहेलना कर प्रस्थान किया यद्यपि उसे अरिष्टों की सूचना से मृत्यु की संभावना हो रही थी । अथवा भवितव्यता को किसके द्वारा मेटा जा सकता है ।

हरिराज के प्रतिरोध के लिए विक्रमसिंह के पुत्र जयन्त सेना के साथ आते हैं । जयन्त तथा हरिराज का घमासान युद्ध होता है । युद्ध में हरिराज का सेनापति सुषेण मारा जाता है किन्तु फिर भी उसके मन में घबड़ाहट नहीं है । वह जयन्त से कहता है—

अथ क्लेशावेशप्रसरविरसं सिंहलपति-
र्जगादैवं वध्यस्त्वमसि मम नासेः शिशुरिति ।
सतां निस्त्रिंशोऽपि प्रभवति न हि भ्रूणहतये
प्रपद्याज्ञां तन्मे व्रज निजग्रहं रन्तुमधुना ।।[२]

अर्थात् इसके बाद सिंहलपति ने कहा कि तुम मेरी तलवार से बध्य नहीं हो क्योंकि तुम अभी बच्चे हो । सज्जनों की तलवार बालहत्या के लिए नहीं होती। इसलिए मेरी आज्ञा को पाकर इस समय आराम करने के लिए जाओ ।

यहाँ पर हरिराज द्वारा जयन्त के प्रति कहे गये ये शब्द उसके चरित्र की निर्भयता, शूरता और स्वाभिमानता को व्यक्त करते हैं । वह जयन्त के साथ भयंकर युद्ध करता हुआ यद्यपि वीरगति को प्राप्त होता है, किन्तु फिर भी उसके चरित्र में किसी प्रकार की कायरता नहीं आने पायी है तथा 'जयन्तविजय' महाकाव्य में उसके चरित्र की रक्षा प्रतिनायक के रूप में हुई है ।

महेन्द्र—विद्याधर नरेश महेन्द्र चक्रवर्ती भी हरिराज की भाँति ही बड़ा शूरवीर, साहसी तथा स्वाभिमानी राजा है । वह अपने पुत्र के लिए गगन विलास पुर के राजा पवनगति से उसकी पुत्री कनकवती की याचना करता है पर पवनगति उसकी याचना को, यह कह कर कि उसकी कन्या अभी किसी वर को नहीं चाहती है, अस्वीकार कर देता है । किन्तु महेंद्र को जब यह ज्ञात होता है कि पवनगति ने उसके पुत्र की उपेक्षा करके अपनी पुत्री का विवाह जयन्त से कर दिया है तो वह अपने दूत को पवनगति के पास भेज कर यह संदेशा कहलवाता है कि तुमने मेरे द्वारा याचना करने पर भी अपनी पुत्री को दूसरे को दे दिया है अतः निश्चय ही मुझसे शत्रुता बढ़ाई है—

---

१. जयन्तविजय, ६/५२ । २. वही, १०/७२ ।

उवाच दूतोऽथ नरेन्द्र पूर्वं यत्प्रार्थितोऽपि प्रभुणा तथेयम्।
ददे परस्मै तनया त्वया तन्नूनं कृतान्तः प्रगुणीकृतोऽयम् ॥[1]

यहाँ पर महेन्द्र द्वारा पवनगति को कहलाये गये ये शब्द उसकी अपनी आत्म-प्रशंसा के द्योतक हैं, क्योंकि वह अपने को अत्यन्त पराक्रमी राजा समझ रहा है।

इसी प्रकार उसका दूत भी जाकर पवनगति से उसके पराक्रम का बखान करता हुआ कहता है—

महापराधेन तव श्रुतेन क्रुद्धे विभौ कः शरणं जगत्सु।
उत्कोपिते यष्टि मुखेन सिंहे क्षेमोहि कौतस्कुतमङ्गभाजः ॥[2]

अर्थात् इस महापराध को सुनने से स्वामी के क्रोधित होने पर संसार में तुम्हें कौन शरण दे सकेगा क्योंकि लाठी की नोक से शेर के क्रोधित होने पर शरीर-धारी का कल्याण कैसे हो सकता है ?

यहाँ पर दूत के इस कथन से भी स्पष्ट है कि महेन्द्र वस्तुतः सिंह के समान अत्यन्त पराक्रमी राजा है। उसके क्रोधित हो जाने पर पवनगति को कहीं भी शरण नहीं मिल सकेगी। किन्तु जब जयन्त अपमान करके उस दूत को सभा से निकाल देते हैं और दूत जाकर अपने स्वामी से बताता है तो वह क्रोध से काँपने लगता है—

अथेति दूतादवगम्य सम्यग्विद्याधराणामधिपः प्रवृत्तिम्।
कराल कोपस्फुर दोष्ठपृष्टः क्षणादभूद्भ्रूकुटि भीषणास्यः ॥[3]

महेन्द्र का पवनगति पर यह क्रोध होना स्वाभाविक है क्योंकि पवनगति तो सदैव ही उसके अधीन रहा है। इसीलिए वह अपना और भी अधिक अपमान समझकर तुरन्त पवनगति पर आक्रमण कर देता है। पवनगति के दूत जाकर उसके आगमन की सूचना देते हैं—

असौ समागच्छति खेचरेन्द्रः सान्द्राभिषङ्गः किल संयुगाय।
प्रचण्डदोर्दण्ड बलाबलेपादपि त्रिलोकीं कलयंस्तृणाय ॥[4]

अर्थात् वह खचरेन्द्र चतुरङ्गिणी सेना के साथ युद्ध के लिए आ रहा है जो अपने प्रचण्ड भुजदण्डों के बल के दर्प से संसार को तृण के समान समझता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि महेन्द्र के पराक्रम की प्रशंसा महेन्द्र का दूत ही नहीं करता वरन् पवनगति के दूत भी करते हैं।

महेन्द्र के आगमन को सुनकर पवनगति की ओर से जयन्त युद्ध के लिए

---

१. जयन्तविजय, १३/१०८। २. वही, १३/१०९।
३. वही, १४/१। ४. वही, १४/२२।

जाते हैं। महेन्द्र जयन्त के साथ भयंकर युद्ध करता है तथा अपने द्वारा छोड़े गये चक्र के निष्फल हो जाने पर भी वह हताश नहीं होता है। वह उसी उत्साह के साथ युद्ध करता हुआ जयन्त को तृणवत समझता है—

·····················सोऽप्याह योग्योऽस्मि न तेऽधुनाऽपि।
गम्योऽस्ति गोमायु शिशोः कदाचिद् गृद्धोऽपि किं रे हरिणाधिराजः ॥[1]

अर्थात् महेन्द्र ने जयन्त से कहा कि मैं इस समय तुम्हारे योग्य नहीं हूँ क्योंकि हे नृसिंह क्या गीध भी कभी शृगाल शिशु पर आक्रमण करता है (अर्थात् नहीं)।

किन्तु अन्त में वह जयन्त के त्रिपुरान्तकास्त्र द्वारा मारा जाता है। अतः स्पष्ट है, कि महेन्द्र चक्रवर्ती भी बड़ा शूरवीर, पराक्रमी तथा स्वाभिमानी राजा है।

सुबुद्धि—सुबुद्धि विक्रम सिंह का विश्वासपात्र मन्त्री है। इसीलिए राजा विक्रम सिंह उससे अपनी घरेलू समस्याओं पर भी विचार-विमर्श करते हैं। वे रानी प्रीतिमती की अपत्य चिन्ता और अपनी प्रतिज्ञा का विवरण उससे स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं। वह भी नृप का शुभचिन्तक है। अतः राजा से कहता है—

ततः स राजशार्दूलं मूलमन्त्री व्यजिज्ञपत्।
त्वत्प्रतिज्ञाम्बुधिर्देव दुस्तरेभ्योऽपि दुस्तरः ॥
नमस्कारः परं तत्र श्रीपञ्चपरमेष्ठिनाम्।
प्रयात्य नन्यसामान्य यान पात्र सगोत्रताम् ॥[2]

अर्थात् इसके पश्चात् उस प्रधान मन्त्री ने राजा से कहा कि हे देव! आपकी प्रतिज्ञा का सागर दुस्तरों से भी दुस्तर है किन्तु श्री पंचपरमेष्ठी का नमस्कार विशिष्ट और अनन्य सामाप्य पात्र की गोत्रता को प्राप्त कराता है।

उसे पूर्ण विश्वास है कि यदि पंचपरमेष्ठी का ध्यान विधिपूर्वक किया गया तो मनोवांछित फल की प्राप्ति होगी।

किं चायं विधिवद्ध्यातः सर्वकर्मसु कर्मठः।
कल्याण कदली कन्दस्यन्दमानः सुधारसः ॥[3]

अर्थात् यह विधिपूर्वक ध्यान किया हुआ (पञ्चपरमेष्ठी मन्त्र) सब कर्मों में कर्मठ, कल्याण कदली के अंकुर से टपकाने वाला सुधा रस है।

इसीलिए वह राजा की इच्छा-पूर्ति का साधन इसी मन्त्र को बताता है तथा

---

१. जयन्तविजय, १४/१०५। २. वही, ३/१-२।
३. वही, ३/३।

उनसे इस मन्त्र की आराधना करने के लिए कहता है। वह इस मन्त्र की महत्ता प्रकट करने के लिए धनावह श्रेष्ठी का एक उपाख्यान भी कहता है। राजा विक्रम सिंह उसकी बात मान लेते हैं। वह बृहस्पति की तरह राजनीति-कुशल तथा विद्वान है। उसका परिचय देते समय कवि ने उसके गुणों की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है—

मन्त्री हरेर्जीव इवास्य जज्ञे सौधर्मं साम्राज्यमलङ्करिष्णुः।
सुबुद्धिनामा बिबुधप्रमोदक्षीरार्णवार्णः क्षणदाभुजङ्गः॥[१]

वैरिसिंह—वैरिसिंह हस्तिनापुर के राजा हैं। वे अपनी पुत्री रतिसुन्दरी के स्वयंवर में अनेक द्वीपों के राजाओं को आमन्त्रित करते हैं तथा राजाओं का आगमन सुनकर मार्ग में ही उनकी अगवानी के लिए जाते हैं और आदर के साथ उन्हें अपने पुर में प्रवेश करवाते हैं। किन्तु उनकी पुत्री रतिसुन्दरी प्राग्जन्म के सम्बन्ध के कारण जयन्त पर अनुरागिणी दीख पड़ती है। इसी कारण स्वयंवर में वह अन्य राजाओं को छोड़कर जयन्त को वरण कर लेती है। वैरिसिंह भी बड़े हर्ष के साथ रतिसुन्दरी का विवाह जयन्त से कर देते हैं तथा वृद्धावस्था में वे अपना राज्य-भार अपने जामाता जयन्त को ही सौंपकर दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

सुस्थिताचार्य—श्री सुस्थित जैन आचार्य हैं। उनकी देशना से प्रभावित होकर विक्रम सिंह श्राद्धधर्म स्वीकार कर लेते हैं। वे बड़े तार्किक हैं। अतः तर्कों के आधार पर ही विरोधी ब्राह्मण को पराजित करते हैं।

प्रीतिमती—प्रीतिमती राजा विक्रमसिंह की पत्नी है। वह अत्यन्त सुन्दरी है। अतः विक्रम सिंह उससे अपार स्नेह करते हैं। कवि अभयदेव के शब्दों में—

शचीव शक्रस्य महेश्वरस्य गौरीव लक्ष्मीरिव माधवस्य।
श्रीनन्दनस्येव रतिश्च रत्यै तस्य प्रिया प्रीतिमती बभूव॥[२]

अर्थात् जिस प्रकार इन्द्र को शची प्रिय हैं, शंकर को गौरी प्रिय हैं, माधव को लक्ष्मी प्रिय हैं तथा कामदेव को उनकी पत्नी रति प्रिय हैं उसी प्रकार उनकी पत्नी प्रीतिमती रति के लिए प्रीतिमती हुई।

कवि अभयदेव प्रीतिमती के सौन्दर्य का भी वर्णन करते हैं—

सञ्जीवनी चौषधिरङ्गजस्य विश्राम धामेव हृदः स्वभर्तुः।
या राज्यऋद्धेरधिदेवतेव लावण्यवल्लेर्नव कन्दलीव॥[३]

अर्थात् जो (प्रीतिमती) कामदेव की संजीवनो औषधि, अपने पति के हृदय

---

१. जयन्तविजय, १/७१।
२. वही, १/६६।
३. जयन्तविजय, १/६९।

की विश्राम धाम, राजलक्ष्मी की अधिदेवता तथा सुन्दरता की लता का नया अंकुर है।

इसीलिए तो उसके द्वारा रूप, शील, बुद्धि, लज्जा, दाक्षिण्य, गुण दाक्ष्य, नीति, प्रीति तथा कोमल वाणी से पति के अनुराग सिन्धु में ज्योत्सना की भाँति रहा जाता है—

रूपेण शीलेन धिया ह्रिया च दाक्ष्येण दाक्षिण्य गुणेन नीत्या।
प्रीत्या गिरा कोमलया यया च ज्योत्स्नायितं पत्यनुराग सिन्धौ।।[१]

किन्तु सन्तान के बिना प्रीतिमती को उसे अपने यह समस्त गुण व्यर्थ प्रतीत होते हैं। एक दिन क्रीडाह्रद में करिणी को अपने अपत्य गज से स्नेह करते देखकर उसकी मातृत्व की भूख बढ़ जाती है। वह पुत्र प्राप्ति के लिए बेचैन हो उठती है, क्योंकि उसकी दृष्टि में—

नभस्थलीव द्युतिमद्रिना कृता निशेव शीतद्युतिमण्डलोज्झिता।
महौषधीवोन्मदवीर्य वर्जिता न सूनुहीना वनिता प्रशास्यते।।[२]

अर्थात् सूर्य के बिना आकाश, चन्द्रमा के बिना रात्रि, विशिष्ट शक्ति के बिना औषधि के समान सन्तानहीन स्त्री की प्रशंसा नहीं होती।

अपि च—

परां जनन्या जनयत्यनारतं महाकुलीनस्तनयो नयाश्चितः।
महार्घतामेधयते गुणश्रियो न किं यशोराशिरदम्भः सौरभः।।[३]

अर्थात् नीतिमान, महाकुलीन, अदम्भी, यशस्वी पुत्र गुणयुक्त माता की महार्धता को क्या नहीं बढ़ाता? अर्थात् अवश्य बढ़ाता है।

वह सोचने लगती है, कि स्त्रियाँ चरित्रवान पुत्र के द्वारा ही पति के अति गौरव को प्राप्त करती हैं, क्योंकि रत्नों की खान प्रकाण्ड मणियों से ही बहुमूल्यता को प्राप्त होती हैं—

किमन्यदाप्नोत्यति गौरवं वधूः प्रियस्य पुत्रैः खलु वृत्तशालिभिः।
महार्घ्यतां रत्नखनी न किं भजेन्मणिप्रकाण्डैरिति सा व्यचिन्तयत्।।[४]

अतः वह भी सन्तान-प्राप्ति के लिए प्रयास करती है और अपने अन्तस् के दुःख को पति के समक्ष उड़ेल देती है। आगे चलकर उसकी यह इच्छा पूर्ण होती है और उसे जयन्त जैसे पुत्र-रत्न की प्राप्ति होती है।

प्रीतिमती पुत्र से भी अधिक महत्त्व पति को देती है, क्योंकि विक्रमसिंह

१. जयन्तविजय, १/७०।
२. वही, २/२।
३. वही, २/४।
४. वही, २/७।

जब अग्नि प्रवेश की प्रतिज्ञा करते हैं तो उसका हृदय दहल जाता है--

> इति प्रतिज्ञावचनादमुष्य सा मुमूर्च्छं वज्राभिहतेव तत्क्षणम् ।
> पपात चच्छिन्नलतेव भूतले किमद्‌भुतं प्रेमवतामिदं हि वा ॥[1]

अर्थात् इस तरह से वह राजा के प्रतिज्ञा वचन से वज्राघात के समान उसी समय मूर्छित होकर भूतल पर छिन्नलता की भाँति गिर पड़ी। अथवा प्रेमीजनों के लिए इसमें आश्चर्य ही क्या है।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि 'जयन्तविजय' महाकाव्य में वर्णित प्रीतिमती का चरित्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह पतिव्रता पत्नी होने के साथ ही साथ एक श्रेष्ठ माता भी है।

कनकवती—कनकवती विलासपुर के राजा पवनगति की पुत्री है। वह अत्यन्त रूपवती है। इसीलिए सैकड़ों राजा उसके पिता पवनगति से उसके लिए याचना करते हैं। किन्तु वह उन सबको छोड़ देती है और अनुरूप वर की प्राप्ति के लिए अपने पिता की आज्ञा से जिन शासन देवता जया देवी की आराधना करती है और सात दिन की अनवरत भक्ति से उन्हें प्रसन्न कर लेती है। प्रसन्न होकर जया देवी उसके लिए दिग्विजय से लौटते हुए जयन्त का अपहरण करती हैं। जयन्त उसे उपवन में देखते हैं और प्रथम दर्शन में पहचान नहीं पाते हैं, क्योंकि वे सोचने लगते हैं कि क्या यहाँ इस पर्वत पर पर्वत पुत्री पर्वत की सुन्दरता को देखने के लिए आयी है, अथवा रति है अथवा रमा है। किन्तु बाद में वे पलक लगने के कारण जान जाते हैं, कि यह कोई मृत्यु लोक ही ललना है—

> पर्वते किमिह पर्वतपुत्री पर्वतश्रियमवेक्षितुमागात् ।
> किं रतिः किमु रमा खलु नैव मर्त्यलोकललनैव निमेषात् ॥[2]

इस प्रकार स्पष्ट है, कि कनकवती के अप्रतिम सौन्दर्य के कारण उसे पहचानने में ही भ्रम हो जाता है और इसी सौन्दर्य के कारण जयन्त उस पर मुग्ध हो जाते हैं। अन्त में जयन्त और कनकवती का विवाह हो जाता है।

रतिसुन्दरी रतिसुन्दरी हस्तिनापुर के राजा वैरिसिंह की पुत्री है। वह भी कनकवती की भाँति अतीव सुन्दरी है। कवि अभयदेव के शब्दों में—

> भाग्यसंपदिव पुष्पधन्वनः सृष्टिसारमिव पद्मजन्मनः ।
> तस्य देव कमलेव वारिधेरद्‌भुतास्ति रतिसुन्दरी सुता ॥[3]

अर्थात् हे देव! कामदेव की भाग्य सम्पति की भाँति, ब्रह्मा जी की सृष्टि

---

१. जयन्तविजय, २/३२।
२. वही, १३/१२।
३. वही, १६/७।

के सार की भाँति, समुद्र की कमला की भाँति उस (वैरिसिंह) की रतिसुन्दरी नाम की कन्या है ।

रतिसुन्दरी अपने स्वयंवर में आये हुए समस्त राजाओं को छोड़कर जयन्त का वरण करती है । राजा विक्रमसिंह भी रतिसुन्दरी का विवाह जयन्त से कर देते हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि जयन्तविजय महाकाव्य का कथानक अत्यन्त सरल है और उसमें जटिलता का सर्वथा अभाव है । कवि ने अपनी काव्य-शक्ति के अभिनय में कल्पना का सहारा लिया है और लेना भी चाहिये क्योंकि कवि कर्म तो वस्तुतः यही है—

अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥[१]

---

१. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, —श्लोक १०, पृ० ३८ ।

चतुर्थ अध्याय

'जयन्तविजय' महाकाव्य में रीति, गुण, अलंकार तथा छंद

'जयन्तविजय' महाकाव्य में रीति विवेचन

'रीति' शब्द गत्यर्थक 'रीङ्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर बना है। अतः रीति का वास्तविक अर्थ है मार्ग। काव्य में अपने अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति हेतु कवि अपने ढंग से नाना पदों का प्रयोग किया करता है। पदों के इसी प्रयोग करने की विधि को ही उसकी रीति कहा जाता है। दूसरे शब्दों में 'रीति' किसी लेखक के विशिष्ट लेखन प्रकार को सूचित करती है।

रीतियों का काव्य में विशिष्ट स्थान है। आचार्य वामन ने तो 'रीति' को ही काव्य की आत्मा माना है।[1] उनके अनुसार काव्य इसलिए विशिष्ट शब्दार्थ साहित्य है क्योंकि इसकी जैसी पदानुपूर्वी (रीति) जो कान में अमृत वृष्टि करती है तथा हृदय में आनन्द का सञ्चार करती है अन्यत्र कहीं नहीं पायी जाती।[2]

रीति तत्त्व के विषय में राजशेखर ने स्वयं कहा है—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिश्रवति वाङ्मधु॥[3]

अर्थात् रीति ही वह काव्य तत्त्व है जिसमें रस प्रवाह का सामर्थ्य रहा करता है।

आचार्य वामन ही इस रीति तत्त्व अथवा काव्य मार्ग के प्रथम लक्षण निर्माता माने जाते हैं। उनके अनुसार 'विशिष्टा पद रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा[4]।' अर्थात् माधुर्य, ओज एवं प्रासाद आदि गुणों से मण्डित रचना 'रीति' है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने इसी बात को दूसरे शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। उनके अनुसार—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन व्यनक्ति सा।
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः॥[5]

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य - काव्यालङ्कार १/२/६।
२. किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी यस्यां न
किंचिदपि किंचिदिवावभाति।
आनन्द यत्यथ च कर्णपथं प्रयाताचैतः
सतामनृत वृष्टिरिव प्रविष्टा॥ —काव्यालंकार सूत्र १/२/२१।
३. काव्यमीमांसा, पृ० ५२ (चौ० प्र०)।
४. काव्यालङ्कार सूत्र, १/२/७-८।
५. ध्वन्यालोक, ३/६।

अर्थात् माधुर्यादिक गुणों का आश्रयण करके रहती हुई यह पद संघटना रसों को अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार आनन्दवर्धन का 'संघटना' शब्द नितान्त सारगर्भित है जो वामन की 'विशिष्टा पद रचना' का ही दूसरा रूप है। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने भी आनन्दवर्धन के कथन का समर्थन किया है—

पद संघटना रीतिरंग संस्था विशेषवत्।
उपकर्ती रसादीनां··· ·········· ···· ॥[१]

रीति भेद—आचार्य वामन के अनुसार रीतियों की संख्या तीन है—वैदर्भी, पाञ्चाली तथा गौड़ी।[२] ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन भी वामन के इसी मत का समर्थन करते हैं। उन्होंने इन रीतियों के लिए क्रमशः समास रहित, मध्यम समासयुक्त तथा दीर्घ समासयुक्त संघटना शब्दों का प्रयोग किया है।[३] राजशेखर को भी वस्तुतः तीन ही रीतियाँ मान्य हैं[४] यद्यपि उन्होंने कर्पूरमञ्जरी की नान्दी में 'मागधी' का भी उल्लेख किया है।[५] भोजराजकृत सरस्वती कण्ठाभरण[६] में 'आवन्तिका' एवं 'मागधी' नामक दो अतिरिक्त रीतियों का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार रीतियों की संख्या पाँच स्वीकार की गयी है। परन्तु कविराज विश्वनाथ[७] ने चार प्रकार की ही रीतियों का वर्णन किया है। ये हैं—वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली एवं लाटी। इनमें से लाटी के सम्बन्ध में उनका मत है कि वास्तव में यह कोई भिन्न रीति नहीं है, वरन् वैदर्भी तथा पाञ्चाली दोनों के कुछ गुणों से युक्त है।[८]

इस प्रकार स्पष्ट है, कि वस्तुतः रीतियाँ तीन ही हैं—वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली।

---

१. साहित्यदर्पण, ९/१।
२. सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति। —काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १/२/९।
३. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घ समासेति त्रिधा संघटनोति ॥
—ध्वन्यालोक ३/५।
४. काव्य मीमांसा पृ० ३१ (चौ० प्र०)।
५. भद्दं भोदु सरस्सई अ कइणो णंदंतु वासाइणो।
अण्णाणं बि परं पअट्टदु बरा बाणी छइल्लपिआ।
बच्छोमी तह माअही फुरदु णो सा किं च पंचालिआ।
रोदीओ बिलिहंतु कव्बकुसला जोण्हां चओरा बिअ ॥
—कर्पूरमञ्जरी १/१।
६. सरस्वती कण्ठाभरण, २/३२, ३३।
७. साहित्यदर्पण, ९/२।
८. लाटी तु रीति वैदर्भी पाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता। —साहित्यदर्पण ९/५।

वैदर्भी रीति में माधुर्य गुण, सुकुमार वर्ण, असमास या मध्यम समास तथा कोमल रचना का एकत्र समावेश होता है ।[1] कविराज विश्वनाथ के शब्दों में—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीति रिष्यते ॥[2]

अर्थात् माधुर्यगुण के व्यञ्जक वर्णों से युक्त समास रहित अथवा अल्प समास युक्त मनोहारी रचना वैदर्भी रीति कहलाती है ।

रुद्रट के अनुसार ऐसी ललित पद रचना, जिसमें असमस्त अथवा स्वल्प समस्त पदावली का प्रयोग हुआ है, श्लेषादि प्राचीनाचार्य सम्मत दसों शब्द गुण विद्यमान हों तथा द्वितीय वर्ग के वर्णों का बाहुल्य और स्वल्प प्राणाक्षरों का सन्निवेश हो, तो वैदर्भी रीति कहलाती है—

असमस्तैक समस्ता युक्ता दशाभिः गुणैश्च वैदर्भी ।
वर्ग द्वितीय वहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया ॥[3]

मम्मट ने भी काव्य-प्रकाश में इसी मत का समर्थन किया है ।[4]

गौड़ी रीति वैदर्भी रीति के बिल्कुल विपरीत होती है । इसमें ओजगुण, कठोर वर्ण, दीर्घ समास तथा विकट रचना—इन समग्र काव्य साधनों का एकत्र समावेश होता है—

समस्तात्युद्भट पदामोजः कान्ति गुणान्विताम् ।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविवक्षणाः ॥[5]

कविराज विश्वनाथ के शब्दों में—

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ।
समास बहुला गौडी ······ ····· ·· ॥[6]

अर्थात् ओजगुण के अभिव्यञ्जक वर्णों से पूर्ण समास प्रचुर उद्भट रचना को गौड़ी रीति कहते हैं ।

पाञ्चाली रीति वैदर्भी तथा गौड़ी रीति की अन्तरालवर्तिनी है । इसमें न तो बहुत अधिक समस्त पद होते हैं और न ही असमस्त अपितु पाँच या छः पदों के

---

१. अस्पृष्टा दोष मात्राभिः समग्र गुणगुम्फिता ।
विपञ्ची स्वर सौभाग्या वैदर्भी रीति रिष्यते ॥ —काव्यालङ्कार सूत्र पृ० १७ ।
२. साहित्यदर्पण, ६/२-३ । ३. काव्यालंकार, २/४/३ ।
४. काव्य प्रकाश, ८/७४ । ५. काव्यालङ्कार सूत्र, १/२/१२, पृ० २० ।
६. साहित्य दर्पण, ६/३ ।

समास इसमें प्राप्त होते हैं। वामन के अनुसार इसमें माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों का निवास होता है—

माधुर्य सौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।
आश्लिष्ट श्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चाली कवयो: विदु: ॥[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि रीतियाँ तीन ही हैं—वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली।

'जयन्तविजय' में वैदर्भी रीति—

'जयन्तविजय' महाकाव्य की प्रमुख रीति वैदर्भी है, क्योंकि वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता को सभी साहित्याचार्यों तथा कवियों ने एक मत से स्वीकार किया है। वामन के अनुसार सकल गुणों से विशिष्ट होने के कारण वैदर्भी रीति ग्राह्य है और अल्प (केवल दो) गुणों से विशिष्ट होने के कारण गौडीया और पाञ्चाली रीतियाँ अग्राह्य हैं।[2]

राजशेखर के अनुसार साहित्य विद्या वधू काव्य पुरुष को गौड़ीय रीति के मूल स्थान प्राची प्रदेश में आकृष्ट नहीं कर सकी, पाञ्चाली रीति के मूल स्थान पाञ्चाल प्रदेश में वह उसके प्रति थोड़ा आकृष्ट होने लगा और वैदर्भी रीति के मूल स्थान दक्षिण प्रदेश में वह उस पर पूर्णरूप से मुग्ध हो गया तथा वहीं वत्सगुल्म नामक नगर में उन दोनों का विवाह भी सम्पन्न हुआ।[3] इस प्रकार इस कथा द्वारा राजशेखर ने वैदर्भी रीति को प्रकान्तर से सर्वोत्तम रीति घोषित किया है।

वैदर्भी की सर्वश्रेष्ठता के सम्बन्ध में कवि गण भी आलंकारिकों से पीछे नहीं रहे हैं। श्रीहर्ष के शब्दों में—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इत: स्तुति: का खलु चन्द्रिकाया: यदब्धिमप्युत्तरली करोति ॥[4]

अर्थात् वैदर्भी रीति (दमयन्ती) तुम वास्तव में धन्य हो जिसने अपने उदार गुणों से नैषध (काव्य या नल) को आकृष्ट कर लिया है। चन्द्रिका की इससे अधिक स्तुति क्या हो सकती है कि वह समुद्र को भी चञ्चल बना देती है।

महाकवि कलिदास ने इसी मनोहारिणी रीति का आश्रय लेकर विमल यश प्राप्त किया। कवि विल्हण ने तो इसकी प्रशंसा मुक्त-कण्ठ से की है—

---

१. काव्यालङ्कार सूत्र, १/२/१३।
२. तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्। वही, १/२/१४।
   न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् ॥ वही, १/२/१५।
३. काव्य मीमांसा, पृ० १६-२२।
४. नैषधीय चरित, ३/११६।

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वती विभ्रमजन्मभूमिः ।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुद्रेति सौभाग्य लाभ प्रतिभूपदानाम् ॥[1]

अर्थात् इससे अधिक वैदर्भी रीति की और क्या प्रशंसा की जा सकती है कि वह रुचिर वैदर्भी काव्य में जब अपना विलास दिखाने लगती है तो स्वर्ग भी नीरस एवं मोक्ष भी निरानन्द प्रतीत होने लगता है। अतः ऐसी मनोहारी वैदर्भी रीति को ही संस्कृत भाषा के कवियों ने काव्य में यदि सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया तो इसमें आश्चर्य क्या ?

महाकवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य में भी इसी वैदर्भी रीति की प्रधानता है क्योंकि गुण निरूपण के अवसर पर यह भली भाँति स्पष्ट हो चुका है कि 'जयन्तविजय' महाकाव्य में सभी माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण विद्यमान हैं। रचना प्रायशः समास रहित अथवा अल्प समासों से युक्त है तथा पदों की संघटना श्रवण सुखद है। यथा—

सरोवरैर्यत्र भुवो विभान्ति, सरोवराणिस्मितपद्मखण्डैः ।
तैः पद्मखण्डानि च राजहंसैः स्वै राजहंसाः सुगतिप्रचारैः ॥[2]

अर्थात् जहाँ पर पृथ्वी सरोवरों से, सरोवर विकसित पद्मखण्डों से, वे पद्मखण्ड राजहंसों से और वे राजहंस अपनी सुगति के प्रचार से सुशोभित होते हैं। यहाँ माधुर्य वर्णन के अनुरूप ही मधुर पदों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार—

भोगावतीं भोगिपतिः सुरेन्द्रोऽमरावतीं प्रत्यधिकानुरागम् ।
मुमोच चारुत्वमवेक्ष्य यस्याः सा तत्र नाम्नास्ति पुरी जयन्ती ॥[3]

अर्थात् जिस नगरी की चारुता को देखकर शेषनाग ने भोगावती तथा इन्द्र अमरावती के प्रति अधिक प्रेम को छोड़ दिया। ऐसी नाम के अनुरूप जयन्ती गरी है।

यहाँ पर नगरी के वर्णन में माधुर्य व्यंजक वर्णों का प्रयोग हुआ है। श्लोक के आरम्भ में ही 'भोगावतीं भोगिपतिः' में अनुप्रास की मनोहर छटा पाठक को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है तथा द्वितीय पंक्ति में मकार का प्रयोग रचना में लालित्य का सञ्चार कर रहा है। अतः यह स्वयं सिद्ध हो जाता है, कि कवि ने वर्णन के अनुरूप ही पदावली का प्रयोग किया है तथा ऐसे अवसरों पर सर्वत्र प्रसाद गुण की अभिव्यक्ति हुई है। माधुर्य गुण की अभिव्यक्ति शृंगार के अवसर पर दर्शनीय है—

---

१. विक्रमाङ्क देव चरित, १/६ ।
२. जयन्तविजय, १/३० ।
३. वही, १/४१ ।

कुवलयदलनेत्रां　पक्वनारंगनव्य-
त्वगुदित रसधाराक्षेपतो व्याकुलाक्षीम् ।
विदधदथ जयन्तोऽन्यां चुचुम्बे तदग्रे
गुरुरिह　चतुरत्वे　कामदेवोऽस्यनूनम् ।।[1]

अर्थात् पकी हुई नारंगी के नवीन वल्कल से निकले हुए रस की धारा के गिराने से एक नायिका को व्याकुल नेत्र वाली कहते हुए जयन्त ने कमल दल के समान नेत्रों वाली दूसरी नायिका का चुम्बन किया। इस प्रकार उसकी इस क्रीडा की चातुरी में कामदेव निश्चय ही गुरु ठहरा।

यहाँ पर संयोग श्रृंगार का वर्णन हुआ है और उसी के अनुरूप ही मधुर पदों जैसे 'पक्वनारंगनव्य', 'चुचुम्बे', 'चतुरत्वे' आदि पदों में वर्ण रचना दर्शनीय है। इस प्रकार अपनी मधुरता के प्रयोग से यह रचना श्रृंगार को और भी अधिक आस्वाद्य बना रही है।

आनन्दवर्धन ने संघटना के नियामक तीन तत्त्व माने हैं[2]—१. वक्ता का औचित्य, २. बोद्धा का औचित्य, ३. वाच्य का औचित्य।

जयन्तविजय महाकाव्य एक वर्णनात्मक काव्य है तथा इसके रचयिता महाकवि अभयदेव सूरि जैन धर्मावलम्बी हैं। उन्होंने यद्यपि इस काव्य में जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया है किन्तु फिर भी काव्य की शैली उपदेशात्मक हो गयी है। तृतीय सर्ग में राजा विक्रमसिंह अपनी प्रतिज्ञा की चर्चा मन्त्री सुबुद्धि से करते हैं। मन्त्री सुबुद्धि राजा की इच्छा पूर्ति का साधन पंचनमस्कार मन्त्र की आराधना को बतलाता है—

नमस्कारः परं तत्र श्रीपंचपरमेष्ठिनाम्।
प्रयात्यनन्य सामान्ययान पात्रसगोत्रताम् ।।
किं चायं विधिवद्ध्यातः सर्वकर्मसु कर्मठः।
कल्याणकदलीकन्दस्यन्दमानः　सुधारसः ।।[3]

यहाँ पर वक्ता मन्त्री सुबुद्धि तथा बोद्धा राजा विक्रमसिंह हैं। इसी प्रकार पंचदश सर्ग में सर्वज्ञता के सम्बन्ध में ब्राह्मण और जैन सिद्धान्तों का विवरण शास्त्रार्थ के रूप में देकर ब्राह्मण विचारधारा पर जैन विचारधारा की विजय दिखलायी गयी है। इस सर्ग में वर्णन इस प्रकार है कि एक दिन सुस्थिताचार्य जयन्ती नगरी के उद्यान में

---

१. जयन्तविजय, ८/२१।
२. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान् तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ।। —ध्वन्यालोक ३,६।
३. जयन्तविजय, ३/२-३।

पधारते हैं। राजा विक्रमसिंह उनका स्वागत करते हैं। आचार्य राजा को उपदेश सुनाते हैं जिसके सुनने से राजा का मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है और उन्हें सम्यकत्व की प्राप्ति हो जाती है। यहाँ पर वक्ता सुस्थिताचार्य तथा बोद्धा राजा विक्रमसिंह हैं। इस प्रकार कवि ने सभी स्थलों पर वक्ता तथा बोद्धा के औचित्यानुसार ही संघटना का प्रयोग किया है। वक्ता तथा बोद्धा सभी शिष्टजन हैं। अतः भाषा में कहीं भी अग्राम्यत्व नहीं है। वाच्य के औचित्य का उन्होंने सर्वत्र पालन किया है। वीर एवं रौद्र रस के अवसर पर ओजपूर्ण तथा शृङ्गार एवं करुण के अवसर पर माधुर्यपूर्ण संघटना है। वैदर्भी तो समग्र गुणसम्पन्न रीति है। अतएव उसमें सभी प्रकार के भावों को व्यक्त करने की क्षमता है। महाकाव्य में वीर रस के अवसर पर दीर्घ समासों का प्रयोग भी प्राप्त होता है परन्तु रसानुकूल होने के कारण वह संघटना का गुण ही है, दोष नहीं। दीर्घ समासों के प्रयोग के अवसर पर भी कवि ने सर्वत्र प्रसाद गुण का ध्यान रखा है। यही कारण है कि यदि प्रकृति वर्णन इत्यादि स्थलों पर भी कहीं दीर्घ समासों का प्रयोग हुआ है तो वह सहृदय की सौन्दर्यानुभूति में बाधक नहीं हुआ है। यथा—

काञ्ची कञ्चन किंकिणीरणरणत्कारापनिद्रस्मरं।
दोलान्दोलन कौतुकं मृगदृशामालोक्य लोकोत्तरम्॥
तत्रासक्त मनाः प्रयाति नलिनीकान्तः प्रशान्तैर्हयै-
र्मन्दंमन्दमतीव वृद्धिमधिकां पुष्णन्त्यमी वासराः॥[1]

अर्थात् काञ्ची प्रदेश की स्त्रियों की करधनी की किंकिणियों की आवाज से समाप्त निद्रा वाला, मृगनयनियों के लोकोत्तर दोलान्दोलन कौतुक को देखकर वहाँ पर आसक्त मन वाला, नलिनीक्रान्त (सूर्य) थके हुए घोड़ों से अत्यन्त मन्द-मन्द जाता है। इसीलिए दिन अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं।

यहाँ पर कवि अभयदेव की कल्पना चरम सीमा पर पहुँच गयी है क्योंकि दिन वृद्धि का कारण दोलान्दोलन है। इसके साथ ही कवि ने उसी क्रीडा के अनुरूप ही मधुर पदों जैसे कवर्ग का बाहुल्य तथा 'काञ्ची', 'काञ्चन', 'मन्दं', 'मन्दं' इत्यादि पदों में अपने-अपने वर्ग के पञ्चम वर्णों से युक्त स्पर्श वर्णों का प्रयोग किया है जो अपनी मधुरता से प्राकृतिक चित्रण को और भी आस्वाद्य बना रहा है।

इसी प्रकार वीर रस में ओज गुण के अनुकूल दीर्घ समासयुक्त संघटना का उदाहरण प्रस्तुत है—

आसन्नसंग्रामसमुत्सहिष्णोर्वीर व्रजस्यान शिरे मनांसि।
हर्षप्रकर्षैः समुदञ्चदुच्चरोमाञ्च चक्रैश्च चिरं वपूंसि॥[2]

---

१. जयन्तविजय, ७/७४। २. वही, १०/२७।

यहाँ पर सकार के प्रयोग से युक्त रचना वीर रस की व्यञ्जना में सहायक सिद्ध हो रही है--

अपि च—

खड्गाखड्गि शराशर प्रभृति भिर्युद्ध प्रकारैर्युधं
कारंकारमपार कौतुकरसं विस्तारयन्तौ दृशाम् ।
प्रत्येकं विजयश्रिया रणगुणोत्कर्षापकर्षक्षणे
कं यामीति विमुग्धया प्रतिकलं तौ⋯खिन्नया ।।[१]

अर्थात् तलवार का तलवार से, बाण का बाण से जवाब देने वाले युद्ध को करते हुए एवं अपार कुतूहल रस को दृष्टि के सामने फैलाते हुए उन दोनों के युद्ध के गुण के उत्कर्ष और अपकर्ष के क्षण में विमुग्ध विजयश्री से किसके पास जाऊँ ? इस तरह से परेशान होकर विचारा गया ।

प्रस्तुत उदाहरण में भी वीर रस की अभिव्यञ्जना हुई है तथा 'खड्गा-खड्गि' पदों में अपने-अपने वर्ग के पञ्चम वर्णों से युक्त वर्णों का प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार सकार तथा रेफ का प्रयोग भी ओज गुण को उत्कर्ष प्रदान कर रहा है ।

कवि ने सदैव वाच्य के अनुकूल ही पदावली का प्रयोग किया है । महाकाव्य में आये हुए उपदेशात्मक स्थलों की भाषा गम्भीर एवं प्रभावपूर्ण है । पन्द्रहवें सर्ग में सुस्थिताचार्य जी जैनधर्म की सर्वश्रेष्ठता को सिद्ध करते हुए कहते हैं—

सुगति प्रेयसी पुंसां बोभवीति वशंवदा ।
जृम्भमाणे जिनेन्द्रोक्तधर्मकार्मण कर्मणि ।।[२]

अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए धर्म कर्म का पालन करने पर पुरुषों के लिए सुगति प्रियतम और स्वाधीन होती है ।

यहाँ पर कवि ने सरल तथा समास रहित अथवा अल्प समासयुक्त शैली का आश्रय लिया है । शैली की सरलता तथा प्रसाद गुण के कारण ये उपदेश पाठक के हृदय में अपना गहरा प्रभाव छोड़ते हैं ।

इसी प्रकार सप्तम तथा अष्टम सर्ग में बसन्त ऋतु के आगमन पर दोलान्दोलन, पुष्पावचय तथा जलकेलि के अवसर पर अलङ्कारयुक्त मधुर भावों को व्यक्त करने में समर्थ कोमल रीति का प्रयोग है । कवि ने यहाँ पर भी वक्ता, बोद्धा तथा वाच्य के औचित्य का पूरा ध्यान रखा है । कवि अभयदेव स्वभावतः कोमल हैं अतः उनकी भाषा में कोमल पदों का प्रयोग उचित है । इसके साथ ही वे एक उत्कृष्ट

---

१. जयन्तविजय, १०/७१ । २. वही, १५/१२ ।

कोटि के कवि हैं। अतः उनकी भाषा में आलंकारिता भी स्वाभाविक है। इसीलिए 'जयन्तविजय' में प्रयुक्त शैली की प्रशंसा करते हुए डॉ० राम जी उपाध्याय[1] कहते हैं—'अभयदेव की शैली अनेक स्थलों पर संगीतमयी है। ऐसा लगता है कि उनकी कविता के नृत्य में पद-विन्यास थिरकते से हैं। यथा—

कुरङ्गैरुतुङ्गै रणदनणु. घण्टैः करटिभिः
सुवर्णैः सद्वर्णैवसन निकरैः सुन्दरतरैः।
त्वयि स्वैरं वर्षत्यधिप न शिरः केन दुधुवे
विमुच्यैकं क्षोणीभर परवशं पन्नगपतिम् ॥ ९-६६.

इस प्रकार कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में वैदर्भी रीति का आश्रय लिया है। कवि परिमल ने तो इस वैदर्भी मार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलने के सदृश बताया है—

निस्त्रिंशधारासदृशेन ये षां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ता।

किन्तु कवि अभयदेव ने इस निस्त्रिंशधारा पर सफलतापूर्वक चलकर यह सिद्ध कर दिया है कि वे वस्तुतः एक महान कवि हैं।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में गुण निरूपण

काव्य में गुणों की स्थिति वाञ्छनीय ही नहीं अपितु आवश्यक है। भरत-मुनि ने दोषों के विपर्यास को ही गुण माना है।[2] उनके अनुसार गुणों की संख्या दश है—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, उदारता तथा कान्ति।[3] आचार्य दण्डी ने भी भरत मुनि के इन्ही दश गुणों का अनु-मोदन किया है।[4] आचार्य वामन की दृष्टि में भी गुणों का सर्वाधिक महत्त्व है। उन्होंने रीति निरूपण के प्रसङ्ग में गुणों का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। रीति को उन्होंने विशिष्ट पद-रचना माना है और विशिष्ट पद की व्याख्या करते हुए उन्होंने विशेषता का आधार गुणों के द्वारा माना है।[5] उनके अनुसार काव्य शोभा के

---

१. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।
२. एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटिका श्रयाः।
एतएव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः ॥ —नाट्य शास्त्र, १७/६५।
३. श्लेषः प्रसादः समता समाधि माधुर्ययोजः पद सौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्यगुणाद शैते ॥ वही, १७/९०।
४. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थ व्यक्ति रुदारत्वमोज कान्ति समाधयः ॥ —काव्यादर्श, १-४१।
५. विशिष्ट पद रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। —का० सू० वृ०, १/२/७, ८।

उत्पादक धर्म गुण कहलाते हैं[१] और उन्होंने गुणों को काव्य का नित्य धर्म माना है।[२] इनके अनुसार भी गुणों की संख्या १० है। आचार्य वामन गुणों की स्थिति शब्द और अर्थ दोनों में समान रूप से स्वीकार करते हैं अर्थात् उनके अनुसार दश शब्द गुण तथा दश अर्थ गुण हैं।

आचार्य वामन के अनुसार रीति काव्य की आत्मा है और गुण रीति के धर्म हैं। ध्वनिवादी आचार्य रस ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं और उनके अनुसार उसी रस का आश्रय लेने वाले धर्म गुण कहलाते हैं—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।[३]

मम्मट के अनुसार आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान काव्य के आत्मभूत प्रधान रस के जो नित्य एवं उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं वे गुण कहलाते हैं।[४] उनके अनुसार गुणों की संख्या तीन है दश नहीं।[५] उन्होंने इन्हीं तीन गुणों में ही दश गुणों को निहित माना है। उनके अनुसार दश गुणों में से कुछ तो इन्हीं तीनों गुणों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, कुछ केवल दोषाभावरूप होते हैं तथा कतिपय कहीं पर गुण न रहकर दोष हो जाते हैं। अतः गुणों की संख्या केवल तीन ही है।[६]

कवि अभयदेव ने भी इन्हीं गुणों का समावेश अपने जयन्तविजय महाकाव्य में किया है। उन्होंने भरत मुनि द्वारा निर्दिष्ट लक्षण का पूर्ण समर्थन किया है। उनके अनुसार—

महाकवीनामपि नव्यकाव्ये दोषः कदाचित्किल संभुविष्णुः।
प्रमादनिद्रोदय मुद्रया हि क्रोडीक्रियन्ते सुधियां धियोऽपि॥[७]

अर्थात् महाकवियों के भी नवीन काव्य में कदाचित् दोष होना निश्चय ही सम्भव है, क्योंकि बुद्धिमानों की बुद्धि भी प्रमाद निद्रा के उदय के कारण कुण्ठित हो जाती है।

किन्तु अच्छा कवि यशोविलास की प्राप्ति के लिए इच्छुक होकर काव्य के

---

१. काव्यशोभायाः करतारोधर्मा गुणाः। —का० सू० वृ०, ३/१/१।
२. पूर्वे नित्याः। वही, ३/१/३।
३. ध्वन्यालोक २/६।
४. ये रसस्याङ्गिनोधर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ —काव्य प्रकाश, ८/६६।
५. माधुर्यौजः प्रसादाख्यस्त्रयस्ते न पुनर्दश। वही, ८/६८।
६. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परेश्रिता।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततोदशः॥ वही ८/७२।
७. जयन्तविजय, १/६।

दोषों का निराकरण कर देता, क्योंकि सफल वैद्य शरीर के सुख के लिए काँटे (वेदना) को निकाल ही देता है—

अभ्यर्थितः सोऽपि यशोविलास लास्याय काव्यस्य धुनोति दोषम् ।
समुद्धरत्येव हि वैद्यराजः शल्यं तनोः सौख्यकृते कृतार्थः ।।[1]

कवि अभयदेव उन कवियों की घोर निन्दा करते हैं, जो दुर्जन कवि अपने बिगड़े हुए शब्दों से काव्य गृह में प्रवेश करके काव्य को विकृत कर देते हैं । उनकी दृष्टि में उसे तो एक मात्र दोषद्रष्टा उलूक पक्षी की भाँति बुद्धिमानों को दूर ही रखना चाहिए—

उद्वासयत्यात्मविरूपशब्दैर्यो दुर्जनः काव्यगृहं निविश्य ।
उलूक पक्षीव स दूर एव दोषैक दृष्टिर्विबुधैर्विधेयः ।।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है, कि कवि अभयदेव ने काव्य में दोष राहित्य पर विशेष बल दिया है । अतः यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि कवि ने दोष राहित्य पर आग्रह किया है उसने निश्चय ही अपने काव्य में अपनी मान्यताओं के परिपालन का पूर्ण प्रयास किया होगा । परिणामस्वरूप 'जयन्तविजय' महाकाव्य में सभी गुणों का सद्भाव प्राप्त होता है । प्रसाद गुण तो महाकाव्य में सर्वत्र व्याप्त है ही, साथ ही वीर तथा शृंगार रसों के अवसर पर क्रमशः ओज एवं माधुर्य गुणों की छटा भी दर्शनीय है । कवि अभयदेव के काव्य में वैसे तो पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट दश गुणों में से अधिकांश के उदाहरण मिल जाते हैं किन्तु ध्वनिवादियों द्वारा निर्दिष्ट ओज, प्रसाद तथा माधुर्य गुणों में ही उनका अन्तर्भाव हो जाने के कारण यहाँ उन्हीं का विवेचन किया जा रहा है ।

प्रसाद गुण—काव्य में प्रसाद गुण का प्रमुख स्थान है, क्योंकि माधुर्य तथा ओज गुणों का उत्कर्ष जहाँ काव्य में केवल कुछ विशेष रसों में ही प्राप्त होता है वहीं प्रसाद गुण का उत्कर्ष सभी रसों में समान रूप से देखा जाता है । आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य का सभी रसों के प्रति जो सम्पर्क है वह सभी रसों में समान स्थितिवाला प्रसाद गुण कहलाता है ।[3] मम्मट के अनुसार सूखे ईंधन में अग्नि के समान तथा वस्त्र में स्वच्छ जल के समान जो गुण हृदय में अनायास व्याप्त हो जाता है वह सर्वत्र (सभी रसों में) रहने वाला प्रसाद गुण कहलाता है ।[4] उनके अनुसार—

१. जयन्तविजय, १/१२ । २. वही, १/१३ ।
३. समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वान् रसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो जेयः सर्वसाधारण क्रियः ।। —ध्वन्यालोक, २/१ ।
४. शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।
व्याप्नोत्यन्यत प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहित स्थितिः ।। —काव्य प्रकाश, ८/७० ।

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां सप्रसादो गुणोमतः ।।[1]

अर्थात् जिस शब्द अथवा रचना के द्वारा श्रवण मात्र से ही अर्थ की प्रतीति हो जाय वह सभी में रहने वाला गुण प्रसाद गुण कहलाता है ।

ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने शब्द और अर्थ की स्वच्छन्दता को प्रसाद गुण का लक्षण माना है । उनके अनुसार सभी रचनाओं में रहने पर भी प्रसाद गुण व्यंग्यार्थ (रस) की अपेक्षा से ही मुख्य रूप से व्यवस्थित होता है ।[2]

इस प्रकार काव्यार्थ की झटिति प्रतीति का कारण प्रसाद गुण है । अर्थ की शीघ्र प्रतीति न होने के कारण रसास्वाद में बाधा पड़ती है, किन्तु प्रसाद गुण के कारण यह बाधा दूर हो जाती है । अतः रसाभिव्यक्ति के कारण भी प्रसाद गुण का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

जयन्तविजय महाकाव्य में प्रसाद गुण का बाहुल्य है, क्योंकि श्लोकों के पठन मात्र से ही अर्थ की शीघ्र प्रतीति हो जाती है । अतः रसास्वाद में किसी प्रकार की बाधा नहीं आने पाती । दीर्घ समासों का प्रयोग प्रायः काव्य में बहुत ही कम हुआ है । रचना समास-रहित अथवा अल्प समासयुक्त है । यही कारण है कि उनकी कविता के नृत्य में पद-विन्यास थिरकते से हैं । यथा—

कुरङ्गैरुत्तुङ्गैः रणदनणुघण्टैः करटिभिः
सुवर्णैः सद्वर्णैर्वसननिकरैः सुन्दरतरैः ।
त्वयि स्वैरं वर्षत्यधिप न शिरः केन दुधुवे
विमुच्यैकं क्षोणीभरपरवशं पन्नगपतिम् ।।[3]

अर्थात् हे राजन् तुम्हारे स्वतन्त्रतापूर्वक उत्तङ्ग कुरङ्गों, बड़े-बड़े घण्टों से युक्त हाथियों, अच्छे सुवर्णों तथा सुन्दर वसनों द्वारा दान देने से एक क्षोणी के भार से दबे हुए शेषनाग को छोड़कर किसका सिर न चकराया अर्थात् सबका चकरा गया ।

यहाँ पर स्वल्प समासयुक्त रचना के कारण वाक्यार्थ की प्रतीति सरलता से हो जाती है और उसके साथ ही व्यंग्यार्थ रूप विक्रमसिंह की दानवीरता की प्रतीति उसी क्षण हो जाती है । अतः यहाँ पर प्रसाद गुणयुक्त रचना वीर रस की चर्वणा में सहायक हो रही है ।

---

१. काव्य प्रकाश, ८/७६ ।

२. प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः । स च सर्वसाधारणोगुणः सर्वश्चता साधारणश्च व्यंग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः ।
—ध्वन्यालोक, २/१० कारिका की वृत्ति ।

३. जयन्तविजय, ६/६६ ।

अपि च—

गजेन्द्रात्क्षेपितैर्वीरैः स्वैरमाधोरणा बभुः ।
प्रीतये प्रेतनाथस्य प्रस्तुतोपायना इव ।।[१]

अर्थात् हाथियों से स्वतन्त्रतापूर्वक फेंके गये वीरों से महावत मानो यमराज को प्रसन्न करने के लिए भेंट चढ़ा रहे हैं ।

यहाँ पर भी स्वल्प समासयुक्त रचना के कारण वाक्यार्थ की प्रतीति में कठिनाई का अनुभव नहीं होता है तथा इसके साथ ही व्यंग्यार्थ रूप जयन्त के सैनिकों की वीरता एवं युद्ध की भीषणता तथा इसके द्वारा वीर रस की प्रतीति उसी क्षण हो जाती है । अतः यहाँ पर भी प्रसाद गुण वीर रस की चर्वणा में सहायक हो रहा है ।

इसी प्रकार महाकाव्य में सर्वत्र अर्थ की निर्वाध प्रतीति प्रसाद गुण के माध्यम से हो रही है ।

माधुर्य गुण—शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति का माध्यम माधुर्य गुण माना गया है, क्योंकि रसों में सर्वाधिक मधुर एवं आह्लादकारी रस श्रृंगार रस ही है । इस गुण का विप्रलम्भ श्रृंगार तथा करुण रस में अत्यधिक प्रकर्ष देखा जाता है, क्योंकि इन रसों में चित्त की आर्द्रता तथा विह्वलता अधिक होती है । ध्वनिकार के शब्दों में—

शृङ्गार एवमधुरः परः प्रहलादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यप्रतितिष्ठति ।।
शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ।।[२]

आचार्य मम्मट ने भी माधुर्य का लक्षण करते हुए लिखा है कि मूर्धिन स्थित अपने-अपने वर्ग के अन्तिम वर्णों से युक्त, 'ट' वर्ग को छोड़कर शेष स्पर्श वर्ण ह्रस्व रकार तथा णकार और समास-रहित अथवा स्वल्प समास वाली रचना माधुर्य गुण में व्यंजक होती है ।[३] उन्होंने भी माधुर्य को श्रृंगार रस में चित्त के द्रवीभूत का का कारण और आह्लाद-स्वरूप माना है तथा करुण, विप्रलम्भ एवं शान्त रस में उत्तरोत्तर चमत्कारजनक कहा है—

आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृंगारे द्रुति कारणम् ।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।।[४]

---

१. जयन्तविजय, ११/६६ । २. ध्वन्यालोक, २/७,८ ।
३. मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ।। —काव्य प्रकाश, ८/७४ ।
४. काव्य प्रकाश, ८/६८,६९ ।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में माधुर्य गुण के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यथा—

चरणकमलमेकं पादमूले सहेलं
मृदु भुजयुगलं च स्कन्धदेशे निवेश्य ।
सरससुरत केलिप्रोक्तमार्गेण काचि
त्प्रियमिव तरुमुच्चैरारुरोहायताक्षी ।।[१]

अर्थात् कोई स्त्री एक पैर लीलापूर्वक वृक्ष के पादमूल में रखकर तथा दोनों कोमल भुजाओं को स्कन्ध प्रदेश में डालकर सरस सुरति केलि के बताये मार्ग से प्रियतम के ऊपर की भाँति ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गयी।

यहाँ पर मकार, लकार एवं सकार का अधिक प्रयोग एवं स्वल्प समासों की संघटना माधुर्य एवं लालित्य का विस्तार करते हुए शृंगार रस के उत्कर्ष में सहायक हो रही है।

अपि च—

रम्यावधित्वेन यदोय साल विद्याधरीषु स्थितिमीयुषीभिः ।
विद्याधरीभिर्निशि धर्तुमीहां चक्रे करे कन्दुकलीलयेन्द्रः ।।[२]

अर्थात् जहाँ पर अधिक समय तक निवास करने की इच्छा वाली विद्याधर की स्त्रियों के समान स्त्रियों द्वारा रात्रि में कन्दुक लीला से इन्दु को पकड़ने की इच्छा की जाती है।

यहाँ पर स्वल्प समास से युक्त रचना माधुर्य का सञ्चार करते हुए हमारे नेत्रों के सामने जयन्तीपुरी का भव्य चित्र उपस्थित कर देती है।

इसी प्रकार—

कुच कलश निपात प्रोच्छलत्तारहार-
प्रचुर रुचि वितानैर्व्योम्नि दोलाधिरूढा ।
प्रबलपवनतरङ्गद्व्योम गङ्गातरङ्ग-
श्रियमिव विदधाना भाति काचिन्नतभ्रूः ।।[३]

अर्थात् दोलारूढ़ कोई सुनेत्री कुच कलश के ऊपर गिरने के कारण उछलने वाले सुन्दर हार से मानो प्रबल पवन की तरङ्ग से चञ्चल आकाशगङ्गा की तरङ्ग की शोभा को धारण करती हुई सी सुशोभित हुई।

यहाँ पर 'क', 'र', 'व', 'प' तथा ङकार युक्त गकार का प्रयोग अपने माधुर्य से नायिका की मञ्जुल मूर्ति को हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है।

१. जयन्तविजय, ८/१६ । २. वही, १/४५ ।
३. वही, ८/३ ।

ओज गुण—आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य में स्थित रौद्र (वीर, वीभत्स) आदि रस दीप्ति के कारण ही लक्षित होते हैं। ओज गुण का आश्रय इसी दीप्ति को अभिव्यक्त करने वाले शब्द और अर्थ में होता है। अतः ओज गुण का प्रकाशन दीर्घ समासों की रचना से अलंकृत वाक्य के द्वारा होता है—

रौद्रादयो रसादीप्त्या लक्षयन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्ति हेतु शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्॥
तत्प्रकाशन परः शब्दो दीर्घसमास रचनालंकृतं वाक्यम्॥[1]

ध्वनिकार के इस मत का आचार्य मम्मट ने भी समर्थन किया है।[2] उनके अनुसार वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ उसके बाद के अर्थात् द्वितीय एवं चतुर्थ वर्ण का ऊपर नीचे अथवा दोनों ओर विद्यमान रेफ के साथ किसी वर्ण का, दो तुल्यवर्णों का एक साथ योग, णकार को छोड़कर शेष टवर्ग का प्रयोग शकार तथा षकार का प्रयोग दीर्घ समास तथा विकट रचना ओज के व्यञ्जक होते हैं।[3]

कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' में ओज गुण के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं—

योधे प्रसिद्धैर्युयुधेरिसौ (रो) धैः सहाश्ववारैः समश्ववारैः।
रथिप्रवीरै रथिकैश्च सार्धं समान कक्षैर्जयबद्ध लक्षैः॥[4]

अर्थात् युद्धस्थल में प्रसिद्ध शत्रुओं के साथ शत्रु, असवारों के साथ असवार और रथी के साथ रथी जय के लक्ष्य को बाँधते हुए डट गये।

यहाँ पर जयन्त तथा हरिराज की सेनाओं का समराङ्गण में वर्णन हुआ है तथा रकार और सकार का सफल प्रयोग ओज गुण को दीप्त करता हुआ वीर रस को पुष्ट कर रहा है। प्रस्तुत उदाहरण में ओज गुण के साथ ही प्रसाद गुण का समावेश होने के कारण रस चर्वणा में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं आने पायी है—

इसीलिए आचार्य वामन ने ओज के साथ प्रसाद का मिश्रण आवश्यक माना है—

---

१. ध्वन्यालोक २/६ की कारिका तथा वृत्ति।
२. दीप्त्यात्म विस्तृतेर्हेतुरोजो वीर रसस्थिति।
वीभत्स रौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥ —काव्य प्रकाश, ८/६९-७०।
३. योग आद्यस्तृतीयाभ्यामन्तयो रेणु तुल्ययो।
रादिः शर्वो वृत्तिदर्ध्यं गुम्फ उद्धत ओजसि॥ —वही, ८/७५।
४. जयन्तविजय, १०/४०।

श्लथत्वमोज सा मिश्रं प्रसादं च प्रचक्षते ।
अनेन न विना सत्यं स्वदते काव्यपद्धतिः ॥[१]

वीर रस के अतिरिक्त रौद्र रस के प्रसङ्ग में भी ओज गुण का चमत्कार प्रस्तुत काव्य में दृष्टिगोचर होता है—

रराज गुञ्जारुणनेत्रकान्ति करम्बिता तस्य कृपाणलेखा ।
समस्त वैरक्षितिपालशौर्यं सूर्यास्त संध्येव परिस्फुरन्ती ॥[२]

यहाँ पर युद्धस्थल का वर्णन है तथा रकार और सकार का प्रयोग क्रोध को उद्दीप्त करता हुआ रौद्र रस की अभिव्यक्ति करा रहा है ।

इसी प्रकार वीभत्स रस में भी ओज गुण द्रष्टव्य है—

मृतककोटि कराल कलेवर प्रचुरदुःसहगन्धभरावहे ।
अभिमुखागत गन्धवहैर्मुहुर्यदति दूर विवर्त्यपि सूच्यते ॥
मिलिद संख्य शिवाकृत फेत्कृतैर्यद सुकम्पकृदुद्रितमूर्द्धजम् ।
अधिक घूक धनार्तिदघूत्कृतैः स्खलित कातरजन्तु गतागति ॥[३]

यहाँ पर श्मशान के वर्णन में वीभत्स रस की अभिव्यक्ति हुई है । अर्थात् मरे हुए करोड़ों भयंकर कलेवरों से अत्यन्त दुःखदायी गन्ध के भार से परिपूर्ण स्थल अत्यन्त दूर होता हुआ भी सामने आते हुए वायु से बार-बार सूचित किया गया । वहाँ पर असंख्य शृगालियाँ हुकार कर रही थीं तथा रात्रि में उल्लू बोल रहे थे जिससे साधारण आदमियों को भय उत्पन्न हो रहा था ।

प्रस्तुत उदाहरणों में भी कवर्ग तथा रेफयुक्त वर्णों का प्रयोग इस जुगुप्सा को और उद्दीप्त करता हुआ वीभत्स रस की अभिव्यक्ति करा रहा है । यहाँ पर दीर्घ समासयुक्त रचना ओज गुण की प्रतीति हो रही है ।

इस प्रकार कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य में प्रसाद, माधुर्य तथा ओज गुण के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । प्रसाद गुण तो महाकाव्य में सर्वत्र ही व्याप्त है ।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में अलङ्कार योजना

साहित्य में अलङ्कार योजना

काव्य में अलङ्कारों के स्थान के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों के दृष्टिकोण समय-समय पर परिवर्तित होते रहे हैं । अलङ्कारों के महत्त्व के प्रबल समर्थक आलङ्कारिक भामह हैं । दण्डी, उद्भट, रुद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराज भी इसी मत के

१. काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति, ३/१, पृष्ठ ८१ । २. जयन्तविजय, १४/५ ।
३. जयन्तविजय, ४/९-१० ।

अनुयायी हैं। दण्डी के मत में काव्य को सुन्दर बनाने वाले धर्म अलङ्कार हैं। रुद्रट तथा प्रतिहारेन्दुराज ने भी अलङ्कारों को ही प्रधानता दी है। इस सम्प्रदाय के अनुसार अलङ्कार ही काव्य का जीवातु है। अग्नि की उष्णता के सदृश अलङ्कार काव्य का प्राणधायक तत्त्व है। जयदेव ने इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कहा है कि जो विद्वान् अलङ्कार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है, वह अग्नि को भी अनुष्ण क्यों नहीं मानता ? अलङ्कारहीन काव्य और अनुष्ण अग्नि एक ही कोटि की वस्तुएँ हैं जिसे केवल प्रमादी ही सच्चा मान सकता है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थवनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥[1]

आचार्य भामह के अनुसार अलङ्कार एवं उसका प्राणभूत वक्रोक्ति ही काव्य सौन्दर्य का सर्वस्व है। काव्य कितना ही उत्कृष्ट क्यों न हो, स्त्री मुख की भाँति भूषण सज्जा के अभाव में उसमें कमनीयता का आधार नहीं हो सकता है।[2]

भामह की भाँति दण्डी ने भी काव्य में अलङ्कारों का प्राधान्य स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में अलङ्कार काव्य का शोभाधायक धर्म है।[3] भामह की अपेक्षा दण्डी का दृष्टिकोण कुछ व्यापक प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने अलंकारों के प्राधान्य के साथ ही गुण एवं रस को भी महत्त्व दिया है। उनकी दृष्टि में वाक्य तथा वस्तु (शब्द और अर्थ) में रस की स्थिति होती है[4] तथा माधुर्य गुण रसयुक्त काव्य को कहते हैं। किन्तु युग की सीमाओं में दृढ़बद्ध दण्डी ने भी रसभावादि का अन्तर्भाव रसवत् प्रेय आदि अलङ्कारों में ही किया है।[5] भामह वक्रोक्ति के अभाव में हेतु, सूक्ष्म एवं लेश जैसे अलङ्कारों को अलङ्कार संज्ञा से अभिहित करने के पक्ष में नहीं है।[6] किन्तु दण्डी ने उन्हें 'वाचममुत्तमभूषणम्' कहकर उनकी अलङ्कारिता स्वीकार की है।[7] उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का आत्मभूत न मानकर वाङ्मय का

---

१. चन्द्रालोक, १/८।
२. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। —भामह, काव्यालंकार, १/१३।
३. काव्य शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। —काव्यादर्श, २/१।
४. मधुरं रसवत् वाचि वस्तुन्यपि रस स्थितिः। वही, १/५१।
५. प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवत्रसपेशलम्।
ऊर्जास्विरूढालङ्कारं युक्तोत्कर्षं च यत्र यम्॥ —वही, २/२७५।
६. सैषा सर्वं वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥
हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यन भिधानतः॥
—भामह, काव्यालंकार, २/८५-८६।
७. दण्डी, काव्यादर्श, २/२३५।

एक प्रकार स्वाकार कर 'स्वभावोक्ति' अथवा 'जाति' को काव्य की 'आद्यालंकृति' के रूप में प्रतिष्ठित किया है ।[१] वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, गुण एवं रस के सम्बन्ध में भामह और दण्डी का पूर्वोक्त विचार वैभिन्न काव्यालोचना के विकास का सूचक है। किन्तु यह विकास काव्यालोचना को बहिर्मुखी चेतना की परिधि में है क्योंकि भामह की ही भाँति दण्डी ने भी शब्दार्थ को ही अलङ्कार्य एवं काव्यालङ्कारों को काव्य सौन्दर्य का कारण स्वीकार किया है। निष्कर्ष रूप में दण्डी के मत में भी काव्य की अमरता या कल्पान्तर स्थायिता सदलङ्कारता में ही पर्यवसित होती है—

'काव्यं कल्पान्तरस्थायिजायते सदलंकृति ।'[२]

अलङ्कार के सम्बन्ध में वामन के विचार, दण्डी की अपेक्षा अधिक विकसित हैं। उन्होंने सर्वप्रथम काव्य की आत्मा की चर्चा करते हुए काव्य में अलङ्कारों एवं गुणों के परस्पर आपेक्षिक महत्त्व पर विचार किया है। अलङ्कार शब्द वामन की परिभाषा में—'सौन्दर्यमलङ्कारः' अर्थात् अलङ्कार सौन्दर्य का पर्याय है।[३] स्वभावतः उसमें गुण और अलङ्कार दोनों का समावेश हो जाता है। वामन के मत में यद्यपि गुण तथा अलङ्कार दोनों ही सौन्दर्य-सृष्टि के माध्यम हैं तथापि गुण यौवन की भाँति अन्तरंग नित्य[४] तथा शोभा धर्म हैं अर्थात् उनकी स्थिति से सौन्दर्योत्पादन सम्भव है।[५] अलङ्कार अनित्य, वाह्य तथा अतिशायी धर्म हैं, उनकी स्थिति से सौन्दर्योत्पादन सम्भव नहीं है।[६] वामन के उत्तरवर्ती उद्भट, रुद्रट, कुन्तक आदि आलङ्कारियों ने रसादि को भामह की भाँति रसवदादि की शृङ्खला में उपनिबद्ध कर अलङ्कार सम्प्रदाय की मान्यता को पुनः स्थापित किया है। आचार्य रुय्यक के शब्दों में निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि –

तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।[७]

अर्थात् प्राचीन अलङ्कारिकों की दृष्टि में काव्य में अलङ्कार तत्त्व ही प्रधान है।

किन्तु आगे चलकर यह धारणा शनैः-शनैः विगलित होने लगी। साहित्य क्षेत्र में रसवाद व ध्वनिवाद का नवोन्मेष होते ही आलङ्कारिकों का अलंकार के प्रति दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो गया, साथ ही काव्य में उनका एक निश्चित स्थान भी नियत हो गया। ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकार को काव्य का अस्थिर एवं

---

१. स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा । —दण्डी, काव्यादर्श, २/८ ।
२. काव्यादर्श १/१६ ।
३. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति, १/१/२ ।　　४. वही, ३/१/३ ।
५. वही, ३/१/१ ।　　६. वही, ३/१/२ ।
७. अलङ्कार सर्वस्व, पृ० ६ ।

गुणों को उस काव्य का स्थिर धर्म माना है। काव्य में गुणों की स्थिति अपरिहार्य है परन्तु अलंकार अपरिहार्य धर्म नहीं हैं। वे केवल अलंकार्य (रस) के उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं, जीवन धायक तत्त्व नहीं। प्रमुख रस ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि' लिखकर अलंकार रहित को भी काव्य स्वीकार किया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकारों का लक्षण पूर्वोक्त दृष्टिकोण से किया है।[१]

अलङ्कार बाहुल्य से कहीं काव्य का आत्मतत्त्व रस उपेक्षित न हो जाय, इस सम्बन्ध में भी ध्वनिवादी आचार्य सचेष्ट हैं। काव्य में किस प्रकार की अलङ्कार योजना रसोत्कर्ष में सहायक हो सकती है इस सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके मतानुसार रसानुभावक वस्तु को भाषा में प्रकट करते समय बहुधा परिश्रमसाध्य शब्दालङ्कारों का प्रयोग व्यंग्यार्थ को ध्वनित करने में सहायक नहीं होता है। विशेषतः शृङ्गार रस के अङ्गी होने पर एकरूपानुबन्ध वाला अनुप्रास तथा विप्रलम्भ में यमकादि का निबन्धन रस का प्रकाशक नहीं होता है।[२] क्योंकि ये अलङ्कार यत्नसाध्य हैं। अतएव सहृदय और कवि दोनों का अवधान खण्डित हो जाता है।

आनन्दवर्धन केवल उन्हीं अलङ्कारों को ग्राह्य स्वीकार करते हैं जिनका प्रयोग रसाक्षिप्ततया बिना किसी पृथक् प्रयत्न के किया जाये।[३] इस प्रकार के अलङ्कार रूपकादि अर्थालंकार हैं।[४] विभाव इत्यादि की संघटना के अवसर पर ये अलङ्कार बिना पृथक् प्रयत्न के कवि के अन्तःकरण में स्फुटित हो जाते हैं। इस प्रकार वे रसाभिव्यञ्जना के लिए अनिवार्य सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि रसानुभावक वस्तु में प्रधानतम तत्त्व केवल ध्वनि ही है तथा ध्वन्यर्थ विशेष प्रकार के उन

---

१. (क) तमर्थ मवलम्बतेयेऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥—ध्वन्यालोक, २/२१६।
(ख) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेणजातुचित्।
हारादिवलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ —काव्य प्रकाश, ८/६७।
(ग) शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ —साहित्यदर्पण, १०/१।

२. शृङ्गारस्यङ्गिनो यत्नादेकस्मानु बन्धवान्।
सर्वष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादि निबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ —ध्वन्यालोक, २/१४-१५।

३. रसाक्षिप्ततयायस्य वन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥ —वही, २/१६।

४. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिलङ्कारवर्गं एति यथार्थताम् ॥ —वही, २/१७।

वाच्यार्थों से ध्वनित होता है जिनको तदर्थ शब्दों से प्रकट किया जाता है। इस प्रकार के वाच्यार्थ ही अर्थालङ्कार हैं। अतएव इन अर्थालङ्कारों का प्रयोग आवश्यक है किन्तु इन अर्थालङ्कारों का प्रयोग भी काव्य के अंग रूप में अपेक्षित है अङ्गी रूप में नहीं। अर्थात् रूपकादि की विवक्षा रस परत्वेन हो, समय पर उनका ग्रहण, अनवसर पर त्याग तथा कहीं भी उनका निर्वाह दूर तक नहीं किया जाना चाहिए।[1] इस प्रकार स्पष्ट है, आनन्दवर्धन की अलङ्कार-योजना में केवल वही अलङ्कार ग्राह्य है जो रसाभिव्यञ्जक हो। अतएव उनका कहना है कि कवियों का कर्तव्य है कि वे शक्ति होने पर भी रसानुगुणता के अनुरूप ही अलङ्कारों की योजना करें।[2]

जयन्तविजय में अलङ्कार योजना

जयन्तविजय महाकाव्य में कवि अभयदेव ने काव्य में चारुत्व के आधान के लिए विभिन्न शब्दालंकारों और अर्थालङ्कारों का प्रयोग किया है। उन्होंने यद्यपि अलङ्कार विषयक किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना नहीं की, किन्तु फिर भी वे अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य के आधार पर सैद्धान्तिक रूप में ध्वनिवादी विचारधारा के समर्थक प्रतीत होते हैं। उन्होंने अलङ्कार, गुण, रीति एवं रस का वही महत्त्व स्वीकार किया है जो ध्वनिवादी आचार्यों को अभीष्ट है अर्थात् उन्होंने रस को काव्य की आत्मा एवं अलङ्कार को उसके अलङ्करण के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु व्यावहारिक पक्ष में उनका काव्य विदग्ध मण्डना नारी की भाँति अलङ्कारों से विभूषित है। उन्होंने यद्यपि अपने काव्य में शब्दालङ्कारों का प्रयोग बहुत कम किया है किन्तु फिर भी अनुप्रास की छटा पाठक को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इसके साथ ही उन्होंने अर्थालङ्कारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, भ्रान्तिमान तथा काव्यालिङ्ग का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में किया है तथा व्यतिरेक समासोक्ति, अपह्नुति, परिसंख्या, अर्थान्तरन्यास, अन्योन्य, अनुज्ञा आदि अलङ्कारों को भी काव्य में यथावसर स्थान प्रदान किया गया है।

(क) रसानुकूल अलङ्कारों का प्रयोग

महाकवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में रसानुकूल अलङ्कारों का प्रयोग किया है, क्योंकि वे ध्वनिवादी विचारधारा के पूर्ण समर्थक हैं और ध्वनि-

---

१. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन
कालेग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणात्
रूपकादिलंकार वर्गस्याङ्गत्वसाधनम्॥ —ध्वन्यालोक, २/१६।

२. अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्॥ —वही, ३/१४।

वादी आचार्य आनन्दवर्धन ने महाकाव्य में अलङ्कारों के प्रयोग के रस के अनुकूल होने पर बल दिया है। उनके अनुसार अलङ्कार योजना की शक्ति होने पर भी कवि को उनका प्रयोग रस के अनुकूल ही करना चाहिए।[१] अतः स्पष्ट है कि कवि के अपने काव्य में प्रयुक्त अलङ्कार चारुत्वोत्कर्ष में सहायक अवश्य सिद्ध हुए हैं किन्तु सर्वत्र प्रधानता रस की ही विवक्षित है।

यथा—

> यामिनीचरमयामचिरागे चक्रवाक इव संभृतरागः।
> स प्रियां नृपतिवंशपताकां तां तदेक्षितुमभूदनिमेषः॥[२]

अर्थात् रात्रि के अन्तिम प्रहर के सुन्दर समय में चक्रवाक के समान बढ़े हुए अनुराग वाले वे (राजा जयन्त) उस नृपति वंश की ध्वजा रूप उस प्रिया (कनकवती) को देखने के लिए निर्निमेष हुए।

यहाँ पर जयन्त की शृङ्गारिक चेष्टा का वर्णन है। अतः शृङ्गार रस ही प्रधान है किन्तु उसके साथ ही चक्रवाक को उपमान बनाकर कवि ने उपमा अलंकार की भी अभिव्यक्ति की है जो चारुत्वोत्कर्ष में सहायक सिद्ध हुई है क्योंकि जिस प्रकार रात्रि के अन्तिम प्रहर में चक्रवाक यह सोचकर कि अब रात्रि का अवसान हो रहा है अतः प्रियतमा से समागम होगा, अनुरागयुक्त हो जाता है ठीक उसी प्रकार से अनुरागयुक्त वह राजा भी नायिका को देखने की इच्छा से निर्निमेष हुए। अतः यहाँ पर कवि द्वारा प्रयुक्त उपमा अलंकार शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हुआ है।

इसी प्रकार—

> पर्वते किमिह पर्वतपुत्री पर्वतश्रियमवेक्षितुमागात्।
> किं रतिः किमु रमा खलु नैव मर्त्यलोकललनैव निमेषात्॥[३]

अर्थात् (राजा जयन्त सोचने लगे कि) क्या इस पर्वत पर पर्वतपुत्री पर्वत की सुन्दरता को देखने के लिए आयी है? या रति है अथवा रमा है? नहीं, निमेष लगने के कारण यह मृत्युलोक की ललना है।

यहाँ पर भी शृङ्गार रस की योजना हुई है। किन्तु नायिका के प्रति नायक क पार्वती, रति तथा रमा के रूप में वर्णन शृङ्गार रस के साथ ही सन्देह को भी प्रकट कर रहा है। अतः स्पष्ट है, कि सन्देह अलंकार यहाँ पर स्वतः प्रस्फुटित हो

---

१. अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरुपेण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्॥ —ध्वन्यालोक, ३/१४।

२. जयन्तविजय, १३/६।

३. वही, १३/१२।

गया है। उसके लिए कवि को अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। क्योंकि नायिका को देखकर वे (स्थायी भाव रति के जागरूक होने पर) उसकी कल्पना पार्वती, रति तथा रमा के रूप में करते हैं। इस प्रकार यह अलङ्कार की रसानुकूलता का उदाहरण है।

अपि च—

रामणीयकमनङ्कुशमस्या जङ्घयोरनघयोरवलोक्य।
नूनमुद्गतपराभवदुःखा सस्रुरेणललना वनवासम्॥[1]

अर्थात् इसकी सुन्दर रोम रहित निरंकुश जंघाओं की रमणीयता को देखकर ऐण ललना ने पराभव के दुःख के कारण ही वनवास का आश्रय लिया।

यहाँ पर भी कवि के वर्णन में शृङ्गार रस हीं प्रधान है क्योंकि नायक (जयन्त) नायिका (कनकवती) की रोम रहित जङ्घाओं के लिए ऐण ललना को उपमान के रूप में प्रस्तुत करता है जिसका प्रधान कारण उसके हृदय में उद्दीप्त स्थायी भाव रति है। किन्तु नायिका की रोम रहित जङ्घाओं के समक्ष ऐण ललना का तिरस्कृत हो जाना व्यतिरेक अलङ्कार की भी अभिव्यक्ति करा रहा है। अतः कवि की दृष्टि में यहाँ पर भी शृङ्गार रस ही विवक्षित है किन्तु व्यतिरेक अलंकार स्वतः प्रस्फुटित हो गया है उसके लिए उसे अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ा है।

इसी प्रकार—

सविक्रमक्षोणिधवान्वयाम्बर प्रभाकरः प्रीणितबन्धुपङ्कजः।
असीमतेजः शमितारिकौशिकस्ततः प्रतस्थे चतुरङ्गसेनया॥[2]

अर्थात् विक्रम से पृथ्वीपाल के वंशाकाश में प्रभाकर के समान बान्धव कमलों को विकसित करते हुए असीम तेज से अरिकौशिक को शान्त करते हुए उन्होंने चतुरङ्गिणी सेना के साथ प्रस्थान किया।

यहाँ पर प्रकृत रस वीर है क्योंकि पिता विक्रम सिंह की आज्ञा से युद्ध के लिए जाते हुए युवराज जयन्त का वर्णन किया गया है किन्तु रूपक तथा उपमा अलंकार की छटा उसे और भी अधिक पुष्ट कर रही है। युवराज जयन्त की उत्पत्ति राजा विक्रम सिंह के वंशरूपी आकाश में प्रभाकर (सूर्य) के समान है जो बन्धुरूपी कमलों को विकसित करने के लिए हुई है। इसीलिए युवराज जयन्त अरि रूपी कौशिकों को शान्त करते हुए चतुरंगिणी सेना के साथ प्रस्थान करते हैं। अतः यहाँ पर अलंकार का प्रयोग रसोपकारक है।

---

१. जयन्तविजय, १३/१६। २. वही, ६/६८।

अपि च—

आसन्न संग्राम समुत्सहिष्णोर्वीरव्रजस्यानशिरे मनांसि ।
हर्षप्रकर्षैः समुदञ्चदुच्चरोमाञ्चचक्रैश्च चिरं वपूंसि ॥
रणोत्सवोत्साह समुद्भविष्णुरोमाञ्चचञ्चत्कवचान्तरस्य ।
एकस्य कस्यापि महाभटस्य भातिस्मकृच्छ्रेणतनौ तनुत्रम् ॥[1]

अर्थात् समीप में संग्राम के उत्साही वीर समूहों के मन में दर्प व्याप्त हो गया और हर्ष की प्रकृष्टता वाले रोमाञ्च चक्र शरीर में उदित हो गये । फलतः रणोत्सव उत्साह से उत्पन्न होने वाले रोमाञ्च से चमकते हुए कवचों के अन्दर एक किसी महाभट के शरीर में तनुत्राण कष्ट से सुशोभित हुआ ।

यहाँ पर भी युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय सैनिकों के इस वर्णन में वीर रस का सुन्दर निर्वाह हुआ है किन्तु अनुप्रास अलंकार की छटा भी दर्शनीय है । जो प्रकृत वीर रस को और भी अधिक उद्दीप्त कर रही है ।

इसी प्रकार—

योधे प्रसिद्धैर्युयुधेरिसौधैः सहाश्ववारैः सममश्ववारैः ।
रथिप्रवीरै रथिकैश्च सार्धं समानकक्षैर्जयबद्ध लक्षैः ॥[2]

अर्थात् युद्धस्थल में प्रसिद्ध शत्रुओं के साथ शत्रु, असवारों के साथ असवार और रथी के साथ रथी जय का लक्ष्य बाँधते हुए डट गये ।

यहाँ पर भी युद्ध वर्णन में प्रकृत रस वीर है । शत्रुओं के साथ शत्रु, घुड़सवारों के साथ घुड़सवारों तथा रथियों के साथ रथियों का युद्ध जयन्त की सेना की कुशलता का परिचायक है । इसके साथ ही सहोक्ति अलंकार द्वारा यहाँ पर वर्णन में विशेष चारुता आ गयी है जिसके लिए कवि को अलग से प्रयास नहीं करना पड़ा है । कवि की दृष्टि में रस ही विवक्षित है अलंकार नहीं ।

अपि च—

एतावुभावप्यनिवार्य वीर्यौकृतश्रमौ द्वावपि चास्त्रशस्त्रौ ।
युद्धे सदृक्षावथवीक्ष्य वीर जेतानयोः कः समशेरतेत्थम् ॥[3]

अर्थात् ये दोनों अत्यन्त बलशाली, परिश्रमी और दोनों ही अस्त्र-शस्त्र चलाने में समान हैं । इनकी इस वीरता को देखकर कि 'इन दोनों में से कौन विजयी होगा' इस तरह से विधाता को सन्देह हुआ ।

यहाँ पर भी वीर रस की अभिव्यक्ति हुई है क्योंकि दोनों ही अत्यन्त बल-

---

१. जयन्तविजय, १०/२७-२६ । २. वही, १०/४० ।
३. वही, १०/५८ ।

शाली, परिश्रमी तथा अस्त्र-शस्त्र चलाने में निपुण हैं। किन्तु वीर रस के साथ ही सन्देह अलंकार की योजना उसे और भी अधिक प्रकृष्ट बना रही है। अतः यहाँ पर सन्देह अलंकार वीर रस के परिपोष में सहायक सिद्ध हुआ है।

इसी प्रकार—

रराज तत्र क्षत कुम्भिकुम्भस्थलीगलन्मौक्तिक चक्रवालम्।
कुमार शौर्याद्भुतरञ्जिताया रणक्षमाया इव हास्यलास्यम्॥[1]

अर्थात् उस युद्धस्थल में कटे हुए हाथियों के कुम्भस्थली से गिरे हुए मोती के दाने कुमार शौर्य की अद्भुत क्रिया से रण पृथ्वी (रणस्थली) के हास्य की लास्य की तरह सुशोभित हुए।

यहाँ पर कुमार जयन्त के युद्धस्थल में शौर्य का वर्णन किया गया है। अतः वीर रस की अभिव्यक्ति हुई है किन्तु वीर रस के साथ ही उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना उसे और भी अधिक पुष्ट कर रही है। अतः यहाँ पर अलंकार प्रधान न होकर रस का अंग बन गया है जो कि तदनुकूल है।

इसी प्रकार रस का एक अन्य उदाहरण भी दृष्टव्य है—

गजेन्द्रात्क्षेपितैर्वीरैः स्वैरमाधोरणा बभुः।
प्रीतये प्रेतनाथस्य प्रस्तुतोपायना इव॥
परस्परास्त्रसंघट्टाद्रेक्षुरग्निस्फुलिंगकाः।
वीरैर्विलोकनायेव कृता दीपा जयश्रियः॥[2]

अर्थात् हाथियों से स्वतन्त्रतापूर्वक फेंके गये वीरों से महावत मानों यमराज को प्रसन्न करने के लिए भेंट चढ़ा रहे हैं तथा आपस में शस्त्रों के संघर्षण से उत्पन्न होने वाली स्फुलिंग को विजय लक्ष्मी ने मानो वीरों को देखने के लिए दीपक की भाँति जलाया है।

यहाँ पर उत्प्रेक्षा तथा उपमा अलंकार का संकर वीर रस की अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हो रहा है क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में कवि ने युद्ध की भीषणता का वर्णन किया है। युद्धस्थल में युद्ध करते हुए वीर हाथियों से गिरकर वीर-गति को प्राप्त हो रहे हैं किन्तु कवि अभयदेव कल्पना करते हैं कि मानो महावत यमराज को प्रसन्न करने के लिए उन वीरों की बलि दे रहे हैं। इसी प्रकार युद्धस्थल में परस्पर शस्त्रों के टकराने से चिनगारी उत्पन्न हो जाती है किन्तु कवि की कल्पना में विजय लक्ष्मी ने मानो वीरों को देखने के लिए उन चिनगारियों को दीपक की भाँति

---

१. जयन्तविजय, १०/६४।　　२. वही, ११/६९-७०।

जलाया है। अतः यहाँ पर भी प्रयुक्त अलंकार रस के अंगभूत हैं और रस के परिपोष में सहायक हैं।

इसी प्रकार रूपक अलंकार द्वारा रस के परिपोष का उदाहरण प्रस्तुत है—

तेन कीर्तिलतिका तथाधिकं भूरिदानसलिलैरसिच्यते।
तारकाकुसुमशालिनी यथा विश्वमण्डपतलेऽपि नो ममौ ॥[1]

अर्थात् उन (राजा विक्रम सिंह) के द्वारा भूरिदान से कीर्तिरूपी लता को इतना अधिक सींचा गया कि जिससे वह विश्वरूपी मण्डप के नीचे तारारूपी कुसुम के समान पृथ्वी में न समा सकी।

यहाँ पर राजा विक्रम सिंह की दानवीरता का वर्णन किया गया है। अतः यह वीर रस का उदाहरण है जिसकी अभिव्यक्ति रूपक तथा अतिशयोक्ति अलंकार के माध्यम से की गयी है। यहाँ पर कीर्ति पर लता का आरोप होने से ताराओं पर पुष्प का आरोप किया गया है अतः रूपक अलंकार है जो वीर रस के परिपोष में सहायक है। इसके साथ ही राजा विक्रम सिंह की कीर्ति का भूमण्डल में न समाकर आकाश मण्डल तक फैल जाना अतिशयोक्ति अलंकार की भी अभिव्यक्ति करा रहा है। अतः यहाँ पर भी प्रयुक्त रूपक तथा अतिशयोक्ति अलंकार वीर रस के परिपोष में सहायक हैं।

अपि च—

रराजगुञ्जारुणनेत्रकान्तिकरम्बिता तस्य कृपाणलेखा।
समस्त वैरक्षिति पालशौर्य सूर्यास्तसंध्येव परिस्फुरन्ती ॥[2]

अर्थात् उस (महेन्द्र) के तलवार की लेखा समस्त वैरी क्षत्रियों के शौर्य-सूर्य के अस्तकालीन सन्ध्या से समान तथा चमकती हुई गुञ्जा के समान लाल आँखों की कान्ति से व्याप्त होकर सुशोभित हुई।

यहाँ पर पवनगति द्वारा शर्त न स्वीकार करने पर भूपति महेन्द्र के क्रोध का वर्णन होने से रौद्र रस की अभिव्यक्ति हो रही है, जो कि कवि को अभीष्ट है। किन्तु महेन्द्र की तलवार का वर्णन उपमा अलंकार के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि महेन्द्र के तलवार की लेखा समस्त शत्रुओं के शौर्यरूपी सूर्य के अस्तकालीन सन्ध्या की भाँति एवं चमकती हुई गुञ्जा के सदृश है। उपमा अलङ्कार के साथ ही शत्रुओं के शौर्य पर सूर्य का आरोप होने से रूपक अलङ्कार का पुट भी यहाँ दृष्टिगोचर होता है। किन्तु उपमा तथा रूपक अलङ्कार का यह प्रयोग रौद्र रस के परिपोष में ही सहायक सिद्ध हुआ है।

---

१. जयन्तविजय, ७/१६। २. वही, १४/५।

इसी प्रकार एक और उदाहरण प्रस्तुत है—

लोचनैरिव विकस्वर पुष्पैः पल्लवैः करतलैरिव शोणैः ।
उत्कुचैरिव फलैर्वनलक्ष्म्यास्तत्र विस्मयमतीव सा भजे ॥[1]

अर्थात् उस वन में वन लक्ष्मी के नेत्र के समान खिले हुए पुष्पों से करतल के समान रक्तिम पल्लवों से और उन्नत कुचों के समान फलों से (युवराज जयन्त को) विस्मय उत्पन्न हुआ ।

यहाँ पर वन की शोभा को देखकर युवराज जयन्त को विस्मय होता है । अतः 'विस्मय' स्थायी भाव परिपुष्ट होकर अद्भुत रस की अभिव्यक्ति करा रहा है । किन्तु उपमा अलङ्कार का प्रयोग रस के परिपोष में और भी अधिक सहायक है, क्योंकि वहाँ पर खिले हुए पुष्प वन लक्ष्मी के नेत्र के सदृश, रक्तिम पल्लव हथेली के सदृश तथा फल उन्नत कुचों के सदृश प्रतीत हुए । अतः यहाँ पर भी प्रयुक्त उपमा अलङ्कार रस की अभिव्यक्ति में सहायक होकर अंग रूप में वर्णित है ।

अपि च—

ससंभ्रमाथ प्रतिपत्तिपूर्वमुर्वीपतेरासनमाश्रितस्य ।
ततोऽनुजन्मानमिव स्मरस्य सादर्शयन्नन्दनमिन्दुकान्तम् ॥[2]

अर्थात् सम्भ्रम से उस रानी ने आसन पर बैठे हुए राजा को कामदेव के अनुज के समान इन्दुकान्त नन्दन को दिखाया ।

यहाँ पर राजा का पुत्र के प्रति वात्सल्य ही मुख्यतया विवक्षित है । किन्तु पुत्र को कामदेव के अनुज के समान बताना, उसके सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साथ ही उपमा अलङ्कार की अभिव्यक्ति करा रहा है परन्तु यह उपमा अलङ्कार स्वतः प्रस्फुटित हो गया है । उसके लिए कवि को अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ा है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जयन्तविजय महाकाव्य में अलङ्कारों का प्रयोग रसानुकूल हुआ है । अलङ्कारों की रसानुकूलता के अनेक उदाहरण रस विवेचन के अवसर पर भी प्रस्तुत किये गये हैं ।

(ख) वर्णनानुरूप अलङ्कारों का प्रयोग

'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि अभयदेव ने वर्णन के अनुरूप अलङ्कारों का प्रयोग किया है, क्योंकि योग्य कवि अलङ्कारों का प्रयोग इस प्रकार करता है कि वे केवल उक्ति चमत्कार मात्र न रहकर वर्णनीय विषय में प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करें । तथा—

---

१. जयन्तविजय, १३/५ ।
२. वही, ६/६६ ।

सरोवरैर्यत्र भुवो विभान्ति सरोवराणि स्मितपद्मखण्डैः ।
तैः पद्मखण्डानि च राजहंसैः स्वै राजहंसाः सुगतिप्रचारैः ॥[1]

अर्थात् जहाँ की भूमि सरोवरों से, सरोवर विकसित पद्मखण्डों से, पद्मखण्ड राजहंसों से और वे राजहंस अपनी सुगति के प्रचार से सुशोभित होते हैं ।

यहाँ पर एकावली अलंकार की योजना हुई है क्योंकि मगध देश में अनेक सरोवर हैं और उन सरोवरों में कमल खिले हुए हैं, कमलों पर हंसराज बैठे हुए हैं तथा वे राजहंस अपनी सुन्दर चाल से सुशोभित हो रहे हैं । इस प्रकार एकावली अलंकार के माध्यम से यहाँ पर वर्ण्य विषय में विशेष चारुत्व आ गया है ।

इसी प्रकार कवि जयन्ती नगरी के शाल-परकोटा का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

पौरा महेशाः प्रचुराः कुमारा गौर्यः स्त्रियोऽप्यत्र विनायकाश्च ।
इतीव कैलाशनगोऽनुरागादावृत्य यां शालमिषेण तस्थौ ॥[2]

अर्थात् जहाँ पर कैलाश पर्वत अनुरागवश आकर परकोटे के रूप में स्थित है । अतः यहाँ के पुरवासी शिव हैं, नारियाँ पार्वती हैं और बच्चे कुमार कार्तिकेय हैं ।

यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार है क्योंकि परकोटा के रूप में कैलाश पर्वत की सम्भावना की गयी है जो सर्वथा सार्थक है क्योंकि वहाँ के पुरवासी शिव हैं अर्थात् शिव के समान पराक्रमी एवं दानी हैं । नारियाँ पार्वती हैं अर्थात् पार्वती के समान सुन्दर एवं पवित्र हैं तथा बच्चे कुमार कार्तिकेय हैं अर्थात् स्वामी कार्तिकेय सदृश वीर हैं । यहाँ पर परकोटे की कैलाश पर्वत के रूप में सम्भावना होने के कारण पुरवासियों की शिव, नारियों की पार्वती तथा बच्चों की कुमार कार्तिकेय के रूप में सम्भावना की गयी है ।

इसी प्रकार जयन्ती नगरी के चारों परिखा सुशोभित हैं । परिखा में अमृत तुल्य निर्मल जल भरा हुआ है । कवि अभयदेव उत्प्रेक्षा करते हैं कि यह परिखा नहीं है अपितु क्षीरसागर है, क्योंकि इस नगरी में लक्ष्मीपुत्र निवास करते हैं । वे लक्ष्मीपुत्र इस क्षीरसागर के दौहित्र हैं । अतः स्नेहवश उन दौहित्रों का अवलोकन करने के लिए ही क्षीरसागर उपस्थित हुआ है—

लक्ष्म्याः स्वपुत्र्याः सततं वसन्त्याः क्षीरार्णवो यत्र दिदृक्षयेव ।
स्नेहातिरेकात्समुपेत्य तस्थौ सुधानिभाम्भः परिखामिषेण ॥[3]

१. जयन्तविजय, १/३० ।
२. वही, १/४३ ।
३. वही, १/४७ ।

यहाँ पर भी उत्प्रेक्षा अलङ्कार वर्णन को ग्राह्य बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है ।

अपि च—

उद्यानवापीषु जलाशयत्वं द्विजाश्रयेषु प्रियविप्रयोगः ।
विलोक्यते राजकरोपमर्दः पद्माकरेष्वेव न यत्र लोके ।।[1]

अर्थात् जहाँ पर उद्यानवापी में जडाशयता, पक्षियों के घोंसलों में प्रिय का वियोग, पद्माकरों में ही सूर्य की किरणों का उपमर्दन दिखलायी पड़ता था, लोक में नहीं था । भाव यह है, कि जिस नगरी की उद्यानवापियों में ही जडाशयता थी, वहाँ के मनुष्यों की बुद्धि में जड़ता नहीं थी । पक्षियों के घोंसलों में ही प्रिय का वियोग होता था, संसार के प्राणियों में वियोग के कारण किसी को कोई कष्ट न था तथा सूर्य की किरणों का उपमर्दन कमलों में ही था, प्रजा को किसी प्रकार का राजकर चुकाना नहीं पड़ता था ।

यहाँ पर कवि ने परिसंख्या अलङ्कार के द्वारा वर्ण्य वस्तु को साकार कर दिया है और उससे यह ज्ञात होता है कि विक्रमसिंह के राज्य में प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं था । अतः अलङ्कार का प्रयोग यहाँ पर वर्णन के अनुरूप हुआ है ।

इसी प्रकार कवि राजा विक्रमसिंह का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

यः कामिनीनां प्रतिभाति कामः पितेव च प्रीतिपदं प्रजानाम् ।
कालः करालो रिपुभूपतीनां कल्पद्रुमश्च प्रणयिव्रजानाम् ।।[2]

अर्थात् जो राजा कामिनियों के लिए काम, प्रजाओं के लिए पिता, वैरी राजाओं के लिए कराल काल तथा प्रेमपूर्वक समीप में आने वालों के लिए कल्पद्रुम के समान सुशोभित हुआ ।

यहाँ पर राजा विक्रमसिंह का वर्णन निमित्त भेद से अनेक प्रकार का करके कवि ने उल्लेख अलङ्कार का नियोजन किया है । राजा विक्रमसिंह कामिनियों के लिए कामदेव के सदृश हैं । अपनी प्रजा के लिए पिता के समान हैं अर्थात् जिस प्रकार पिता पुत्र का पालन-पोषण करता है ठीक उसी प्रकार राजा विक्रमसिंह प्रजा का पालन-पोषण करते हैं । किन्तु वैरी राजाओं के लिए वे साक्षात् यमराज के सदृश हैं तथा प्रेमपूर्वक समीप में आने वाले के लिए कल्पद्रुम के समान हैं । अर्थात् जिस प्रकार कल्पवृक्ष पास में आने वाले की मनोकामना पूर्ण कर देता है । ठीक उसी

---

१. जयन्तविजय, १/५० ।   २. वही, १/६० ।

प्रकार राजा विक्रमसिंह भी पास में आने वाले व्यक्तियों की कामना पूर्ण कर देते हैं। इस प्रकार यहाँ पर कवि द्वारा प्रयुक्त उल्लेख अलङ्कार वर्णन को और भी प्रभावशाली बना रहा है।

इसी प्रकार युद्धस्थल में राजा विक्रमसिंह के हाथ में स्थित कृपाल के वर्णन में उपमा अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग भी दर्शनीय है—

> यस्याहवे वैरिकरीन्द्र कुम्भस्थलीगलत्तार करम्बिताङ्गः।
> रेजे कृपाणोऽरिकुलं जिगीषोर्यमस्य जिह्वेवसदन्तपंक्तिः ॥[१]

अर्थात् जिसके युद्ध में अरिकुल को जीतने के लिए वैरियों के गजों के मस्तक पर गिरने से रक्तरञ्जित हाथ वाला कृपाण यम की दन्तपंक्ति से युक्त जिह्वा की भाँति सुशोभित हुआ।

यहाँ पर कृपाण की यम की दन्तपंक्ति से युक्त जिह्वा के साथ उपमा सर्वथा सार्थक है तथा वर्णन के सौन्दर्य में वृद्धि कर रही है। युद्धस्थल में राजा विक्रमसिंह की तलवार जब वैरी राजाओं के हाथियों के मस्तक पर पड़ती है तो हाथियों के मस्तक में विद्यमान गजमुक्ता उस तलवार में छिद जाता है और तलवार का वर्ण लाल हो जाता है। अतः कवि ने उस तलवार को यमराज की जिह्वा और उसमें छिदे हुए गजमुक्ताओं को यमराज की दन्तपंक्ति के सदृश बताया है। इसके साथ ही इस वर्णन के द्वारा राजा विक्रम सिंह का अतुलित पराक्रम भी व्यक्त होता है।

इसी प्रकार प्रीतिमती के वर्णन में मालोपमा अलंकार का प्रयोग भी दर्शनीय है—

> शचीव शक्रस्य महेश्वरस्य गौरीव लक्ष्मीरिव माधवस्य।
> श्रीनन्दनस्येव रतिश्च रत्यै तस्य प्रिया प्रीतिमती बभूव ॥[२]

अर्थात् शक्र को शची की भाँति, महेश्वर को गौरी की भाँति, माधव को लक्ष्मी की भाँति उन (विक्रमसिंह) की प्रिया रति के लिए प्रीतिमती हुई।

यहाँ पर प्रीतिमती की शची, गौरी तथा लक्ष्मी के साथ उपमा सर्वथा सार्थक है क्योंकि राजा विक्रमसिंह की उपमा शक्र, महेश्वर तथा माधव से दी गयी है। राजा विक्रमसिंह को प्रीतिमती रति के लिए उसी प्रकार प्रिय हैं जिस प्रकार शक्र को शची प्रिय हैं, महेश्वर को गौरी प्रिय हैं तथा माधव को लक्ष्मी प्रिय हैं। इस प्रकार मालोपमा अलंकार यहाँ वर्णन को ग्राह्य बना रहा है।

---

१. जयन्तविजय, १/ ·१।   २. वही, १/६६।

अपि च—

संजीविनी चौषधिरंगजस्य विश्रामधामेव हृदः स्वभर्तुः ।
या राज्यऋद्धेरधिदेवतेव लावण्यवल्लेर्नवकन्दलीव ।।[1]

अर्थात् जो कामदेव की संजीवनी औषधि, अपने पति के हृदय की विश्राम-धाम, राजलक्ष्मी की अधिदेवता तथा सुन्दरता की लता का नया अंकुर है ।

यहाँ पर प्रीतिमती का वर्णन निमित्त भेद से अनेक रूपों में हुआ है, क्योंकि वह कामदेव की संजीवनी औषधि है, अपने पति के हृदय की विश्राम-स्थली है, राज्यलक्ष्मी की अधिदेवता है और सुन्दरता का नया अंकुर है , अतः उल्लेख अलंकार है और इस उल्लेख अलंकार द्वारा वर्ण्य वस्तु में विशेष चमत्कार आ गया है ।

इसी प्रकार गर्भावस्था में स्थित प्रीतिमती के वर्णन में उपमा अलंकार का प्रयोग दर्शनीय है—

गर्भानुभावप्रभवद्विशिष्ट सौभाग्यसंभारतरङ्गिताङ्गी ।
उदेष्यदुष्णद्युतिमण्डलायाः प्राच्यास्तुलां सा बिभरांबभूव ।।[2]

अर्थात् गर्भ के प्रभाव को धारण करने के विशिष्ट सौभाग्य से तरंगित अंग वाली उस रानी ने निकलते हुए सूर्य की द्युति मण्डल से प्राची दिशा के समान अपने गर्भ को पुष्ट किया ।

यहाँ पर प्रीतिमती की प्राची दिशा के साथ उपमा सर्वथा सार्थक है तथा वर्णन के सौन्दर्य में वृद्धि कर रही है । प्राची दिशा जिस प्रकार गर्भ में स्थित उदीयमान सूर्य से सुशोभित होती है उसी प्रकार प्रीतिमती गर्भ में स्थित जयन्त से सुशोभित हो रही है । इस प्रकार उपमा अलंकार यहाँ वर्णन को ग्राह्य बनाने में सहायक है ।

अपि च—

नह्यावयोरुद्धतिमेषजातः सहिष्यते हन्त विनीतवृत्तिः ।
इतिस्फुरत्खेद भरादिवोच्चैस्तस्याः स्तनौ श्याममुखावभूताम् ।।[3]

अर्थात् खेद है, कि विनीत वृत्ति वाला यह बालक हम लोगों की उद्दण्डता को नहीं सह सकेगा इसीलिए मानो अत्यधिक दुःख के भार से उसके स्तन काले मुख वाले हुए ।

---

१. जयन्तविजय, १/६६ ।
२. वही, ६/६५ ।
३. वही, ६/६७ ।

यहाँ पर कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना की है, क्योंकि जिस प्रकार से किसी व्यक्ति के कार्य को करने में असमर्थ व्यक्ति के मुख की कान्ति मलिन हो जाती है उसी प्रकार यह होने वाला पुत्र (जयन्त हम लोगों की उद्दण्डता को सहन नहीं कर सकेगा। इसकी सूचना मानो प्रीतिमती के स्तनों की कालिमा से मिल रही है। अतः यहाँ पर प्रयुक्त यह उत्प्रेक्षा अलंकार वर्णन में विशिष्ट चारूत्व उत्पन्न कर रहा है।

इसी प्रकार—

तव स्फूर्जच्छौर्यप्रभवयशसा चन्द्रमहसा
भृशं शुभ्रीभूतं खकचनिचयं वीक्षितवती।
पलिक्नीत्वभ्रान्त्या कुलितहृदयात्रौषधविधेः
शची पृच्छाक्लेशे निपतति मुहुः स्वर्गिभिषजोः ॥[1]

अर्थात् तुम्हारे बढ़े हुए शौर्य के प्रभाव के यश वाले चन्द्र से अत्यन्त शुभ्र होते हुए अपने कच निचय को देखती हुई, बाल के पकने की भ्रान्ति से व्याकुल हृदय वाली शची स्वर्गीय वैद्य अश्वनीकुमारों से बार-बार पूछने के क्लेश में पड़ गयी।

यहाँ पर जयन्त के शौर्य की छिटकी हुई चन्द्रिका से शची के बालों के श्वेत होने के वर्णन में अतिशयोक्ति अलंकार है। इसी अलंकार के प्रयोग से जयन्त के शौर्य की पराकाष्ठा प्रदर्शित की गयी है जो कि उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध हुई है। अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार का वर्णन वर्ण्य विषय के चित्रण में सहायक है।

इसी प्रकार जयन्त के सौन्दर्य वर्णन के अवसर पर भी अलंकार प्रस्तुत की व्यञ्जना में सहायक हुए हैं—

चन्द्रमाः शशमलीनसच्छविस्ताप कृत्तरणिरुग्रतेजसा।
तन्न किंचिदसृजद्विधिश्चिरादस्य येन मुखमेति तुल्यताम् ॥[2]

अर्थात् चन्द्रमा कलंक की मलिनता से सुन्दर छवि वाला नहीं है और सूर्य उग्र तेज से तापकारी है। इस प्रकार विधाता ने कुछ भी बहुत दिनों से ऐसा नहीं बनाया जिससे इनके मुख की तुलना की जा सके।

यहाँ पर जयन्त के मुख की तुलना चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों में से किसी से नहीं की जा सकती। अतः अतिशयोक्ति अलंकार है। किन्तु जयन्त के चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों से भी अधिक सुन्दर होने के कारण व्यतिरेक अलंकार की भी अभिव्यक्ति

---

१. जयन्तविजय, ६/७२। २. वही, १६/८४।

हुई है, क्योंकि चन्द्रमा में कलंक है तथा जयन्त का मुख निःकलंक है। सूर्य उग्र तेज से तापकारी है तथा जयन्त का मुख ताप से रहित है। किन्तु यदि चन्द्रविम्ब निष्कलंक हो जाय और सूर्य ताप से रहित हो जाय तो शायद जयन्त के मुख की समता पा सके। अतः यहाँ पर अतिशयोक्ति और व्यतिरेक अलंकार का प्रयोग वर्णन के अनुरूप हुआ है।

अपि च—

आत्मैव यस्योपमितिः समृद्ध्या जगत्यसाधारणतां गतस्य।
तस्य स्वसौधस्य समीपमाप श्रीविक्रमक्षोणिपतेस्तनूजः ॥[1]

अर्थात् श्री विक्रम भूपति के पुत्र जिनकी उपमा संसार में असाधारण होती हुई समृद्धि से अपने ही तुल्य है, अपने भवन के समीप पहुँचे।

यहाँ पर उपमान के अभाव में जयन्त की उपमा जयन्त से ही दी गयी है अतः अनन्वय अलंकार है। इस अलंकार के प्रयोग के द्वारा जयन्त की प्रत्येक क्षेत्र में अपराजेयता व्यक्त होती है, जो कि कवि को अभीष्ट है। अतः अलंकार का प्रयोग वर्णन के अनुरूप है।

इसी प्रकार कवि अभयदेव उपमा अलंकार द्वारा युद्धस्थल का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं -

भटस्य कस्यापि बभौ शितासिभिन्नेभकुम्भोच्छलिता पतन्ती।
मुक्तावली मूर्द्धनि पुष्पवृष्टिर्मुक्तेव देवैरवदानतोषात् ॥[2]

अर्थात् किसी वीर के शिर पर, तीक्ष्ण तलवार से काटे गये गज-मस्तक से उछलकर गिरी हुई मुक्तावली दान से सन्तुष्ट देवताओं के द्वारा छोड़ी गयी पुष्प वृष्टि के समान सुशोभित हुई।

यहाँ पर किसी वीर के मस्तक पर गिरी हुई गजमुक्तावली देवताओं द्वारा छोड़ी गयी पुष्प वृष्टि के समान सुशोभित हो रही है। अतः उपमा अलंकार है और इस अलंकार के द्वारा घमासान युद्ध की सूचना भी प्राप्त हो रही है। जिस प्रकार दान से संतुष्ट होकर देवगण आकाश से पुष्प-वृष्टि करते हैं उसी प्रकार तलवार से काटे गये हाथियों के मस्तक से गजमुक्ता उछलकर वीरों के मस्तक पर गिर रही है। अतः यहाँ पर उपमा अलंकार युद्धस्थल का सजीव चित्र उपस्थित करने में सहायक सिद्ध हुआ है।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में अलंकारों का प्रयोग वर्णन में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए किया है।

१. जयन्तविजय, १६/३०। २. वही, १०/४२।

(ग) कलापक्ष प्रधान अलङ्कार

'जयन्तविजय' महाकाव्य में कतिपय स्थल ऐसे भी प्राप्त होते हैं जहाँ पर अलंकारों का प्रयोजन भावपक्ष की अपेक्षा वाच्यार्थ के सौन्दर्य में वृद्धि करना रहा है। अतः ऐसे अलंकारों को हम कलापक्ष प्रधान अलंकारों की कोटि में रख सकते हैं। यथा—

यस्मिन्ननुग्रामपुरं वधूनां विशुद्धशीलाभरणाग्रिमाणाम् ।
सर्वाङ्गलावण्यमलंकरोति सुवर्णरत्नोत्तमभूषणानि ।।[१]

अर्थात् जिस (मगध के) प्रत्येक ग्राम और नगर में विशुद्ध शील और आभूषणों में आगे स्त्रियों का सर्वाङ्ग लावण्य सब प्रकार से सोने और रत्नों के आभूषणों को अलंकृत करता है।

यहाँ पर मगध देश के ग्रामों एवं नगरों में निवास करने वाली स्त्रियों के सौंदर्य के वर्णन का प्रसंग वाच्यार्थ है। किन्तु यह वाच्यार्थ व्यतिरेक अलंकार के प्रयोग से अत्यन्त चमत्कारी हो गया है। अतः यहाँ पर अलंकार प्रधान हो गया है और स्त्रियों के सौंदर्य का हेतु सोने और रत्नों के आभूषण उसकी तुलना में अप्रधान हो गये हैं। इसी प्रकार—

जिनेन्द्रहर्म्योपरिशातकुम्भकुम्भावलीषु प्रतिबिम्बितात्मा ।
अनेकमूर्तिः प्रतिभाति भानुर्यस्याः श्रियं द्रष्टुमिवावतीर्णः ।।[२]

अर्थात् जिनेन्द्र के हर्म्य के ऊपर सात सोने के बने हुए कलशों में प्रतिविम्बत सूर्य की अनेक मूर्तियाँ मानो जिसकी सुन्दरता को देखने के लिए अवतीर्ण हुई सी प्रतीत होती हैं।

यहाँ पर जिनेन्द्र के हर्म्य के ऊपर स्थित स्वर्णिम कुम्भों के सौन्दर्य वर्णन का प्रसंग है। दिन में सूर्य का प्रतिबिम्ब अनेक रूपों में उन्हीं बने हुए सोने के कलशों पर पड़ता है, यह वाच्यार्थ है। जो कि उत्प्रेक्षा अलंकार के प्रयोग से अधिक चमत्कारी हो गया है।

अपि च—

सुरेशवेषाभरणाङ्गरागवरेण लावण्यतरङ्गिताङ्गः ।
निमेषमात्रेण परं सुरेभ्यो विभिद्यते यत्र जनः समस्तः ।।[३]

अर्थात् देवताओं के वेष को धारण किये हुए अङ्गराग आदि लगाने से अत्यन्त

---

१. जयन्तविजय, १/३५।
२. वही, १/५१।
३. वही, १/५४।

सुन्दर शरीर वाले जहाँ के लोग देवताओं से पलक बन्द करने के व्याज से ही भिन्न माने जाते हैं ।

यहाँ पर मगध के निवासियों का वर्णन वाच्य है किन्तु यह वाच्यार्थ विशेषक अलङ्कार के प्रयोग से चमत्कृत हो गया है क्योंकि प्रस्तुत और अप्रस्तुत में गुण-सामान्य होने पर भी किसी प्रकार भेद लक्षित करा देना विशेषक अलङ्कार होता है । यहाँ बताया गया है कि मगध के निवासी तथा देवता एक ही आकार के हैं। इनमें अन्तर यों जाना जाता है कि वहाँ के निवासी सनिमेष हैं और देवता अनिमेष हैं ।

इसी प्रकार—

वराश्वह्लेषां गजराजगर्जितं सतूर्यनादं शुभशंखनिस्वनम् ।
अदक्षिणाक्षिस्फुरणं प्रियोदितं तदाश्रृणोच्छाकुनिकाग्रणीरसौ ॥[1]

अर्थात् उसी समय शकुन को जानने में प्रधान राजा ने अच्छे घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की गर्जन, शुभ शंख के साथ अन्य बाजों की आवाज तथा वाम नेत्र का स्फुरण सुना ।

यहाँ पर शुभ शकुनों का वर्णन वाच्य है । किन्तु इस वाच्य में चमत्कार अर्थावृत्ति (आवृत्तिदीपक) अलङ्कार के माध्यम से हुआ है, क्योंकि एक ही अर्थ में ह्लेषा, गर्जित, नाद एवं निस्वन शब्दों का प्रयोग कर अर्थावृत्ति की योजना की गयी है ।

अपि च—

तिमिर रिपुजयाय प्रस्थितस्याथ राज्ञो
रुचिरकिरणवीरैः प्रोल्लसद्भिः समन्तात् ।
जगदखिलमकारि क्षिप्रमेवाविपक्षं
किमिव वसुमतां न क्ष्मातले साध्यमस्ति ॥[2]

अर्थात् तिमिर शत्रु को जीतने के लिए प्रस्थान किये हुए राजा के चारों ओर सुशोभित सुन्दर किरण रूपी भटों से सारा संसार शीघ्र ही बिना शत्रु के कर दिया गया, क्योंकि पृथ्वी पर धनवानों के लिए क्या साध्य नहीं है ।

यहाँ पर चन्द्रोदय का वर्णन करना कवि का लक्ष्य है किन्तु चन्द्र पर नृपति का आरोप करना अधिक चमत्कारी है । अतः यहाँ रूपक अलङ्कार के प्रयोग से कलापक्ष प्रधान है ।

---

१. जयन्तविजय, २/४१ । २. वही, ८/५८ ।

इसी प्रकार—

रमाकुचस्पर्शसुखेन शायिनं मुकुन्दमप्यम्बुनिधौ विविप्रयन् ।
निदेशतो विक्रमसिंह भूपतेः प्रयाणभेरीध्वनितं ततोऽभवत् ॥[1]

अर्थात् इसके पश्चात् विक्रमसिंह के आदेश से रमा के कुच के स्पर्श से सुखपूर्वक शयन करने वाले समुद्र में मुकुन्द को भी विकृत करते हुए प्रयाण की भेरी ध्वनित हुई ।

यहाँ पर विक्रमसिंह के आदेश से ध्वनित प्रयाणकालीन भेरी वाच्यार्थ है और इस वाच्यार्थ में अतिशयोक्ति अलङ्कार के प्रयोग से विशिष्ट चमत्कार आ गया है क्योंकि प्रयाणकालीन भेरी की आवाज समुद्र में सुखपूर्वक शयन करने वाले भगवान् विष्णु को भी कष्ट पहुँचा रही है ।

इसी प्रकार—

विस्फुरत्तरलमीननेत्रया चक्रयुग्मकुचकुम्भशोभया ।
राजहंसगतयाब्जहस्तया सख्यमस्तु तव देवि सिप्रया ॥[2]

अर्थात् चञ्चल मीन रूपी नेत्रों वाली, चकोर युग्मरूपी कुचों वाली, राजहंस रूपी गति वाली तथा कमलरूपी हाथों वाली शिप्रा नदी के साथ हे देवि तुम्हारी मित्रता हो ।

यहाँ पर शिप्रा नदी का वर्णन करना कवि का ध्येय है किन्तु इस व्यंग्य की तुलना में शिप्रा नदी को नारी के रूप में चित्रित करना वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी है । अतः यहाँ पर रूपक अलङ्कार के प्रयोग में कलापक्ष प्रधान है क्योंकि शिप्रा नदी को नारी का रूपक देकर बहुत ही सुन्दर दृश्य उपस्थित किया गया है । नदी में रहने वाली मछलियाँ उसके नेत्र हैं, चक्रवाक युग्म स्तन हैं, राजहंस उसकी गति हैं और कमल उसके हाथ हैं ।

(घ) स्वतः प्रस्फुटित अलङ्कार

काव्य में सौन्दर्य प्रदर्शित करने के लिए सभी कवि अलङ्कारों की योजना करते हैं । परन्तु अलङ्कार सौन्दर्य वृद्धि में तभी सहायक होते हैं जब उनकी योजना सहजता के साथ की गयी हो अर्थात् उनका निष्पादन काव्य में स्वतः हो गया हो, उसके लिए कवि को अपनी ओर से विशेष प्रयत्न न करना पड़ा हो, क्योंकि प्रयत्नपूर्वक निष्पन्न होने पर उनका स्वाभाविक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और वे उक्ति

१. जयन्तविजय, ६/५६ । २. वही, १६/६१ ।

वैचित्र्य मात्र रह जाते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतिभावान कवि के काव्य में अलङ्कार सहज ही निष्पन्न हो जाते हैं।[१]

'जयन्तविजय' महाकाव्य कवि अभयदेव की प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है। अतः इस महाकाव्य में अनेक स्थलों पर अलङ्कारों की योजना स्वतः हो गयी है उसके लिए कवि को अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। यथा—

संरक्षणाय रिपुतोऽहमभूवमस्याः
संग्राम केलिभिरियं स्मरतापतो मे।
स्वैर्दर्शनामृतरसैस्तु समोपकार-
कन्येति तामथ मुहुर्नृपतिर्ददर्श ।।[२]

अर्थात् मैं संग्राम केलि के द्वारा शत्रुओं से इसे बचाने के लिए समर्थ हुआ और इसने अपने दर्शनामृत द्वारा स्मर ताप से मेरी रक्षा की। इस प्रकार कहते हुए राजा ने उस कन्या (कनकवती) को बारम्बार देखा।

यहाँ पर स्वाभाविक चित्रण है, कि यदि कोई व्यक्ति किसी का उपकार करता है तो वह उपकृत व्यक्ति भी अवसर मिलने पर उस उपकार का बदला चुका देता है। ठीक उसी प्रकार विक्रमसिंह यहाँ कनकवती की रक्षा नारी का बलिदान करने वाले योगी से करता है और कनकवती राजा की रक्षा स्मर ताप से करती है। किन्तु यहाँ दोनों के परस्पर एक दूसरे के उपकारी होने से अन्योन्य अलङ्कार की योजना हुई है और इस योजना के लिए कवि को अलग से प्रयास नहीं करना पड़ा है।

इसी प्रकार—

किं वागुरेयमपरा युवहृन्मृगाणां
निः स्पन्दतां दधति येन विलोकितापि।
एकं स्मरस्य च जगत्त्रयजैत्रमस्त्रं
स्त्रैणोचितादद्भुत गुणोल्बणभूषण श्रीः ।।[३]

अर्थात् राजा विक्रमसिंह उस (कनकवती) कन्या को देखकर सोचता है कि— क्या युवकों के हृदयरूपी मृग की यह दूसरी जाल है जिसे देखते ही युवक निश्चलता को प्राप्त हो जाता है अथवा सारे संसार को जीतने वाले कामदेव का यह अद्वितीय अस्त्र है अथवा स्त्रियों के उचित अद्भुत गुण के वृद्धि की आभूषण लक्ष्मी है।

यहाँ पर राजा विक्रमसिंह कन्या को देखकर अपने मन में उसके प्रति अनेक प्रकार का सन्देह व्यक्त करता है और यह सन्देह होना स्वाभाविक भी है क्योंकि

१. ध्वन्यालोक, पृ० २३३।
२. जयन्तविजय, ५/१।
३. वही, ५/३।

उसने उस कन्या को एकाएक श्मशान भूमि में देखा है। अतः यहाँ पर स्वतः प्रस्फुटित सन्देह अलङ्कार वर्णन को ग्राह्य बना रहा है।

अपि च—

यत्र यत्र सुकुमार पुंगवः संचचार सुभगाग्रणीः पथि।
तत्र तत्र तमनङ्गविभ्रमात्पूजयन्ति नयनोत्पलैः स्त्रियः ॥[१]

अर्थात् शुभगों में अग्रगण्य (वह) सुकुमार पुंगव जहाँ-जहाँ जाता था। वहाँ-वहाँ पर काम के भ्रम से स्त्रियाँ नयन कमलों से उसकी पूजा करती थीं।

यहाँ पर जयन्त के रूप सौन्दर्य को देखकर स्त्रियों को उनमें कामदेव का भ्रम हो जाता है और इसीलिए वे अपने नेत्र रूपी कमलों से उनकी पूजा करती हैं अर्थात् उन्हें बारम्बार देखती हैं। अतः यहाँ पर भ्रान्तिमान अलङ्कार सहज ही निष्पन्न हो गया है।

इसी प्रकार—

गभीरभेरीरणितैरमर्त्यमर्त्येषु दूरं बधिरीकृतेषु।
तदात्मनः सर्पकुलं श्रुतीनामभावमुच्चैर्बहु मन्यते स्म ॥[२]

अर्थात् गम्भीर भेरी की आवाज से देवताओं और मानवों के बधिर हो जाने पर सर्पकुलों ने अपने कानों के अभाव को ही बहुत श्रेष्ठ समझा।

यहाँ सैन्य-प्रयाण की भेरी बजने से दूर-दूर तक के प्राणी बधिर हो गये हैं। अतः सर्प अपनी कर्णहीनता पर बड़े आनन्दित हो रहे हैं। यह स्वाभाविक चित्रण है, कि विकारयुक्त व्यक्ति दूसरे को भी विकारयुक्त देखकर अपने विकार को श्रेष्ठ समझता है। किन्तु इस उदाहरण में दोष में ही गुण देखकर उस दोष के ही सराहने के कारण अनुज्ञा अलंकार की स्वतः अभिव्यक्ति हुई है।

इसी प्रकार—

नृपात्मजालोकन कौतुकाय समुत्सुका काचन कैरवाक्षी।
नितम्बबिम्बं स्तनमण्डलं च निनिन्द मन्दां गतिमादधानम् ॥[३]

अर्थात् राजकुमारी को देखने के लिए कुतूहल से उत्कण्ठित होती हुई किसी कमलनयनी ने अपने नितम्ब बिम्ब और स्तन मण्डल को मन्दगति धारण करने के लिए अत्यन्त निन्दित किया।

यहाँ पर कोई स्त्री राजकुमारी के सौन्दर्य को देखने के लिए दौड़ी, पर अपने स्थूल स्तन और स्थूल नितम्बों के भार के कारण वह तेजी से दौड़ न सकी। अतएव

१. जयन्तविजय, ७/२१।
२. वही, १४/३५।
३. वही, १६/२४।

उस स्त्री द्वारा अपने स्तन और नितम्ब की निन्दा की गयी, यह सहज चित्रण है। किन्तु स्तन और नितम्ब की निन्दा होने से यहाँ तिरस्कार अलङ्कार स्वतः प्रस्फुटित हो गया है। इसी प्रकार स्वतः प्रस्फुटित अलंकारों के अनेक उदाहरण रसानुकूल अलंकारों के वर्णन के अवसर पर प्रस्तुत किये जा चुके हैं।

(च) रूढ़िगत उपमानों का प्रयोग

उपमा प्राचीनतम एवं अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों का उपजीव्य अलंकार है। इसमें कुछ प्रसिद्ध उपमान रहते हैं जैसे चन्द्र, कमल इत्यादि। इन प्रसिद्ध उपमानों में कुछ उपमान ऐसे हैं जो कि कुछ विशिष्ट उपमेयों के साथ इतनी अधिकता से प्रयुक्त किये जाते हैं कि उनका उन विशिष्ट उपमेयों के साथ प्रयोग रूढ़ हो गया है। यथा—मुख के लिए चन्द्र का प्रयोग। इसी प्रकार कमल का प्रयोग जहाँ मुख के लिए होता है वहीं वह हस्त, पाद, नेत्र के सौन्दर्य-वर्णन के प्रयोग में भी रूढ़ हो चुका है। प्रायः सभी कवियों के काव्यों में इस प्रकार के रूढ़िगत उपमानों का प्रयोग प्राप्त होता है।

कवि अभयदेव उपमा अलंकार के उद्‌भट विद्वान् हैं। अतः उन्होंने अपने काव्य में इन उपमानों का प्रयोग अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है। यहाँ उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ उपमानों को मूलस्रोतों की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) **अग्नि**—तेज चमत्कार, प्रभाव एवं सर्वस्व विध्वंस करने की शक्ति का निरूपण करने के लिए अग्नि, दीप या प्रकाश उपमान को प्रस्तुत किया गया है। इस श्रेणी के उपमान जयन्तविजय में निम्नलिखित हैं—

१. दाव इव २/२०—दावाग्नि के समान राजा को कष्टदायक।
२. वह्नेर्घृताहुतिक्षेप इव ६/२—सुन्दर रूप, दिव्य वस्त्राभूषण और धन प्राप्ति के साथ असाधु संगति को कवि ने अग्नि में घृताहुति देने के समान अहंकार की वृद्धि करने वाला उपादान कहा है।
३. वह्निरिव क्रुधा ८/४५—क्रोध की भयंकरता प्रदर्शित करने के लिए अग्नि उपमान का प्रयोग किया है।

(२) **आभूषण और शृंगार प्रसाधन सामग्री**—'जयन्तविजय' महाकाव्य में उपमानों का चयन आभूषण और शृङ्गार प्रसाधन सम्बन्धी सामग्री से भी किया गया है। इस क्षेत्र से ग्रहीत उपमान सौन्दर्य की अभिव्यंजना को चमत्कारपूर्ण बनाने में पूर्ण समर्थ हैं।

४. अम्भोरुहमालिकेव १४/४—कमल की माला के समान।
५. गुञ्जारुणनेत्रकान्ति १४/५—घुँघची के समान नेत्रों की कान्ति।

६. मौलिरत्नमिव ७/२—मुकुट-जटित रत्न के समान उन्नत और प्रकाशमान प्राणेश्वर को प्राप्त किया ।

७. विमलमौक्तिकहारलताइव ४/२६—निर्मल मौक्तिक हार लता के समान कण्ठ में पड़ने वाली वह थी ।

८. हारमिवनायकोमणिः ७/२६—हार में लगी मध्यवर्ती मणि के समान वह श्रेष्ठ है ।

(३) **अंगोपांग**—सुन्दरता, सुकुमारता एवं उग्रता की व्यञ्जना करने और विषय को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए शरीरावयवों को उपमान के रूप में ग्रहण किया गया है ।

९. उत्कुचैरिव १३/५—वन की रम्यता का चित्र प्रस्तुत करने के लिए कवि ने फल-पुष्प आदि की उपमा नारी के अंगों के उपमानों द्वारा प्रस्तुत की है । फलों के वृहदाकार की अभिव्यक्ति के लिए उन्हें उन्नत कुचों के समान कहा गया है ।

१०. कण्ठेश्वासइव ३/४५—पंचपरमेष्ठी मन्त्र के अहर्निश जाप को कण्ठ में सर्वदा रहने वाले श्वास के समान कहा है ।

११. करतलैरिव १३/४—पल्लवों को हथेली के समान लाल कहा है ।

१२. लोचनैरिव १३/४—नेत्रों के समान विकसित पुष्प ।

१३. विलूनवेणीव १४/१६—छिन्न वेणी के समान विमानपंक्ति लक्षित होती है ।

१४. हस्तैरिवोच्चैस्तरवः १/३१—हाथ के समान उन्नत वृक्ष पथिकों की स्त्रियों को स्वबन्धु बुद्धि से बुलाते थे ।

(४) **कीट-पतंग-पशु-पक्षी आदि**—भ्रमर, शलभ आदि कीट-पतंग एवं पशु-पक्षी मानव के प्राचीन काल से सहचर रहे हैं । अतः कवि ने उन्हें भी उपमान के रूप में प्रयुक्त किया है—

१५. अलिकुन्तैरिवकुन्तलैः १३/३५—उसके केश भ्रमरों के समान काले थे ।

१६. उलूकपक्षीव १/१३—उलूक पक्षी के समान दोषदर्शी दुर्जन होते हैं ।

१७. कामधेनुरिव १३/५२—कामधेनु के समान अभिलाषाओं की पूर्ति करने वाला दान ।

१८. केसरीव १२/३९—मिथ्यात्वरूपी हाथी के लिए सिंह के समान ।

१९. पशुरिव ४/२३—पशु के समान मदान्ध होकर दुराचार किया ।

२०. भ्रमरीव १/१—आदिदेव के चरणों में संलग्न त्रिलोकीजन भ्रमर की तरह प्रतीत होते हैं ।

२१. भृङ्गइवम्बुजे ३/७८—जिस प्रकार भ्रमर कमल में आसक्त रहता है उसी प्रकार वह नमस्कार मन्त्र में आसक्त था।

२२. मधुकरैरिवलोचनैः ७/६३—भ्रमरों के समान नेत्रों से अनुरागपूर्वक देखा।

२३. महाविभूतिरिव कामधेनुः १/२१—महाविभूति के लिए कामधेनु के समान।

२४. पथविच्युतमृगीव १३/८—समूह से पृथक् हुई हरिणी के समान।

२५. सिंहीद्विपस्येव १०/१७—सिंह जिस प्रकार हाथियों के वन में प्रवेश करता है उसी प्रकार जयन्त ने शत्रु शिविर में प्रवेश किया।

(५) गृहोपकरण—गृहादि—गृहोपकरण से ग्रहीत उपमान वर्णन चमत्कार के साथ चंचलता, दृढ़ता, पृथुलता एवं सौन्दर्य की अभिव्यंजना करते हैं।

२६. कम्भमिव १३/१—भक्तिरस के कुम्भ के समान पुष्पांजलि को मुनि के चरणों में अर्पित किया।

२७. केतुमिवोल्लसन्तम् ५/१६—ध्वजा के समान उल्लसित रहने वाला गंगाधर हुआ।

२८. विश्रामधामेव १/६६—विश्रामगृह के समान पति के लिए सुखदायक थी।

(६) ग्रह-नक्षत्र—प्राकृतिक वस्तुओं में मानवीय व्यापारों को अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। सूर्य, चन्द्रादि ग्रह, नक्षत्र आदि उपमान सौन्दर्य, शील, शीतलता, माधुर्य, तेज, ओज, ज्ञानगुरुता प्रभृति भावों के अभिव्यंजक हैं।

२९. अर्कइव ६/४५—सूर्य के समान तेजस्वी।

३०. इन्दुरिव ३/६८—चन्द्रमा के समान आह्लादजनक वह दिखलायी पड़ा।

३१. कुमुद्वनीनां पतिरिव १२/३९—चन्द्रमा के समान सुन्दर एवं प्रसन्नता प्रदान करने वाला।

३२. गुरुरिव २/५१—गुरु वृहस्पति के समान राजा विक्रमसिंह का मन्त्री था।

३३. चन्द्रैरिव १/४९—चन्द्रमा के समान शीतलता प्रदान करने वाले स्तन थे।

३४. चन्द्रिकयेव २/२६—जिस प्रकार चन्द्रमा की चाँदनी के द्वारा कुमुदिनी को आश्वासन•••।

३५. चन्द्र इव १०/६८—नक्षत्रों के बीच शोभित होने वाले चन्द्रमा के समान सेना के मध्य सिंहलभूप सुशोभित हुआ।

३६. जीव इव १/७१—वृहस्पति के समान विद्वान् और विचारशील सुबुद्धि नामक मन्त्री था।

३७. तरणेरिव चन्द्रमाः ४/६३—जिस प्रकार दिन में सूर्य की किरणों से चन्द्रमा

अस्त हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारी शक्ति से वह दुर्दशा को प्राप्त हुआ है ।

३८. नव्यशशीव ५/७२—जिस प्रकार मेघों के बीच द्वितीया का चन्द्र सुशोभित होता है, उसी प्रकार वह अपने कुल में सुशोभित हुआ ।

३९. नीरधिरिवेन्दुना ७/१३—चन्द्रमा से जिस प्रकार समुद्र में हर्ष-ज्वारभाटा उत्पन्न होता है, उसी प्रकार राजपुत्र से कुल में प्रसन्नता हुई ।

४०. प्रदोषमिव चन्द्रमाः ३/९ जिस प्रकार चन्द्रमा प्रदोषकाल को प्राप्त होता है, उसी प्रकार धनदेव कारागृह को प्राप्त हुआ ।

४१. भृगुमिव ४/६—शुक्र के समान जिस प्रकार राशि का अतिक्रमण करता है उसी प्रकार उसने परकोटे का उल्लंघन किया ।

४२ रवेरिव प्रभा २/३५—देवता आपके अमंगल को उसी प्रकार दूर करें, जिस प्रकार सूर्य की कान्ति अन्धकार को दूर करती है ।

४३. रोहिणीव १६/८६—जिस प्रकार रोहिणी चन्द्रमा को प्यार करती है, उसी प्रकार रविसुन्दरी ने जयन्त को प्यार किया ।

४४. सिंहिकासुत इव १६/८०—राहु के समान सिंहलनृपति का मुख भीषण था । राहु जिस प्रकार चन्द्र का ग्रास ग्रहण करने के लिए अपना मुँह फैलाये रहता है, उसी प्रकार सिंहलभूपति शत्रुओं का संहार करने के लिए भयंकर मुख किये था ।

४५. सूर्यप्रभा चुम्बितचन्द्रिकेव १/४२—जयन्ती नगरी के भवनों के समक्ष स्वर्ग-विमानों की शोभा सूर्यकान्ति से चुम्बित चन्द्रिका के समान प्रतीत होती थी ।

(७) दिव्य पुरुष और दिव्य पदार्थ—स्वर्गीय देवी-देवता एवं दिव्य पदार्थ अमृत आदि उपमान कोमल भावनाओं की अभिव्यञ्जना में अत्यन्त सहायक हैं । कवि अभयदेव ने इस श्रेणी के उपमानों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है ।

४६. इन्द्र इव २/४३—इन्द्र जिस प्रकार देवों द्वारा सेवित रहता है, उसी प्रकार राजा विक्रमसिंह सामन्तों द्वारा सेवित था ।

४७. कल्पशाखीव ८/१७—कल्पवृक्ष के समान वनभूमि सुशोभित है ।

४८. कल्पतरोरिव ८/१७—कल्पवृक्ष के समान अभीष्ट फल देने वाली सेवा ।

४९. कल्पान्तवातैरिव शस्त्रैः १०/६२—प्रलयकालीन वायु के समान भयंकर शस्त्र ।

५०. पुण्यतरोः फलैरिव ९/२—पुण्यवृक्ष के फलों के समान विभूतियों से युक्त ।

५१. बीजवर्जितां विद्यामिव २/३०—बीज रहित अमृत विद्या के समान राजा ने उसकी अर्चना को कहा।

५२. भावोचितानामिव कर्मणां श्रीः १/२२—उचित भावों की कर्म श्री के समान वह धर्म है।

५३. भाग्यसंपदिव १६/७ –कामदेव की भाग्य सम्पत्ति के समान रतिसुन्दरी थी।

५४. मूर्तं पुण्यमिव ३/२२— मूर्तिमान पुण्य के समान मुनि का दर्शन किया।

५५. यमस्य जिह्वेव १/६१—यम की जिह्वा के समान हाथियों की दन्तपंक्ति थी।

५६. रम्भेव १/४८—लक्ष्मी के समान सुन्दर मूर्ति।

५७. वैद्युतपुञ्जमिव ४/२६—विद्युतपुंज के समान मणि-सुवर्ण के आभूषणों से युक्त किया।

५८. व्योमवीथीव ८/१६—वृक्ष पर पुष्यावचय के लिए आसीन नारी के मरकत-मणि के आभूषणों में पुष्पों के प्रतिबिम्ब रात्रि में आकाशगङ्गा में पड़ने वाले ताराओं के प्रतिबिम्ब के समान थे।

५९. व्योमलक्ष्मीरिव ८/२ – आकाश लक्ष्मी के समान कोई नायिका, जिसके कानों के दोनों कुण्डल चन्द्र और सूर्य के समान थे।

६०. शचीव १/६१—इन्द्राणी के समान प्रीतिमती सुशोभित थी।

६१. श्रीनन्दनस्येव रतिश्च १/६६ कामदेव के लिए रति के समान प्रीतिमती।

६२. श्रीपताविव ५/११—जिस प्रकार लक्ष्मी विष्णु में अनुरक्त है उसी प्रकार पृथ्वी तुममें अनुरक्त है।

६३. संजीवनी औषधिरङ्गजस्य १/६९—कामदेव की संजीवनी औषधि के समान।

६४. लावण्यपूरैरमृतैरिवोच्चैः १/४९—अमृत के समान लावण्य से युक्त।

६५. वज्राभिहतेव २/३२—वज्राहत के समान वचनों से घायल।

६६. विद्याधरा इव ५/४९—विद्याधरों के समान शक्तिशाली है।

६७. सुधामिव २/१—अमृत के समान पुत्र का स्पर्श होता है।

६८. सुधारसामिव दुग्धसिन्धुः १/२२—अमृत के क्षीर समुद्र के समान।

६९. स्मरमिव ८/७—कामदेव के समान जयन्त को देखा।

७०. स्वर्भूरिव १/५९—स्वर्गभूमि के समान मगध देश की भूमि थी।

७१. स्वर्गपुरीव ६/३८—स्वर्गपुरी के समान नगरी।

(८) **पर्वत-पृथ्वी आदि**—'जयन्तविजय' महाकाव्य में पृथ्वी, पर्वत आदि उपमानों का प्रयोग भी मिलता है।

७२. धरेव ६/७४—पृथ्वी के ऊपर धान्य के अंकुर के समान संस्कार शोभित थे।
७३. शैलेरिव १/२८—उत्तुङ्ग पर्वत के समान धान्यढेर प्रतीत होते थे।
७४. शैलेरिव १०/३—पर्वत के समान सेना के गज प्रतीत होते थे।
७५. सुमेरोरिवतटी २/५—सुमेरु की तटी के समान थी।

(९) **पौराणिक व्यक्ति एवं पदार्थ**—पवित्रता, त्याग संयम और शील की अभिव्यंजना के लिए कवि पौराणिक व्यक्ति एवं पदार्थों को उपमान के रूप में प्रयोग करता है।

७६. कौशिकैरिव १६/५५—विश्वामित्र के समान तेजस्वी है।
७७. चन्द्रमौलिरिवशक्तिपाणिना ७/१३—जिस प्रकार कार्तिकेय पुत्र को प्राप्त कर शंकर सुशोभित हुए, उसी प्रकार जयन्त को प्राप्त कर विक्रमसिंह सुशोभित हुआ।
७८. धनावह इव ३/५—धनावह सेठ के समान नमस्कार मन्त्र की आराधना की।
७९. पक्ष्मजन्मनः सृष्टिसारमिव १६/७ ब्रह्मा की सृष्टि के सार के समान।
८०. महेश्वरस्य गौरीव १/६६ जिस प्रकार शिव को पार्वती प्रिय हैं, उसी प्रकार विक्रमसिंह को प्रीतिमती प्रिय थी।
८१. लंकेव ११/५३—लंका नगरी के समान सुन्दर नगरी थी।
८२. लक्ष्मीरिवमाधवस्य १/६६—विष्णु के लिए लक्ष्मी के समान विक्रमसिंह के लिए प्रीतिमती थी।

(१०) **वृक्षलता-पुष्पलता-पल्लव आदि**—वृक्षों की दानशीलता, लताओं की सुकुमारता, पुष्पों की सौरभ एवं पल्लवों की कोमलता कवियों को ही नहीं अपितु प्राणी मात्र को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। अतः कवि द्वारा इस क्षेत्र से उपमानों का चयन करना स्वाभाविक है।

८३. कल्पद्रुमाणामिवनन्दनोर्वी १/२१—कल्पवृक्ष युक्त नन्दनभूमि के समान जैनधर्म।
८४. कमल इवातिशय सौरभाभिरामैः १२/१३—कमल के सौरभ के समान प्रसरणशील है।
८५ कल्पतरोर्लतेव ३/९७ कल्पतरु की लता के समान राजलक्ष्मी।
८६. कीर्तिलताइव १/३—कीर्तिलता के समान स्तुति।
८७. कुवलयदलनेत्राम् ८/४५—कमलदल के समान नेत्रवाली को।
८८. केसरैरिव १३/३५—पराग के समान स्वच्छ दन्तपंक्ति।
८९. छिन्नलतेव २/३२—कटी हुई लता के समान गिर गयी।
९०. दलोपमानि १०/५१—किसलय के समान अंगोपांग-सुन्दर और कोमल।

९१. पुष्पोद्‌गम इव ३/१०—पुष्पोद्‌गम के समान ।

९२. प्रशाखा इव १०/५१—प्रशाखा के समान भुजदण्डों को ।

९३. लावण्यवल्लेर्नवकन्दलीव १/६९—लावण्यलता की नवकन्दली के समान ।

९४. वनस्पतीनामिव वारिदाम्भः १/२१—वनस्पति के लिए वर्षा के जल के समान ।

९५. वल्लीव भक्तिः ३/४४—लता के समान भक्ति ।

९६. विटपीव २/२२ वृक्ष के समान वंश ।

९७. विवेक कल्पद्रुममञ्जरीव ६/१८—विवेक रूपी कल्पवृक्ष की मञ्जरी के समान ।

९८. सरोजपत्रैः व्यनक्तीव १/५—जिनके चरणों की नखावली देवांगनाओं के नेत्रों के प्रतिबिम्ब पड़ने से कमलपत्र की कान्ति के समान प्रतीत होती थी ।

९९. सरोजैरिव १/४९—कमल के समान नेत्र सुशोभित थे ।

(११) मानसिक विकार-भावादि—

१००. कटाक्ष इव ११/७६ जयश्री के कटाक्ष के समान बाण थे ।

१०१. कीर्तिरिव १०/४९—कीर्ति के समान ध्वजा—अमूर्त उपमान द्वारा मूर्त की व्यंजना ।

१०२. कृतास्पदानीव १/५६—शेषनाग द्वारा स्यात् बनाये हुए के समान भित्तियों में अंकित ध्वजाओं के प्रतिबिम्ब थे ।

१०३. दिदृक्षयेव १/४७—परिखा के बहाने क्षीर सागर ही स्वपुत्री लक्ष्मी के पुत्रों श्रीमन्तों को देखने के समान ही उपस्थित हुआ है ।

१०४. दृष्टिमिव १/५१—देखने के समान ही—जिनचैत्यों पर जटिल स्वर्ण कलशों पर सूर्य के प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे । जिससे ऐसा प्रतीत होता था, मानो सूर्य अपना प्रतिबिम्ब देखने के लिए ही आया है ।

१०५. नयनमिव धर्मे ३/८९—नीति के समान धर्म को समझा ।

१०६. प्रतापैरिव १/६३—मूर्तिमान् प्रताप के समान ।

१०७. शक्तित्रयमिव ३/९८—शक्तित्रय के समान रत्नत्रय को ।

१०८. सन्तोषलीलेव १/२२—मानसिक सुख के लिए सन्तोषलीला के समान ।

१०९. सुखनिर्मिता इव २/३—सुख के द्वारा निर्मित हुए के समान ही उत्सव था ।

(१२) समय ऋतु आदि—

११०. उत्पातकाल इव ५/५२—उत्पात समय के समान दुःखदायक है ।

१११. शरदीव ६/८०—शरद ऋतु में होने वाली दिशाओं के समान स्वच्छ ।

११२. सूर्यास्तसंध्येय १४/५—सूर्यास्त सन्ध्या के समान कृपाणलेखा शोभित थी ।

(१३) तम्बन्धी पेशा आदि—

११३. कौतुकीव ८/४८—कौतकी के समान सूर्य ।
११४. जननीव ५/४५—माता के समान राजलक्ष्मी ।
११५. दूतीव १/२७—दूती के समान ।
११६ पितेव १/६०—पिता के समान प्रजा का पालन करने वाला राजा ।
११७. प्रियायिव १/७२—प्रिया के समान ।
११८. वन्दिवृन्दैरिव ८/२७—वन्दीजनों के गान के समान नाना पक्षियों के गीत थे ।
११९. भिषग्वरस्येव २/१५—वैद्य के समक्ष रोगी जिस प्रकार अपनी बातें कह देता है, उसी प्रकार रानी ने राजा के समक्ष सभी बातें कह दीं ।

(१४) सागर-जलचर आदि—

१२ . अम्भः कणैरिव ५/५—जलकणों के समान वचनों से ।
१२१. अम्भोद इव ३/११—बादलों के समान चञ्चल गति ।
१२२. कूलङ्कषेव ५/५४—किनारे को तोड़नेवाली नदी के समान वेग से शत्रुओं का संहार करने वाला ।
१२३. क्षीरार्णवस्येव पयः १/६ क्षीरसागर के जल के समान भक्तिजल ।
१२४. क्षीरसागरमिव ७/४९—क्षीरसागर के समान ऋतुराज वसन्त का सौंदर्य ।
१२५. गङ्गेव ६/५० — गङ्गा की पवित्रता और लावण्य के समान देवी के शरीर की त्रिवली ।
१२६. घनसमय इव १२/३९—बादलों की वर्षा के समान उपदेश ।
१२७. तृषार्त इव ३/२८—पिपासाकुलित व्यक्ति जिस प्रकार अमृत का पान करता है, उसी प्रकार धनदेव ने नमस्कार मन्त्र का आराधन किया ।
१२८. लावण्यनद्या इव यौवनाद्रिः १/२१—सौंदर्यरूपी नदो को यौवनरूपी पर्वत के समान ।
१२९. वर्षाम्बुवाहैरिव १२/३९—वर्षाकाल में होने वाली मेघों की जलवर्षा के समान शस्त्रों की वर्षा ।
१३०. वारीव शीतलम् १५/७०—जल के समान शीतल ।
१३१. वेलाम्बुधेरिव सुधारसकालकूटे ५/१६—पिता ने गंगाधर और पृथ्वीधर नामक पुत्र इस प्रकार उत्पन्न किये, जिस प्रकार समुद्र अमृत और विष को उत्पन्न करता है ।
१३२. सरसीव मीनकं २/९—सूखे तालाब की मछली के समान रानी बेचैन थी ।

(६) पूव कवियों के अलङ्कार प्रयोग का अनुकरण—

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार बुद्धिमानों के वचनों में मेल बहुलता से

प्राप्त होता है क्योंकि बुद्धिमानों की बुद्धियाँ संवादिनी अर्थात् परस्पर मेल खाने वाली होती हैं। परन्तु यदि एक कवि का भाव दूसरे कवि के भाव से साम्य रखने वाला दिखायी दे तो यह नहीं समझना चाहिए कि परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि के भाव का अपहरण ही किया है क्योंकि कवियों का यह परस्पर संवाद तीन प्रकार का होता है। प्रथम प्रतिबिम्बवत्, द्वितीय आलेख्यवत् तथा तृतीय तुल्यदेहिवत्।[१]

प्रतिबिम्बवत् अर्थात् कवि के भाव को ज्यों का त्यों उतार दिया जाय केवल शब्दों और वाक्यरचना में भेद हो।[२] आलेख्यवत् संवाद वहाँ होता है जहाँ काव्य-वस्तु तो प्राचीन ही ली जाय परन्तु उसका कुछ संस्कार कर दिया जाय जिससे वस्तु भिन्न जैसी प्रतीत होने लगी।[३] तुल्यदेहिवत् सादृश्य वहाँ होता है जहाँ पर विषय का भेद होते हुए भी अत्यन्त सादृश्य के कारण अभेद प्रतीत होने लगे।[४] इनमें से प्रथम दो अर्थात् प्रतिबिम्बवत् और आलेख्यवत् सादृश्य तुच्छ माने गये हैं परन्तु तुल्यदेहिवत् सादृश्य श्रेष्ठ होने के कारण कवियों द्वारा ग्रहणीय है।[५]

कवि अभयदेव ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों का अध्ययन किया था अतः उनके काव्य में अनेक स्थलों पर पूर्ववर्ती कवियों के अलङ्कारों का प्रभाव आ जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह मानव स्वभाव है कि उसे जो वस्तु अत्यन्त रुचिकर लगती है, उसे वह प्राप्त करना चाहता है। इसके साथ ही यह भी हो सकता है कि एक ही प्रकार का भाव दो विभिन्न कवियों को प्रेरित करे और ऐसी दशा में दोनों कवियों के काव्य में सादृश्य आ जाय। जैसा कि ध्वनिकार ने ऊपर उल्लेख किया है।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में कतिपय स्थलों पर अलङ्कारों का प्रयोग कालि-

---

१. संवादस्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।
नैकरूपतया सर्वेते मन्तव्या विपश्चिता॥
संवादोह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम्॥ —ध्वन्यालोक, ४/११-१२।

२. अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्॥
—काव्य मीमांसा, अध्याय १२, पृ० १६१।

३. कियताऽपि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तुभिन्नवद्भाति।
तत्कथितमर्थं चतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम्॥
—काव्य मीमांसा, पृ० १६२।

४. विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात्।
तत्तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नाति सुधियोऽपि॥ —वही, पृ० १६२।

५. तत्रपूर्वमन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्य साम्यं त्यजेत्कविः॥ —ध्वन्यालोक, ४/१३।

दास, भारवि अथवा माघ इत्यादि पूर्ववर्ती कवियों के काव्य का स्मरण करा देता है। उदाहरणार्थ—कवि शिशु जयन्त की वृद्धि का वर्णन करता है—

शुक्लपक्ष इव चन्द्रमाः क्रमाद्‌वृद्धिमाप सुदृशोः सुधाञ्जनम् ॥[१]

अर्थात् स्त्रियों के सुनेत्रों के लिए अमृताञ्जन के समान वह बालक शुक्ल पक्ष की चन्द्रमा के समान वृद्धि को प्राप्त हुआ।

उपर्युक्त वर्णन वस्तुतः 'रघुवंश' में किये गये रघु के निम्नलिखित वर्णन का अनुकरण प्रतीत होता है—

पितुः प्रयत्नात्स समग्रसम्पदः शुभैः शरीरावयवैर्दिनेदिने।
पुपोष वृद्धिर्हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥[२]

अर्थात् जैसे शुक्लपक्ष की प्रतिपदा का चन्द्रमा सूर्य की किरणें पाकर दिन-दिन बढ़ने लगता है वैसे ही बालक रघु के अङ्ग भी सम्पत्तिशाली पिता की देखरेख में बढ़ने लगे।

यहाँ पर कवि ने रघुवंश के चित्र को ज्यों का त्यों उतार लिया है। रचना में किञ्चित् परिवर्तन कर दिया है। दोनों ही स्थलों पर उपमा अलङ्कार का प्रयोग है और दोनों कवियों ने बालक के अङ्गों के लिए शुक्ल पक्ष के चन्द्र को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार—

तेन नीरधिरिवेन्दुना ततश्चन्द्रमौलिरिव शक्तिपाणिना।
स्वर्गिणामिव पतिर्जयेन स श्रीजयन्ततनुजन्मना बभौ ॥[३]

अर्थात् इसके पश्चात् जैसे चन्द्रमा से समुद्र सुशोभित होता है, कार्तिकेय से शङ्कर सुशोभित होते हैं, जयन्त से इन्द्र सुशोभित होते हैं उसी प्रकार श्री जयन्त नामक पुत्र से वे (राजा विक्रमसिंह) सुशोभित हुए।

यहाँ पर भी कवि अभयदेव ने उपमा अलङ्कार का प्रयोग किया है किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त यह उपमा अलङ्कार 'रघुवंश' के निम्नलिखित श्लोक का स्मरण करा रहा है—

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥[४]

अर्थात् जैसे कार्तिकेय के समान पुत्र को पाकर शंकर और पार्वती को अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी और जयन्त जैसे प्रतापी पुत्र को पाकर इन्द्र और शची प्रसन्न हुए

१. जयन्तविजय, ७/८।
२. रघुवंश, ३/२२।
३. जयन्तविजय, ७/१३।
४. रघुवंश, ३/२३।

थे वैसे ही राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा भी उन दोनों के ही समान तेजस्वी पुत्र को पाकर प्रसन्न हुए।

यहाँ पर दोनों ही कवियों ने एक ही समान वर्णन किया है।

अपि च—

तत्रचित्ररचनामनोहरं काञ्चनोपचितमञ्चमुच्चकैः।
आरुरोह स नरेन्द्रदर्शितं तुङ्गभूधरमिवासु केसरी ॥[1]

यहाँ पर रतिसुन्दरी के स्वयंवर वर्णन का प्रसङ्ग है। अर्थात् वहाँ पर विचित्र रचना से मनोहर, स्वर्ण से निर्मित कान्तिमान उच्च मञ्च पर, ऊँचे पर्वत पर सिंह की भाँति नरेन्द्र (रति सुन्दरी के पिता) द्वारा दिखाये जाने पर वह (जयन्त) बैठ गया।

यहाँ पर कवि अभयदेव ने जयन्त के लिए सिंह उपमान का प्रयोग 'रघुवंश' में अज के लिए इन्दुमती स्वयंवर में वर्णित सिंह उपमान के अनुकरण पर किया है। यथा—

वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम्।
शिलाविभंगैर्मृगराजाशावस्तुङ्गं नगोत्संगमिवारुरोह ॥[2]

अर्थात् जैसे सिंह का बच्चा एक-एक शिला पर पैर रखता हुआ पहाड़ पर चढ़ जाता है वैसे ही राजकुमार अज भी सुन्दर सीढ़ी पर चढ़कर भोज के बताये हुए मञ्च पर जाकर बैठ गये।

इसी प्रकार—

तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥[3]

अर्थात् जैसे वायु से उठी हुई लहर के सहारे मानसरोवर की राजहंसिनी एक कमल से दूसरे कमल तक पहुँच जाती है उसी प्रकार सुनन्दा भी राजकुमारी इन्दुमती को दूसरे राजा के आगे पहुँचाकर खड़ी हो गयी।

यहाँ पर कालिदास ने इन्दुमती के लिए 'राजहंसी' तथा सुनन्दा के लिए 'लहर' को उपमान के रूप में प्रस्तुत कर उपमा अलंकार का नियोजन किया है। 'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि अभयदेव ने भी इन्हीं उपमानों का प्रयोग रतिसुन्दरी के स्वयंवर के प्रसङ्ग में किया है—

संमुखं सपदि वेत्रधारिणा तामथान्यनृपतेर्निनाय सा।
हंसिकामिव तरङ्गपद्धतिः पङ्कजादपरपङ्कजं क्षणात् ॥[4]

---

१. जयन्तविजय, १६/२३।
२. रघुवंश, ६/३।
३. वही, ६/२६।
४. जयन्तविजय, १६/५८।

अर्थात् वेत्रधारी से उस स्त्री को शीघ्र अन्य राजा के सामने ले जाया गया जिस प्रकार तरङ्ग पद्धति से हँसी को एक पंकज से दूसरे पङ्कज पर ले जाया जाता है।

इस प्रकार कवि अभयदेव ने उपमा अलङ्कार के प्रयोग की शिक्षा कालिदास से ग्रहण की थी, क्योंकि कालिदास उपमा अलङ्कार के सम्राट् हैं और 'जयन्तविजय' महाकाव्य में उपमा अलङ्कार का प्रयोग बहुलता से प्राप्त होता है।

इसी प्रकार—

हस्तैरिवोच्चैस्तरवः पलाशैश्छायां दधानाः फलसंपदा च।
पथ्यङ्गिनां पथ्यदनाय यत्र स्वबन्धुबुद्ध्येव भवन्ति भूयः ॥[1]

अर्थात् जहाँ पर अनेक तरुवर बड़े-बड़े पल्लव रूपी हाथों से शरीरधारियों को खाने लिए फल की सम्पत्ति को दान करते हुए प्रत्येक मार्ग में अपने कुटुम्बी के रूप में स्थित हैं।

यहाँ पर कवि ने प्रकृति का मानवीकरण किया है किन्तु कवि का यह वर्णन श्रीहर्ष के प्रकृति के मानवीकरण का स्मरण करा रहा है—

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ॥[2]

अर्थात् पक्षियों के अत्यन्त उड़ने के कारण वायु से हिलते हुए पल्लव रूपी हाथ में फल-फूलों को लेकर स्थित, वन के वृक्षों ने मानो बूढ़े महर्षियों के समूह से उस (राजा नल) के अतिथि-सत्कार को करने के लिए सीखा है।

यहाँ पर अलंकार सादृश्य के साथ ही वर्णन सादृश्य भी है।

इसी प्रकार—

प्रयातुमस्याकमियं कियत्पदं धरातदम्भोधिरपि स्थलायताम्।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ॥[3]

अर्थात् 'हम लोगों के चलने के लिए यह पृथ्वी कितने पैर (कदम) होगी? अर्थात् अत्यन्त थोड़ी होगी, इससे यह समुद्र भी स्थल बन जाय' मानो ऐसा विचार कर अपने वेग के अभिमानी घोड़ों ने समुद्र को पूरा करने (सुखाने) में समर्थ धूलि को उड़ाया।

यहाँ पर कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग किया है। राजा नल की सेना में चलने वाले घोड़ों के पैरों से धूल उड़ रही है किन्तु कवि उत्प्रेक्षा करता है कि

१. जयन्तविजय, १/३१।
२. नैषध महाकाव्य, १/७७।
३. वही, १/६६।

मानों घोड़े अपने चलने के लिए समुद्र को स्थल बना रहे हैं। 'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि अभयदेव ने भी इसी वर्णन के आधार पर उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग किया है—

तुरङ्गमास्तस्य चतुः समुद्रीं रजः समाजैः स्थलतां नयन्ति।
खुरोद्धतैर्दातुमिवावकाशमपार नासीर परंपराणाम् ॥[1]

अर्थात् मानो उस (जयन्त) के घोड़े खुरों से उड़ाई गयी धूल से सेनाओं की परम्परा को अवकाश देने के लिए चारों समुद्रों को स्थल बना रहे हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में अलंकारों का प्रयोग पूर्ववर्ती कवियों के अलंकार प्रयोग के आधार पर किया है।

(ज) शब्दालङ्कारों का प्रयोग

'जयन्तविजय' महाकाव्य में शब्दालङ्कारों की भी योजना हुई है। अनुप्रास कवि अभयदेव का प्रिय अलङ्कार है। इस अलङ्कार के साथ ही यमक तथा श्लेष अलङ्कारों का प्रयोग भी एक-दो स्थलों पर प्राप्त होता है।

अनुप्रास अलङ्कार—अनुप्रास सर्वरचना सुलभ अलङ्कार है। आचार्य मम्मट के अनुसार—

वर्णसाम्यमनुप्रासः छेकवृत्तिगतोद्विधा।
सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः एकस्याप्यसकृत्परः ॥ (काव्यप्रकाश ९.७९)

अर्थात् वर्णों की पुनः-पुनः आवृत्ति में अनुप्रास अलङ्कार होता है। इसके दो भेद होते हैं—छेकानुप्रास तथा वृत्यानुप्रास। अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास तथा एक अथवा अनेक वर्णों की बार-बार आवृत्ति में वृत्यनुप्रास होता है।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में वृत्यनुप्रास का ही प्रयोग अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। यथा—

तस्यां बभूवाद्भुतविक्रमश्रीः क्षोणी पतिर्विक्रमसिंहसंज्ञः।
विश्वंभराभारभरं बभार यो विश्रुता शेष गुणोऽपिचित्रम् ॥[2]

यहाँ पर वकार तथा भकार की अनेक बार आवृत्ति हुई है। अतः यह वृत्यनुप्रास का उदाहरण है। इसी प्रकार—

उल्लासिलावण्यसुधातरङ्गै रङ्गै रनङ्गः सरसैर्यदीयैः।
चित्रीयते स्त्रैण गुणैस्त्रिलोकीलोकश्च लोकोत्तर कीर्तिकारैः ॥[3]

---

१. जयन्तविजय, १०/७।　　　　२. वही, १/५८।
३. वही, १/६८।

यहाँ पर लकार, सकार तथा कवर्ग एवं वर्ग के पञ्चम वर्ण से युक्त गकार की पुनः-पुनः आवृत्ति में वृत्यनुप्रास है जो कि रचना में माधुर्य का सञ्चार कर रहा है। इसी प्रकार—

वसुंधरोद्धारधुरंधरेण मां विधेह्युपायेन सुतेन भूषिताम्।
स्वदोहदेनेव लतां फलाञ्चितामिदं हि सारं किल सर्वसम्पदाम्॥[१]

यहाँ पर भी धकार एवं रकार की पुनः-पुनः आवृत्ति हुई है। अतः वृत्यनुप्रास का उदाहरण है।

अपि च—

तत्रैवासीद्धनश्रेष्ठी श्रीदश्रीपरमार्हतः।
श्रीमती श्रीमती कान्ता सुतस्तस्य धनावहः॥[२]

यहाँ पर शकार युक्त रकार की योजना दर्शनीय है। साथ ही मकार एवं तकार की योजना भी रचना में सौन्दर्य का आधान कर रही है।

इसी प्रकार—

श्रुतस्य श्रोत्रिणी श्रोत्रे नेत्रे जैनास्यनर्तिनी।
कृतार्थे सार्थसामर्थ्ये कृतैरिष्टैः स धर्मिणाम्॥[३]

यहाँ पर भी शकार युक्त रकार की योजना एवं रेफ का चमत्कार दृष्टव्य है।

अपि च—

बहुविहगनिनादैर्बन्दि वृन्दैरिवोक्ते
विकट विटपवीथीच्छायया शीतमार्गे।
पृथु सरसि स हंसीमण्डलेनेव हंसः
समचरदथतस्मिन्साार्द्धमन्तः पुरेण॥[४]

यहाँ पर श्रुति मधुर अनुप्रास के प्रयोग से भाषा अधिक प्रवाहयुक्त, गतिशील और चञ्चल हो गयी है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण भी दृष्टव्य है जहाँ अनुप्रास के मञ्जुल प्रवाह ने भाषा को स्वाभाविक एवं ललित बना दिया है—

दधति दश दिशोऽथ स्निग्धसंध्याभ्रशोणा
विविध विहगराजीकूजितो जागरूकाः।
मसृणघुसृणमासां भूयतेः सुन्दरीणां
प्रतिकृतिमिह सिञ्जनमञ्जुमञ्जीरकाणाम्॥[५]

---

१. जयन्तविजय, २/१६।
२. वही, ३/८।
३. वही, ३/६२।
४. वही, ८/२७।
५. वही, ८/४७।

यहाँ दकार, शकार, वकार, मकार एवं दन्त सकार के साथ ही वर्ग के तृतीय अक्षर के संयुक्त वर्ग के पञ्चम अक्षर की योजना पाठक को बलात अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

इसी प्रकार—

कुरङ्गैरुत्तुङ्गै रणदनणुघण्टैः करटिभि
सुवर्णैः सद्वर्णैवसननिकरैः सुन्दरतरैः।
त्वयि स्वैरं वर्षत्यधिप न शिरः केनदुधुवे
विमुच्यैकं क्षोणीभरपरवशं पन्नगपतिम् ॥[1]

यहाँ पर वर्ग के तृतीय अक्षर के साथ वर्ग के पञ्चम अक्षर की योजना के साथ ही रेफयुक्त वर्णों की योजना रचना को सशक्त बना रही है जिसके परिणामस्वरूप काव्य में प्रयुक्त पद-विन्यास थिरकते हुए से जान पड़ते हैं।

इसी प्रकार पुष्पावचय प्रसङ्ग में वनक्रीड़ा करती हुई ललना का एक सजीव चित्र भी दर्शनीय है—

चरणकमलमेकं पादमूले सहेलं
मृदुभुजयुगलं च स्कन्धदेशे निवेश्य।
सरससुरत केलिप्रोक्तमार्गेण काचि-
त्प्रियमिव तरुमुच्चैरारुरोहायताक्षी ॥[2]

यहाँ पर शृङ्गार रस का प्रसङ्ग है किन्तु कवि द्वारा प्रयुक्त श्रुति सुखद अनुप्रास की योजना रस की व्यञ्जना में सहायक सिद्ध हो रही है।

अपि च—

ततः कृतान्तभ्रकुटीकरालकोदण्डचण्डध्वनिपूरिताशम्।
समं समानैः परिपन्थिसार्थैः प्रारब्धमायोधनमग्रसैन्यैः ॥
प्राणांस्तृणीकृत्य विपक्षकुम्भिकुम्भस्थलीपानलम्पटोऽन्यः।
तदीय मुक्ताफलबीजवापमसूत्रयत् कीर्तिलतोद्गमाय ॥[3]

यहाँ पर कर्णकटु, संयुक्त और समासान्त पदावली के द्वारा युद्ध का सजीव चित्र खींचा गया है किन्तु अनुप्रास अलंकार की योजना यहाँ पर भी द्रष्टव्य है।

इस प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य की भाषा अलंकृत है। भाषा को

---

१. जयन्तविजय, ६/६९।
२. वही, ८/१६।
३. वही, १४/४६,५६।

प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कवि ने सूक्तियों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में किया है किन्तु सूक्तियों में भी अनुप्रास अलङ्कार की सुखद योजना दर्शनीय है। यथा—

काकः कदापि च न मुञ्चति कालिमानम्।[1]
सर्वं विधौ हि विमुखे विमुखं जनस्य।[2]
प्रमादनिद्रोदयमुद्रया हि क्रोडी क्रियन्ते सुधियां धियोऽपि।[3]
सुगन्धि लक्षैरपि किं सुगन्धी कर्तुं हि शक्यं लशुनं कदापि।[4]
श्रीखण्ड वासेन कृताधिवासाः श्रीखण्डतां यान्त्यपरेऽपि वृक्षाः ॥[5]

इसी प्रकार 'जयन्तविजय' में अन्य अनेक उदाहरण वर्तमान हैं जहाँ अनुप्रास अलङ्कार के द्वारा भाषा अधिक प्रभावशाली हो गयी है।

यमक अलङ्कार—आचार्य वामन ने यमक अलङ्कार की परिभाषा देते हुए कहा है—

अर्थे सत्यर्थ भिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः।
यमकम्....... . ...॥[6]

अर्थात् अर्थ होने पर नियमेन भिन्नार्थक वर्णों की क्रम से पुनः आवृत्ति यमक कहलाती है। अर्थ होने पर का तात्पर्य यह है कि कहीं-कहीं पर यमक के निरर्थक पदों का भी प्रयोग होता है। अर्थात् एक पद सार्थक और एक पद निरर्थक होता है परन्तु जहाँ पर दोनों पद सार्थक हों वहाँ उनके अर्थ में भेद आवश्यक है।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में यमक अलङ्कार का प्रयोग अत्यन्त अल्प मात्रा में हुआ है जिसका प्रमुख कारण यह है कि महाकाव्य में रस प्रधान तत्त्व होता है और शब्दालङ्कार रस प्रतीति में बाधक होते हैं। यहाँ 'जयन्तविजय' में प्रयुक्त यमक अलङ्कार के कतिपय उदाहरण दृष्टव्य हैं—

उत्कर्णमाकर्ण्य वितीर्णतोषं स विक्रमं विक्रमसिंहवृत्तम्।
चिरं चमत्कारमयीव सर्वा सभा समं भूपतिना बभूव ॥[7]

अर्थात् विक्रमसिंह के विक्रमयुक्त वृत्त को जिसमें अत्यन्त सन्तोष एवं उत्कृष्ट गुण विद्यमान हैं, सुनकर वह सारी सभा राजा के साथ आश्चर्यान्वित हुई।

यहाँ पर 'विक्रम', 'विक्रम' की आवृत्ति में प्रथम 'विक्रम' का अर्थ पराक्रम तथा द्वितीय 'विक्रम' का अर्थ नामवाचक संज्ञा अर्थात् राजा विक्रमसिंह होने से यमक अलङ्कार है। इसी प्रकार—

---

१. जयन्तविजय, ५/२३।
२. वही, ५/५६।
३. वही, १/६।
४. वही, १/१४।
५. वही, १/१७।
६. काव्यप्रकाश, ९/८३।
७. जयन्तविजय, ६/५४।

निवेश्य भूभृतो भूभृत्कटके कटकं ततः ।
अध्यास्ताध्यासितान्भोगी भोगिभिश्चन्दनद्रुमान् ।।[1]

अर्थात् इसके पश्चात् राजा ने पर्वत के कटक (मध्यभाग) पर अपनी कटक (सेना) को प्रवेश कराकर भोगियों (सर्पों) से घिरे हुए चन्दन द्रुमों का सेवन किया।

यहाँ पर भी 'कटक' शब्द की दो बार आवृत्ति हुई जिसमें प्रथम 'कटक' का अर्थ मध्यभाग एवं द्वितीय 'कटक' का अर्थ सेना होने से यमक अलङ्कार है।

इस प्रकार इसमें सन्देह नहीं कि इस अलङ्कार की योजना से विषय वर्णन में चारुता उत्पन्न हुई है।

श्लेष अलङ्कार—'जयन्त विजय' महाकाव्य में श्लेष अलङ्कार के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा—

सपदि दधति जातैकातपत्रं प्रभुत्वं
जगति तिमिरराजे लुप्तभूभृत्समाजे ।
तरणितरुण वीरैस्तैरवस्कन्दहेतो-
रिव बहुविशिखा ढ्यैर्भूरिदीपैरदीपि ।।[2]

अर्थात् भूभृत समाज के लुप्त हो जाने पर शीघ्र ही संसार में एकछत्र राज्य करने वाले अन्धकार को जीतने के लिए सूर्य के उन तरुण वीरों के समान बढ़ी हुई विशिष्ट शिखा वाले दीपकों ने अपना प्रभुत्व जमाया।

यहाँ पर 'भूभृत' श्लिष्ट पद है तथा इस श्लिष्ट पद का अर्थ 'पर्वत' एवं 'राजा' दोनों के ही पक्ष में घटित हो जाता है। अतः श्लेष अलङ्कार है।

इस प्रकार कवि अभयदेव की अलङ्कार योजना में उपमा, अनन्वय, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान, सन्देह, विरोध, सहोक्ति, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, यथासंख्य, अपह्नुति, अर्थापत्ति आदि अर्थालङ्कारों के साथ ही अनुप्रास, यमक तथा श्लेष आदि शब्दालङ्कारों की योजना भी विद्यमान है। कवि की यह योजना रसानुकूल होने के कारण प्रस्तुत के अभीष्ट चित्रण में सहायक हुई है। अतः कवि की कविता अपने सहज सौन्दर्य से सहृदयों को आह्लादित करने वाली है।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में छन्दोयोजना

कवि अन्तस्तल के कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिए सदैव से छन्दों का कमनीय कलेवर अपनाते रहे हैं। किन्तु छन्दों की कृतकार्यता भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ रस परिपोष में भी सहायक है। जिस प्रकार शृङ्गारादि रसों के व्यञ्जक

---

१. जयन्तविजय, ११/३८ ।
२. वही, ८/५३ ।

वर्णों के द्वारा श्रृङ्गारादि रस प्रस्फुटित होते हैं, उसी प्रकार छन्द-विशेष भी किसी रस विशेष अथवा वर्ण्य-विशेष के लिए ही उपयुक्त सिद्ध होते हैं । उदाहरणार्थ— विप्रलम्भ श्रृङ्गार की अभिव्यक्ति के लिए 'मन्दाक्रान्ता' छन्द सबसे अधिक उपयुक्त है । विरहजनित भावों के उतार-चढ़ाव का प्रकटन जैसा 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में सम्भव है वैसा अन्य किसी छन्द में नहीं । इसका प्रमुख कारण है कि विरहजनित भावों में कभी शिथिलता होती है कभी तीव्रता । छन्द के रसानुकूल प्रयोग होने के कारण ही महाकवि कालिदास का 'मेघदूत' सहृदयों का कण्ठाभरण बनकर अमर हो गया । 'मेघदूत' का वर्ण्य विषय दो प्रणयीजनों की विरह-वेदना का अभिव्यक्तीकरण है, जिसके लिए कवि ने 'मन्दाक्रान्ता' छन्द का चयन किया है । वहाँ पर 'ब्रह्मावर्तं जनपदमथश्च्छायया गाहमानः[१]' की मन्दमन्थर लय में 'कम्बोजतुरगाङ्गना' के पद-विन्यास का ललित लास्य दृष्टिगोचर होता है जिसकी प्रशंसा आचार्य क्षेमेन्द्र मुक्तकण्ठ से करते हैं ।[२] इसके विपरीत यदि विप्रलम्भ जैसे कोमल विषय की अभिव्यक्ति के लिए 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द का चयन किया जाय तो ऐसी स्थिति में स्वाभाविक सौन्दर्य प्रस्फुटित नहीं हो सकता, जो 'मन्दाक्रान्ता' में सहज प्राप्य है, क्योंकि अनुचित छन्द के प्रयोग से रसभङ्ग होने की सम्भावना अधिक है । 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द, जैसा कि उसके नाम से स्वतः स्पष्ट है, वीर रस की अभिव्यक्ति के लिए सहायक है । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि रस के अनुरूप छन्द के प्रयोग से काव्य का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता है । अतः यह स्वयं सिद्ध हो जाता है, कि केवल शब्द-योजना ही काव्य में रस-सिद्ध के लिए सहायक नहीं है, अपितु छन्दोयोजना की भी विशेष उपादेयता है । गुण, अलङ्कार, रीति आदि की भाँति वह भी रस के परिपोष में सहायक है । इसीलिए छन्द की इस महत्ता और शक्ति को समझकर सफल व निपुण कवि सदैव रस के अनुरूप ही छन्द का विन्यास करते हैं । अर्थात् उन्हें जिस भाव और रस का जिस छन्द की पद योजना, गति, लय आदि से साम्य दिखलायी पड़ता है, वे उस छन्द का उस रस के प्रसङ्ग में वर्णन प्रस्तुत करते हैं ।

संस्कृत साहित्य के काव्य शास्त्रियों ने छन्द और रस की उपर्युक्त वर्णित इसी मैत्री को स्वीकार किया है, क्योंकि रस सम्प्रदायवादियों का 'हतवृत्तता' नामक दोष विवेचन भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है । रस के स्वभाव के विपरीत वृत्त का प्रयोग ही 'हतवृत्तता' नामक दोष कहलाता है, जो उन्हें मान्य नहीं है । आचार्य क्षेमेन्द्र ने उनके मत का पूर्णतः समर्थन किया है । उनके अनुसार 'काव्य

१. कवि कालिदास, मेघदूत, ५२ (पूर्वमेघ) ।
२ सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति ।
सदश्वदमकस्येव कम्बोजतुरगाङ्गना ।। – क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, ३/३४ ।

में रस तथा वर्णनीय वस्तु के अनुसार यथासम्भव सभी छन्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए।'[१] कारण, कि जिस प्रकार छिद्रादि दोषों से रहित सूत्रगुम्फित एवं वर्तुल मुक्ताहार का निवेश उचित स्थान पर ही सुशोभित होता है उसी प्रकार दोषरहित, गुणयुक्त एवं सुन्दर छन्दों का प्रयोग भी विषयानुरूप ही सुशोभित होता है।[२] छन्द और रस की मैत्री की अवहेलना करने वाले कवियों को आचार्य क्षेमेन्द्र ने उपदेश भी दिया है। उनके मतानुसार 'यदि कोई (कवि) मोहवश वृत्तरूपी रत्नावली को अनुचित स्थान पर निवेशित करेगा, ऐसी स्थिति में मेखला को कण्ठ में धारण करने वाले व्यक्ति की भाँति कवि की अज्ञता ही प्रकट होगी। जिस प्रकार नवयुवती के योग्य वृद्ध पुरुष नहीं हो सकता, उसी प्रकार सरल भावों के लिए परुष छन्द तथा परुष भावों के लिए सरल छन्द भी नहीं हो सकता।[३] आचार्य के अनुसार अवस्थोचित एवं विषयानुकूल छन्द के प्रयोग से महाकाव्य का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता है। अर्थात् जिस प्रकार स्थिति के अनुरूप उचित आचरण से सज्जन धन्यवाद के पात्र बनकर सुशोभित होते हैं उसी प्रकार प्रबन्ध भी अवस्थोचित छन्दों के प्रयोग से प्रशंसित होकर सुशोभित होते हैं।[४]

कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य की छन्दोयोजना में उपर्युक्त नियमों का पालन किया गया है। कवि ने अपने महाकाव्य में विभिन्न रसों, भावों और वर्णनों के अनुरूप छन्द के कमनीय कलेवर को अपनाया है। महाकाव्य की छन्दोयोजना देखने से स्पष्ट हो जाता है, कि कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है तथा छन्द शास्त्र विषयक उच्चकोटि का ज्ञान है। इस महाकाव्य में कवि ने अनेक छन्दों का प्रयोग करके अपने कौशल का परिचय दिया है।

कवि अभयदेव द्वारा प्रयुक्त छन्द

कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य की रचना प्रमुख लौकिक छन्दों द्वारा प्रस्तुत की है। उनके 'जयन्तविजय' महाकाव्य में अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा

---

१. काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च ।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित ।। —क्षेमेन्द्र सुवृत्ततिलकम्, ३/७ ।

२. प्रबन्धः सुतरां भाति यथास्थानं विवेवकः ।
निर्दोषैर्गुण सयुक्तैः सुवृत्तैर्मौक्तिकैरिव ।। —वही, ३/ ।

३. वृत्तरत्नावली कामादस्थाने विनिवेशिता ।
कथयत्यज्ञतामेव मेखलेव गले कृता ।।
नहि नाय नवोन्मेषिकुचायाश्चारुचक्षुषः ।
विरत्यक्तस्मराचारे जराजीर्णकचेरुचिः ।। —वही, ३/१३-१४ ।

४. तथाप्यवस्थासदृशैः साधु शब्दपदस्थितः ।
संवृत्तैरेव शोभन्ते प्रबन्धाः सज्जना इव ।। —वही, ३/१२ ।

उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वंशस्थ, रथोद्धता, स्वागता, द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, मालिनी, शिखरिणी, हरिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, पुष्पिताग्रा तथा प्रमाणिका आदि छन्दों की योजना बड़ी कुशलता से की गयी है । पूर्ववर्ती कवियों की भाँति कवि अभयदेव ने अपने महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग की रचना एक छन्द में करके सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन भी स्वीकार किया है । 'जयन्तविजय' में प्रयुक्त अनेक छन्दों की योजना कवि के छन्द सम्बन्धी ज्ञान को द्योतित करती है। कवि अभयदेव दोषरहित काव्य रचना के लिए सतत प्रयत्नशील हैं । उनका स्पष्ट कथन है कि कवि यशोविलास के लिए प्रार्थित होकर काव्य के दोषों का निराकरण करता है क्योंकि सफल वैद्य शरीर के सुख के लिए काँटे को (वेदना को) निकाल देता ही है—

> अभ्यर्थितः सोऽपि यशोविलासलास्याय काव्यस्य धुनोतिदोषम् ।
> समुद्धरत्येव हि वैद्यराजः शल्यं तनोः सौख्यकृते कृतार्थः ॥[1]

इसके अतिरिक्त सत्कवियों के लिए उनका स्पष्ट उपदेश भी है कि जो दुर्जन (कवि) अपने बिगड़े हुए शब्दों से काव्यगृह में प्रवेश करके काव्य को विकृत कर देता है । उसे एकमात्र दोषदृष्टा उलूक पक्षी की भाँति बुद्धिमानों को दूर ही रखना चाहिए—

> उद्वासयत्यात्मविरूपशब्दैर्यो दुर्जनः काव्यगृहं निपिश्य ।
> उलूकपक्षीव सदूर एव दोषैकदृष्टिर्विबुधैर्विधेयः ॥[2]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि कवि का काव्य गुणों के प्रति विशेष लगाव है । अतः विभिन्न विषयों के अनुरूप ही विभिन्न वृत्तों का विनिवेश किया गया है ।

अनुष्टुप्—कवियों ने उपदेशात्मक तथा वर्णनात्मक कथानक के लिए सर्वाधिक अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया है । समस्त इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में इसकी प्रधानता परिलक्षित होती है। कविकुलगुरु कालिदास ने भी अपने काव्यग्रन्थों में उपदेशात्मक स्थल अथवा वृत्तान्त वर्णन में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया है । क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' में कहा है—

> शास्त्रं कुर्यात्प्रयत्नेन प्रसन्नार्थमनुष्टभा ।
> येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्ट सेतुताम् ॥
> पुराण प्रतिविम्बेषु प्रसन्नोपायवर्त्मसु ।
> उपदेश प्रधानेषु कुर्यात्सर्वेष्वनुष्टुभम् ॥

---

१. जयन्तविजय, १/१२ ।
२. वही, १/१३ ।

आरम्भे सर्गबन्धस्य कथा विस्तार संग्रहे ।
शमोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसत्यनुष्टुभम् ॥[1]

आचार्य ने उपर्युक्त विचार ऐतिहासिक, पौराणिक, धर्मशास्त्र तथा नीति-शास्त्र आदि में अनुष्टुप् छन्द की सफलता अनुभव करके ही निर्धारित किये होंगे। वस्तुतः इन विषयों में जैसी सफलता इस प्राचीन छन्द को मिली है वैसी अन्य किसी को नहीं मिल सकती थी, क्योंकि प्रत्येक छन्द की अपनी विशेषता होती है। कुछ गद्यात्मक अधिक होते हैं और कुछ पद्यात्मक। इत्तिवृत्तात्मक वृतान्तों में गद्यात्मक छन्द अच्छे लगते हैं, एवं सरस, मधुर, काव्यात्मक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के हेतु संगीत प्रधान छन्द अधिक उपयुक्त होते हैं। संगीत की मात्रा कम होने से घटना प्रधान अथवा अन्य विवरण प्रधान स्थलों में अनुष्टप् छन्द का प्रयोग बहुत अधिक सफल सिद्ध होता है। संभवतः इसीलिए उपदेश प्रधान 'जयन्तविजय' महाकाव्य में सर्वाधिक अनुष्टुप् छन्द की योजना हुई है।

'जयन्तविजय' के तृतीय सर्ग में अनुष्टुप् छन्द के माध्यम से कवि अभयदेव ने पञ्चपरमेष्ठी[2] के नमस्कार के माहात्म्य का वर्णन किया है। विपत्तिग्रस्त धनावह श्रेष्ठी के पूछे जाने पर मुनि उसे बतलाते हैं कि मेरे द्वारा कल्याण के लिए पञ्चपरमेष्ठी का नमस्कार ध्यान में लाया जाता है। विधिपूर्वक ध्यान किया हुआ यह मन्त्र सब प्रकार से मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है—

परमेष्ठिनमस्कारः शिवाय ध्यायते मया ।
मन्त्रोऽयं विधिना ध्यातः सर्वदा सर्वकामदः ॥[3]

इसी मन्त्र के नमस्कार के प्रभाव से जन्तुओं पर क्रूर गजेन्द्र सिंह, राक्षस दावानल आदि आक्रमण करने में समर्थ नहीं हो सकते—

नमस्कारप्रभावेण प्रभवन्ति न जन्तुषु ।
क्रूरागजेन्द्रसिंहादिरक्षोदावानलादयः ॥[4]

इस वर्णन के साथ ही इस सर्ग में जैनेन्द्र मुनि के उपदेशों का वर्णन भी अनुष्टुप् छन्द में किया गया है।

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार सर्गबन्ध के आदि में तथा कथा प्रारम्भ करने के प्रसङ्ग में विद्वान् लोग अनुष्टुप् छन्द्र के प्रयोग की अनुमति देते हैं।[5] कवि

---

१. क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, ३/६,६,१६ ।
२. अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोक के सर्वसाधु पञ्चपरमेष्ठी कहलाते हैं। —डॉ० प्रेम सागर जैन—जैनभक्ति काव्य की पृष्ठभूमि ।
३. जयन्तविजय, ३/२४ ।
४. वही, ३/२७ ।
५. सुवृत्ततिलकम्, ३/६ ।

अभयदेव के 'जयन्तविजय' महाकाव्य के तीसरे सर्ग का आरम्भ एवं पञ्चपरमेष्ठी नमस्कार के माहात्म्य का वर्णन इसी अनुष्टुप् छन्द में किया गया है—

ततः स राजशार्दूलं मूलमन्त्री व्यजिज्ञपत् ।
त्वत्प्रतिज्ञाम्बुधिर्देव दुस्तरेभ्योऽपिदुस्तरः ॥
नमस्कारः परं तत्र श्रीपञ्चपरमेष्ठिनाम् ।
प्रयात्यनन्यसामान्य यान पात्रसगोत्रताम् ॥[1]

एकादश तथा पञ्चदश सर्ग का आरम्भ भी कवि अभयदेव अनुष्टुप् छन्द से करते हैं। यथा—

अथविक्रमभूभर्तुः पुत्रः प्राज्यपराक्रमः ।
प्रताप इव पिण्डस्थः प्रतस्थेदिग्जिगीषया ॥[2]

—अपि च

इतश्च सुस्थितः सूरिः श्रीजयन्त्यां समाययौ ।
निजै रराज यः शिष्यैः कल्पशाखीव पल्लवैः ॥[3]

'जयन्तविजय' के पञ्चदश सर्ग में सुस्थिताचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी अनुष्टुप् छन्द के माध्यम से किया गया है तथा छन्द के प्रयोग के कारण वर्णन में सजीवता है।

इस प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य के विभिन्न स्थल अनुष्टुप् छन्द से आच्छादित हैं तथा छन्द का प्रयोग सर्वत्र ही विषयानुरूप है।

इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा तथा उपजाति—कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा तथा उपजाति छन्द का प्रयोग भी किया है। वैदिक छन्द त्रिष्टुभ से ही लौकिक छन्द इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा तथा उपजाति की सृष्टि होती है। जिस छन्द में इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा दोनों के चरण हों उसे उपजाति छन्द कहते हैं। उपजाति कवि अभयदेव का सर्वप्रिय छन्द है। इस छन्द का प्रयोग 'जयन्तविजय' महाकाव्य के प्रथम, तृतीत, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, त्रयोदश, चतुदर्श, सप्तदश तथा एकोनविंशति सर्ग में हुआ है। कदाचित् इसकी गेयता और सरलता के कारण ही 'जयन्तविजय' में इसका अत्यधिक प्रयोग मिलता है। 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इस छन्द की आवृत्ति ५०० बार से भी ऊपर है। इस प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इसकी संख्या सर्वाधिक है। ऐसा प्रतीत होता है, कि कवि ने प्रायः रचना के प्रवाह में इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा के चरणों

१. जयन्तविजय, ३/१।
२. वही, ११/१।
३. वही, १५/१।

को एक ही छन्द में सँजोया है और अपने भावों को व्यक्त करने के लिए इस प्रकार के छन्दों की अनेक बार पुनरावृत्ति की है। यद्यपि 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का पृथक् प्रयोग भी मिलता है किन्तु इनकी संख्या नगण्य है। उदाहरणार्थ कवि ने प्रकृति में मानवीय भावनाओं का आरोपकर अनेक प्रकार के मानसिक विकार एवं भावों का विश्लेषण इन्द्रवज्रा छन्द के माध्यम से प्रस्तुत किया है। कवि भ्रमर तथा सूर्य में प्रेम, द्वेष, प्रतिशोध आदि की भावनाओं का आरोप करते हुए कहता है—

मद्वल्लभां कैरविणीमुपेत्य चुम्बन्त्यमी रागवतेति राज्ञा।
आमोच यत्पङ्कजगुप्तिनद्रान्मित्रः प्रभाते वसुभिर्द्विरेफान्॥[1]

अर्थात् इन भ्रमरों ने मेरी प्रिया कमलिनी का चुम्बन किया है, अतः सूर्य अनुरागी राजा चन्द्रमा को वसु देकर इन भ्रमरों को छुटकारा दिला रहा है। स्पष्ट है, कि यहाँ सूर्य और चन्द्रमा में मानवीय भावनाओं का आरोप किया गया है।

इसी प्रकार उपेन्द्रवज्रा छन्द का प्रयोग कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य के तृतीय सर्ग में केवल एक ही बार किया है। राजा विक्रमसिंह अपनी रानी प्रीतिमती को अपत्यहीनता के दुःख से दुःखी देखकर प्राणों की बाजी लगाकर उसकी इच्छा को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करते हैं। मन्त्री सुबुद्धि इच्छा पूर्ति का साधन पञ्चपरमेष्ठी नमस्कार बतलाता है। राजा विक्रमसिंह उस नमस्कार मन्त्र को ग्रहण कर लेते हैं—

नमस्कृतेरित्थमसौ महीपोऽनुभूतपूर्वी च फलं निशम्य।
स सम्प्रदायं जगृहे नृपस्तां सुधां पिबेद्वा नहि कः सतृष्णः॥[2]

अर्थात् अनुभवपूर्वक उस राजा ने इस प्रकार नमस्कार के फल को सुनकर सम्प्रदाय के साथ उस नमस्कार को ग्रहण किया, क्योंकि कौन सा प्यासा प्राणी सुधा का पान नहीं करता।

उपजाति छन्द के प्रयोग के विषय में महाकवि क्षेमेन्द्र का विचार है—

शृङ्गारलम्बनोदार नायिका रूपवर्णनम्।
वसन्तादि तदङ्गश्च सच्छायमुपजातिभिः॥[3]

अर्थात् शृङ्गाररस के आलम्बनभूत उदात्त नायिकाओं के रूपों का, वसन्तादि षड्ऋतुओं का और उसी के अनुकरण पर उसके (ऋतुओं के) अङ्गों का वर्णन उपजाति छन्द के द्वारा करना चाहिए।

१. जयन्तविजय, ८/७१।
२. वही, ३/१०१।
३. सुवृत्ततिलकम् ३/१७।

यद्यपि 'जयन्तविजय' महाकाव्य में उपजाति छन्द का प्रयोग उपर्युक्त नियमों के अनुसार नहीं हुआ है फिर भी नायिकाओं के रूप सौन्दर्य वर्णन में इस छन्द का आश्रय लिया गया है। मगध की कामिनियों का सौन्दर्य उपजाति छन्द के द्वारा ही प्रस्फुटित हुआ है—

यस्मिन्ननुग्रामपुरं वधूनां विशुद्ध शीलाभरणाग्रिमाणाम् ।
सर्वाङ्गलावण्यमलं करोति सुवर्णरत्नोत्तम भूषणानि ॥
नेत्रैः सरोजैरिव राजमाना लावण्यपूरैरमृतैरिवोच्चैः ।
कुचैश्च चक्रैरिव सद्विलासैर्यत्रत्यरामाः स्मरकेलिवाप्यः ॥[1]

अर्थात् जिस मगध में प्रत्येक गाँव और पुर में विशुद्ध शील और आभूषणों में आगे स्त्रियों का सर्वाङ्गलावण्य सब प्रकार से सोने और रत्नों के आभूषणों को अलंकृत करता है तथा जहाँ की स्त्रियाँ कमलरूपी नेत्रों से, लावण्यपूर्ण अमृतों से, चक्ररूपी कुचों से सुविलास द्वारा कामदेव के केलि की वापियाँ हैं।

इस प्रकार मानव-सौन्दर्य के विविध पक्षों का अंकन कर कवि अभयदेव ने अपनी कलात्मक अभिरुचि का परिचय दिया है।

'जयन्तविजय' में प्रीतिमती के सौन्दर्य का वर्णन भी उपजाति छन्द में हुआ है—

पीयूषभानोर्दल संचयेन चङ्गं यदीयाङ्गमसर्जि धात्रा ।
आनन्दकं लोचनकैरवाणां प्रकामसन्तापहरं च येन ॥
उल्लासि लावण्य सुधातरङ्गै रङ्गै रनङ्गः सरसैर्यदीयैः ।
चित्रीयते स्त्रैण गुणैस्त्रिलोकी लोकश्च लोकोत्तर कीर्तिकारैः ॥
संजीवनी चौषधिरङ्गजस्य विश्रामधामेव हृदः स्वभर्तुः ।
या राज्यऋद्धेरधिदेवतेव लावण्यवल्लेर्नवकन्दलीव ॥[2]

यहाँ पर कवि अभयदेव ने प्रीतिमती के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन न करके दर्शक के मन पर पड़े हुए उस सौन्दर्य के समग्र प्रभाव की अभिव्यक्ति की है। यह शारीरिक अवयवों और उनकी साजसज्जा का चित्र नहीं, बल्कि कान्ति और सुन्दरता का मूर्तिमान चित्र है।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में उपजाति छन्द का प्रयोग सरोवर वर्णन के प्रसङ्ग में भी किया गया है क्योंकि कवि मौलिक प्रतिभा एवं पैनी सूझ के आधार पर अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा अत्यन्त नगण्य वस्तु को भी भावों की रंगीनी से ऐसा चमत्कृत कर देता है, कि वह आकर्षक एवं हृदय रम्य प्रतीत होने लगती है। फलतः कमलयुक्त सरोवरों से मगध प्रदेश की समृद्धि में वृद्धि हुई है—

१. जयन्तविजय, १/३५, ४६। २. वही, १/६७, ६६।

सरोवरैर्यत्र भुवो विभान्ति सरोवराणि स्मितपद्मखण्डैः ।
तैः पद्मखण्डानि च राजहंसैः स्वैराजहंसः सुगति प्रचारैः ॥[1]

सरोवर की यही सुभग-सुषमा सज्जनों की दृष्टि को अपनी ओर बलात् आकृष्ट कर लेती है जिसके परिणामस्वरूप उन्हें परम प्रीति की प्राप्ति होती है। समुद्र भी इस सरोवर की तुलना करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है—

प्रीतिं परां यत्र नयन्ति लोकं सरांसि चेतांसि च सज्जनानाम् ।
अदृष्टपर्यन्ततयाश्रितानि गम्भीरतान्यक्कृत वारिधीनि ॥[2]

यही कारण है कि जयन्ती नगरी की चारुता को देखकर शेषनाग ने भोगावती के तथा इन्द्र ने अमरावती के प्रति प्रगाढ़ स्नेह को छोड़ दिया है—

भोगावतीं भोगपतिः सुरेन्द्रोऽमरावतीं प्रत्यधिकानुरागम् ।
मुमोच चारुत्वमवेक्ष्य यस्याः सा तत्र नाम्नास्ति पुरीजयन्ती ॥[3]

इन वर्णनों के अतिरिक्त कवि अभयदेव ने युद्ध वर्णन में भी उपजाति छन्द का प्रयोग सफलतापूर्वक किया है। दशम् सर्ग में विक्रमसिंह के व्यवहार से असन्तुष्ट हो सिंहल भूपति हरिराज जयन्ती नगरी पर आक्रमण कर देता है जिसके प्रतिरोध के लिए युवराज जयन्त ससैन्य जाता है। सिंहल भूपति हरिराज युद्ध में मारा जाता है और विजयलक्ष्मी जयन्त का वरण करती है। कवि अभयदेव द्वारा यह सम्पूर्ण वर्णन उपजाति छन्द द्वारा निबद्ध किया गया है। सेनाओं की प्रयाण रेणु के द्वारा सूर्य के ढक दिये जाने पर हाथियों के शुण्डों से प्रक्षिप्त जलबिन्दुओं के समूह से आकाश में नछत्र समूह दिखलायी पड़ रहा है—

हस्तीन्द्र हस्तोत्करसीकराणां गणैरदर्श्यस्त (?) नमस्तलेऽस्य ।
प्रयाणरेणुः स्थगिते खरांशौ समुद्नतानीव शुभान्यदु (मू) नि ॥[4]

इसी धूलि का उपजाति छन्द के माध्यम से वर्णन करते हुए कवि अभयदेव का कथन है कि मुझसे बढ़कर इसके शिविर हैं इस लज्जा से मानो लज्जित आकाश शीघ्र उसके घोड़ों के खुरों से उड़ाई गयी धूल के पट के कुटी के कोटर के क्रोड में लीन हो गया—

मत्तोऽधिकं तच्छिबिरं ह्रियेति विस्तार्यपि व्योम तदा विलम्बम् ।
लीनं तदीयाश्व खुरोत्थधूली पटी कुटी कोटर कोण कोटौ ॥[5]

कवि अभयदेव युद्ध प्रसङ्ग में भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। युवराज

१. जयन्तविजय, १/३० ।
२. वही, १/३७ ।
३. वही, १/४१ ।
४. वही, १०/४ ।
५. वही, १०/१० ।

जयन्त सिंहल भूप हरिराज के नगर में प्रविष्ट होकर भी उसपर एकाएक आक्रमण नहीं करता अपितु उसके राज्य की रक्षा ही करता है। कवि के शब्दों में—

ररक्षदेशं स्वमिवाप्यशत्रोः क्षयं स तस्यैव यतश्चि कीर्षुः ।
स्वभाववैरान्नकुलो हि सर्पं निहन्ति नो तत्सदनं प्रविष्टः ।।[1]

अर्थात् क्षय की इच्छा रखने वाले भी उसने अपने मित्र के समान उसके देश की रक्षा की, क्योंकि स्वभाव से वैरी नकुल उसके घर में प्रविष्ट होकर सर्प को नहीं मारता है।

इसी प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य के चतुर्दश सर्ग में भी युद्ध वर्णन में कवि ने उपजाति छन्द का आश्रय लिया है। जब महेन्द्र चक्रवर्ती को यह ज्ञात होता है, कि पवनगति ने उसके पुत्र की उपेक्षा करके अपनी पुत्री का विवाह जयन्त से कर दिया है तो वह पवनगति पर आक्रमण कर देता है। जयन्त और महेन्द्र के मध्य घमासान युद्ध होता है—

ततः कृतान्त भ्रकुटी कराल कोदण्डचण्डध्वनिपूरिताशम् ।
समं समानैः परिपन्थिसार्थैः प्रारब्धमायोधनमग्रसैन्यैः ।।[2]

अर्थात् इसके पश्चात् यमराज की भयंकर भृकुटी के समान कोदण्ड की प्रचण्ड ध्वनि से दिशाओं को भरते हुए शत्रुओं के साथ युद्ध प्रारम्भ हुआ।

उस युद्धस्थल में कोई वीर कटी हुई अपनी जङ्घाओं के कारण सूर्य के सारथित्व को प्राप्त कर रहा है—

प्रमादिनं वीक्ष्य विपक्षवीरमरातिसूतः प्रयतः प्रहर्तुम् ।
तदीयनिस्त्रिंशहतोरुयुग्मः सद्यः प्रपेदेऽरुण सारथित्वम् ।।[3]

अर्थात् जागरूक शत्रु के सारथी ने विपक्षी वीर के मारने वाले प्रमादी को देखकर उसके शस्त्र से करी हुई दोनों जाँघ के कारण शीघ्र ही अरुण के सारथित्व को प्राप्त किया।

इतना ही नहीं, महावतों से प्रेरित अत्यन्त क्रोधी हाथी अपने शुण्डदण्डों से वीरों को पकड़कर पैर से शरीर को दबाकर उनके शिरकमलों से मानों यमराज को बलि चढ़ा रहे हैं—

अधोरणैस्तीव्ररुषः प्रयुक्ताः करैः प्रवीरान्करिणोऽभिगृह्य ।
चक्रुः समाक्रम्य वपुः पदाभ्यां शिरः सरोजैर्बलिमन्तकाय ।।[4]

इस युद्ध में जयन्त की तलवार से महेन्द्र की मृत्यु होती है। इस प्रकार परम्परागत नियमों का पालन न करते हुए भी कवि अभयदेव ने युद्धवर्णन में

१. जयन्तविजय, १०/१८ । २ वही, १४/४६ ।
३. वही, १४/५४ । ४. वही, १४/६६ ।

उपजाति छन्द का प्रयोग सफलतापूर्वक किया है। अतः स्पष्ट है, कि उपजाति छन्द द्वारा विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति में वे सर्वथा सफल सिद्ध हुए हैं जो कि निश्चय ही उनकी काव्य प्रतिभा तथा भाषा पर पूर्ण अधिकार का द्योतक है।

रथोद्धता—कवि अभयदेव ने रथोद्धता छन्द का विन्यास 'जयन्तविजय' महाकाव्य के सप्तम तथा षोड्श सर्ग में किया है। इस छन्द की उत्पत्ति भी वैदिक छन्द त्रिष्टुप् से होती है। छन्द के प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं। रथोद्धता[1] में नवम वर्ण दीर्घ तथा दशम ह्रस्व होता है। इसके वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र का मत है कि चन्द्रोदयादि विभाव के वर्णन में रथोद्धता भव्य बन पड़ती है[2]। वे इसकी पद योजना के सम्बन्ध में भी कहते हैं कि 'पद के अन्त में वर्णों में विसर्ग युक्त होने से रथोद्धता उसी प्रकार स्पृहणीय बन जाती है जिस प्रकार ललित कलाओं से अवगत लटभा (बाला) प्रगल्भता को प्राप्त कर लेती है।[3] इसके विपरीत पद के अन्त में विसर्ग रहित रथोद्धता उसी प्रकार कान्तिहीन हो जाती है जिस प्रकार मानिनी नायिका प्रियतम की प्रार्थना के विना ही वासना के वशीभूत होती हुई प्रार्थना के लिए बाध्य होकर अपना स्वाभिमान खो देती है[4]।

'जयन्तविजय' में कवि अभयदेव ने रथोद्धता छन्द का प्रयोग ऋतुराज बसन्त की शोभा तथा रतिसुन्दरी के स्वयंवर के प्रसङ्ग में किया है। हर्ष और उन्माद के प्रतीक ऋतुराज बसन्त के आगमन मात्र से ही प्रकृति में रमणीयता का विस्तार हो जाता है। समस्त जगत आनन्दविभोर हो उठता है। चम्पा के पुष्प की चाप के लाभ का लोभी कामदेव जीर्ण-शीर्ण निर्गुणी कमलों को छोड़कर अधिक बलशाली हो जाता है—

> कौन्दपुष्पमपहाय जर्जरं निर्गुणं धनुरजायताधिकम्।
> चम्पक प्रसवचापमण्डलीलाभलोलुभमना मनोभवः।।[5]

कवि अभयदेव की कल्पना उस समय चरम सीमा पर पहुँच जाती है जब रथोद्धता छन्द द्वारा पथिकों की कामिनियों को मदन व्यथा से संतप्त देखकर प्रकृति भी आँसू बहाने लगती है—

---

१. आद्यमक्षरमतस्तृतीयकं सप्तमं च नवमं तथान्तिकम्।
दीर्घमिन्दुमुरिव यत्र जायेत तां वदन्ति कवयोरथोद्धताम्।। —श्रुतबोध, २३।

२. रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु। —सुवृत्ततिलकम् ३/१४।

३. विसर्गयुक्तैः पदान्तैर्विराजति रथोद्धता।
कला परिचयैर्याता लटभेव प्रगल्भताम्।। —वही, २/१३।

४. अविसर्गैस्तु पदान्तैर्निष्प्रभेव रथोद्धता।
अप्रार्थना प्रणयिनीम्लानमानेव मानिनी।। —सुवृत्ततिलकम् २/१४।

५. जयन्तविजय, ७/२६।

अध्वगप्रणयिनीषु दुर्दशां वीक्ष्यते करुणयेह मल्लिका ।
रोदतीव बिपुलाश्रुभिर्भृशं स्पन्दमानमकरन्दबिन्दुभिः ॥[1]

अर्थात् टपकते हुए मकरन्द बिन्दु वाली विपुल आँसुओं से रोती हुई मल्लिका लता ने पथिकों की कामिनियों को करुणापूर्वक देखा ।

इसी प्रकार कवि अभयदेव ने षोडश सर्ग में रथोद्धता छन्द का प्रयोग किया है । कुमार जयन्त हस्तिनापुर के राजा वैरिसिंह की पुत्री रतिसुन्दरी के स्वयंवर में जाते हैं । स्वयंवर-मण्डप में जब रतिसुन्दरी जयन्त को देखती है, उस समय संयोग श्रृङ्गार की भव्य छटा कवि अभयदेव ने रथोद्धता छन्द द्वारा व्यक्त की है -

व्यालिलेख मुहुरङ्घ्रिणा महीं सा चकर्ष भृशमंशुकाञ्चलम् ।
श्री जयन्त युवराज दर्शने कारिता किमु न पुष्पधन्वनः ॥[2]

अर्थात् उस बालिका ने बार-बार अपने पैर से पृथ्वी पर लिखा और बार-बार अपने वस्त्राञ्चल को सरकाया । श्री युवराज जयन्त के दर्शन में कामदेव ने उससे क्या नहीं करवाया ।

वह पतिम्बरा रतिसुन्दरी जिन गुरुतर काम से विह्वल राजाओं को छोड़ कर गयी वे राजा उसके अञ्जन से युक्त नेत्रों से देखे गये श्यामता को प्राप्त हुए—

यान पास्य नृपतीन्पतिवरा सा जगाय गुरुकामविह्वलान् ।
ते तयाञ्जनघनैर्विलोचनैः श्यामतां दधुरिवाक्षमेक्षिताः ॥[3]

इस प्रकार कवि अभयदेव ने रथोद्धता छन्द में ऋतुराज बसन्त एवं रति-सुन्दरी के स्वयंवर का वर्णन प्रस्तुत किया है । उन्होंने क्षेमेन्द्र कथित रथोद्धता के वर्ण्य विषय सम्बन्धित नियमों का निर्वाह अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में नहीं किया है । विसर्गयुक्त रथोद्धता के सम्बन्ध में भी कवि ने किसी नियम का निर्वाह नहीं किया है । किन्तु कई स्थलों पर विसर्गयुक्त रथोद्धता का प्रयोग व्याप्त है जिससें निश्चय ही वहाँ पर एक विशेष प्रवाह व गति आ गयी है । इसके अतिरिक्त विसर्गरहित पदान्तों का प्रयोग भी 'जयन्तविजय' महाकाव्य में मिलता है ।

अतः स्पष्ट है कि कवि अभयदेव ने काव्यशास्त्रियों का अनुकरण रथोद्धता छन्द के विनियोग में नहीं किया है, यह उनकी अपनी मौलिक कल्पना है ।

स्वागता—कवि अभयदेव ने स्वागता छन्द का विनियोग 'जयन्तविजय' महाकाव्य के त्रयोदश (१-१०१) सर्ग में किया है । यद्यपि महाकवि क्षेमेन्द्र स्वागता छन्द के सम्बन्ध में बिल्कुल मौन हैं फिर भी उसकी सगुणता के सम्बन्ध में उनका विचार है कि प्रत्येक चरण के प्रारम्भ में अकार स्वरयुक्त एवं अन्त में विसर्गयुक्त

१. जयन्तविजय, ७/४० ।
२. वही, १६/३७ ।
३. वही, १६/७२ ।

वर्णों के प्रयोग से स्वागता (छन्द) काव्यरसास्वादिनी, हावभाव प्रदर्शिनी एवं स्वयं सेवा में उपस्थित नायिका के समान प्रतीत होती है ।[1] कवि कुलगुरु कालिदास ने 'स्वागता' छन्द का प्रयोग संभोग शृङ्गार के प्रसङ्ग में किया है । महाकवि अभयदेव ने भी अपने 'जयन्त विजय' महाकाव्य में स्वागता छन्द द्वारा ही संयोग शृङ्गार का वर्णन कर अपनी सारग्राहिणी प्रतिभा का परिचय दिया है । उदाहरणार्थ—

खेचरेन्द्रदुहितापि कुमारं रूपसंपदपहस्तितमारम् ।
वीक्ष्य तत्क्षणमभूदनुरागक्षीर (सागर तरङ्ग निमग्ना: ।।
प्रेरितैः प्रथमतः प्रणयेन व्रीडया विचलितैरथकिंचित् ।
तिर्यगञ्चित पुटैर्नयनैः सा तं ददर्श मुहुरम्बुरुहाक्षी ।।[2]

अर्थात् खचरेन्द्र दुहिता भी रूप की सम्पत्ति से कामदेव को भी हस्तगत करने वाले कुमार (जयन्त) को देखकर सहसा प्रेम के समुद्र की तरङ्ग में निमग्न हो गयी । पहले प्रेम से भेजे गये लज्जा से कुछ विचलित तिरछे प्रशंसनीय नयन-पुटों से उस कमलमुखी ने बार-बार उस (राजकुमार) को देखा ।

यहाँ स्थायीभाव रति है जयन्त कनकवती की हृदयस्थ रति का आलम्बन विभाव है । जयन्त का रूप तथा उसके गुण उद्दीपन विभाव हैं कनकवती द्वारा बारम्बार देखना अनुभाव है । इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारीभावों से पुष्ट होकर कनकवती की हृदयस्थ रति शृङ्गाररस में 'स्वागता' छन्द द्वारा अभिव्यक्त हुई है ।

इसी प्रकार कनकवती तथा जयन्त की संभोग क्रीडाओं का वर्णन करते हुए कवि अभयदेव का कथन है --

तौमिथौऽप्रतिमकौतुकरूपं श्रीविलोकनविमोहितनेत्रौ ।
तत्क्षणादमृत सिन्धुतरङ्गस्नापिताविव तदा समभूताम् ।।
मुद्रितेक्षणयुगः सुखनिद्रामुद्रमानववधू परिरम्भात् ।
उत्तरङ्गरतिसागर मग्नस्तत्क्षणं क्षणमिवैष निनाय ।।[3]

अर्थात् वे आपस में अद्वितीय कुतूहल रूप सुन्दरता के विलोकन से विमोहित नेत्र वाले उस समय अमृत सिन्धु की तरङ्ग से नहलाये हुए के समान प्रतीत हुए तथा राजकुमार (जयन्त) ने दोनों नेत्रों को बन्द कर नववधू के परिरम्भ से सुख की निद्रा की मुद्रा से उत्कर्ष तरङ्ग वाले रति के सागर में निमग्न होते हुए उन क्षणों को एक क्षण के समान बिताया ।

---

१. साकाराद्यै विसर्गान्तैः सर्वपादैः सविभ्रमा ।
स्वागता स्वागताभाति कविकर्म विलासिनी ।। —सुवृत्ततिलकम २/१५ ।
२. जयन्तविजय, १३/३६-४० ।
३. वही, १३/१००-१०१ ।

इस प्रकार कवि अभयदेव ने त्रयोदश सर्ग में कनकवती का सौन्दर्य वर्णन, जयन्त तथा कनकवती का एक दूसरे को देखकर मुग्ध होना, पवनगति द्वारा कनकवती का जयन्त के साथ विवाह तदनन्तर उनकी सम्भोग क्रीड़ाओं का 'स्वागता' छन्द में वर्णन कर अपनी अपूर्व काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है। संयोग शृङ्गार की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त स्वागता छन्द कवि के अपरिमित ज्ञान का परिचायक है।

द्रुतविलम्बित—कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में द्रुतविलम्वित छन्द का प्रयोग चतुर्थ (१-६६), षोडश (९२,९६) तथा अष्टादश (१-६६) सर्ग में किया है। द्रुतविलम्बित छन्द के विषय में कवि क्षेमेन्द्र मौन हैं किन्तु कालिदास प्रभृति कवियों ने वसन्तादि ऋतु तथा समृद्धि के वर्णन में इस छन्द का प्रयोग किया है। कवि अभयदेव इस छन्द के विनियोग में पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। वे एक ओर जहाँ श्मशान के वर्णन में वीभत्स और भयानक रस की एक साथ[1] अभिव्यक्ति द्रुतविलम्बित छन्द द्वारा प्रस्तुत करते हैं वहीं दूसरी ओर ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद ऋतु का रमणीय चित्र भी पाठक के समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं। द्रुतविलम्बित छन्द की आरम्भ में द्रुतगति तथा उत्तरार्ध में विलम्बित गति आह्लादकता का आधान करने वाली होती है। ग्रीष्म ऋतु के आते ही सूर्य उग्र हो जाता है। सम्पूर्ण जगत आतप के सन्ताप से सन्तप्त हो जाता है। फलतः इस ऋतु का सृजन करने वाले विधि की प्रशंसा न होकर निन्दा ही होती है। कवि अभयदेव इसी तथ्य का निरूपण करते हुए द्रुतविलम्बित छन्द में कहते हैं—

अकृतसृष्टिममुष्य सरस्वती सुचिर शोषकृतोऽपि ऋतोर्विधिः।
भुवि पुराण पुमानिति मन्दधीरति कलङ्कपदं स ततोऽजनि ॥[2]

ग्रीष्म ऋतु में दिन बड़े एवं रात्रियाँ छोटी होने लगती हैं। कवि अभयदेव लौकिक जगत से ही कारण ढूँढ़ निकालते हैं। उनका कहना है कि अत्यन्त तृषाकुल व्यक्ति की भाँति सूर्य सम्पूर्ण पृथ्वी के रस का पान करके दुर्वह हो गया है। जिसके कारण उसके घोड़ों की गति मन्द हो जाती है। फलतः दिन बड़े होने लगते हैं—

बहुनृपेव रसारसपानतस्तरणिरेष महाभरदुर्वहः।
अभवदस्य रथाश्वगतिः शनैर्ध्रुवमतोदिनवृद्धिरजायत ॥[3]

ग्रीष्म ऋतु के अनन्तर वर्षा ऋतु का आगमन होता है। वर्षा ऋतु में घनघोर वृष्टि होती है, बिजली चमकती है किन्तु कवि की कल्पना में वर्षा ऋतुरूपी नृप के बादलरूपी वीर अपनी शत्रुरूपिणी उग्र (ग्रीष्म) ऋतु को देखने की इच्छा से अत्यन्त क्रोधी मनुष्य की भाँति अपने नेत्ररूपी तडित को फेंक रहे हैं—

१. जयन्तविजय, ४/९,१२,१४।
२. वही, १८/३।
३. वही, १८/६।

जलदकालनृपस्यघनो भटः परिलसत्तरवारिसमुद्भटः ।
तडितमुग्रऋतो स्म दिदृक्षया क्षिपति दृष्टिमिबातिरुषांनृणाम् ।।[१]

ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु के वर्णन के पश्चात् शरद ऋतु का वर्णन भी कवि अभयदेव ने द्रुतविलम्बित छन्द में प्रस्तुत किया है। शरद ऋतु की रमणीयता जगत-प्रसिद्ध है। इस ऋतु के आगमन के साथ ही सम्पूर्ण जगत में आनन्द का संचार हो जाता है। कारण, कि दिन में सूर्य परम ताप को प्राप्त करता है और रात्रि में चन्द्रमा अत्यन्त सघन चन्द्रिका को धारण करता है । इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों अधिकारी की भाँति शरद ऋतु के आदेश का पालन कर रहे हैं —

अहनितापमधत्त परं रविर्घनघनां च शशी निशि चन्द्रिकाम् ।
शरदइष्टतरावधि कारिणाविव निदेशवशात्कुरुतस्तथा ।।[२]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि अभयदेव ने द्रुतविलम्बित छन्द द्वारा जहाँ एक ओर वीभत्स तथा भयानक का दृश्य उपस्थित किया है वहीं दूसरी ओर ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद ऋतु का वर्णन कर अपनी सारग्राहिणी बुद्धि का परिचय दिया है । ऋतु वर्णन के प्रसङ्ग में छन्द का प्रयोग विषयानुरूप ही है जिसके परिणामस्वरूप काव्य में सर्वत्र चारुता का संचार हुआ है।

वंशस्थ—कवि अभयदेव द्वारा 'जयन्तविजय' महाकाव्य में वंशस्थ छन्द की योजना द्वितीय (१-४६), नवम (१-६६), दशम (७५), एकादश (६०) तथा षोडश (६०) सर्ग में हुई है। महाकवि क्षेमेन्द्र के अनुसार नीति-विषयक स्थलों पर वंशस्थ छन्द का प्रयोग होना चाहिए—

षांगुण्य प्रगुणा नीतिवंशस्थेन विराजते ।[३]

इसीलिए वंशस्थ की रसानुकूल एवं विषयानुकूल छन्दयोजना के लिए उन्होंने भारवि की प्रशंसा मुक्त-कण्ठ से की है—

वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता ।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकी कृता ।।[४]

कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' के द्वितीय सर्ग में वंशस्थ वृत्त द्वारा रानी प्रीतिमती के अपत्यहीनता के दुःख, राजा विक्रमसिंह द्वारा उसकी इच्छा की पूर्ति की प्रतिज्ञा तथा सन्ध्या का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है । सन्तानहीन स्त्री का वर्णन करते हुए कवि अभयदेव कहते हैं—

नभस्थलीव द्युतिमद्विनाकृता निशेव शीतद्युतिमण्डलोज्झिता ।
महौषधीवोन्मदवीर्यवर्जिता न सूनुहीना वनिता प्रशास्यते ।।

१. जयन्तविजय, १८/२० ।
२. वही, १८/३६ ।
३. सुवृत्ततिलकम्, ६/१८ ।
४. वही, ३/१६ ।

परां जनन्या जनयत्यनारतं महाकुलीनस्तनयोनयाश्चितः ।
महर्घतामेघयते गुणश्रियो न किं यशोराशिरदम्भ सौरभः ।।[१]

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य बिना आकाश, चन्द्रमा के बिना रात्रि तथा विशिष्ट शक्ति के बिना औषधि की प्रशंसा नहीं होती उसी प्रकार सन्तानहीन स्त्री की प्रशंसा नहीं होती, क्योंकि नीतिमान, महाकुलीन, अदम्भी, यशोराशि पुत्र, गुणयुक्त माता की महार्घता को क्या नहीं बढ़ाता । अर्थात् वह तो माता के मूल्य (महत्त्व) को बढ़ाता ही है ।

इस प्रकार कवि अभयदेव ने पुत्र विषयक महारानी प्रीतिमती की चिन्ता को वंशस्थ छन्द द्वारा व्यक्त किया है । कवि सन्ध्या का मनोहारी वर्णन भी वंशस्थ छन्द द्वारा प्रस्तुत करता है—

खरांशुतीव्रातपाततापतः सुरस्रवन्त्यां जलकेलिकारिभिः ।
धुतस्य दिग्दन्तिभिरम्भसो भृशं कणा इव व्योमनि भान्तितारकाः ।।[२]

अर्थात् सूर्य के तीव्र आतप गिरने के ताप से आकाशगङ्गा में जलकेलि करने वाले दिग्गजों से कँपाये गये जलकण की भाँति आकाश में तारे चमकने लगे ।

नवम सर्ग में वंशस्थ वृत्त के माध्यम से सिंहलभूपति हरिराज के हाथी का मगध की जयन्ती नगरी में आने, हाथी के प्रभाव से युवराज जयन्त के खचरेश्वर होने की भविष्यवाणी सुनकर विक्रमसिंह द्वारा उसे पकड़ने का आदेश देने तथा सिंहलभूपति के दूत के आने पर विक्रमसिंह द्वारा दैव प्रदत्त गज को वापस देने से इनकार करने का मोहक वर्णन प्राप्त होता है । प्रस्तुत सर्ग में नीतिविषयक तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है । सिंहलभूपति हरिराज के हाथी को भयवश वापस कर देना नीति के विरुद्ध ही नहीं अपितु कायरता का परिचायक है । कवि के शब्दों में—

ममाङ्गणालङ्करणं करीश्वरः सहेलमागत्य बभूव यः स्वयम् ।
तथार्पितो देवतया प्रसन्नया स दीयते चेल्लघुता तदा न किम् ।।
महानिधीनामधिपोऽपि चक्रभृन्नयागतं वस्तु न जातु मुञ्चति ।
मतङ्गजस्यास्य मिषात्स्वमन्दिरे रमा प्रविष्टा क्रियते कथं बहिः ।।[३]

अर्थात् जो हाथी प्राङ्गण का अलङ्करण मुझको अपने आप आकर प्राप्त हुआ है और प्रसन्नता से देवताओं ने अर्पित किया है । उसको यदि दे दिया जाय तो क्या मेरी लघुता नहीं होगी (अर्थात् अवश्य होगी) । महानिधि के स्वामी सुदर्शन चक्रधारी

---

१. जयन्तविजय, २/२,४ ।
२. वही, २/४८ ।
३. वही, ६/२१,३१ ।

विष्णु भी नीति से आयी वस्तु को कभी नहीं छोड़ते। इस हाथी के बहाने से हमारे घर में प्रविष्ट लक्ष्मी को कैसे बाहर किया जा सकता है।

इसी प्रकार सिंहलभूपति हरिराज के द्वारा भी उसे युद्ध के भय से छोड़ देना भी नीति विरुद्ध है। फलत: दूत के मुख से उसके वचनों को कवि अभयदेव ने कहलाया है—हे राजन् ! खेद है कि वे (हरिराज) किसी प्रकार से तेज के कारण गजेन्द्र को नहीं छोड़ना चाहते क्योंकि दर्प से उद्दण्ड, जीवित रहते हुए सर्प कभी भी अपनी बढ़ी हुई मणि को नहीं छोड़ता—

> नृपाधिराज द्विपराजमञ्जसा न मुञ्चते हन्त कथंचनापि सः।
> फणीश्वरः स्फारफणामणिं क्वचिज्जहाति जीवन्न हि दर्पदुद्धरः ॥[१]

'जयन्तविजय' के दशम सर्ग में वंशस्थ छन्द का प्रयोग केवल एक स्थल (७५) पर हुआ है। यहाँ इसका वर्ण्य विषय विजयलक्ष्मी द्वारा जयन्त का वरण किया जाना है। एकादश सर्ग (६०) में वंशस्थ की योजना दिग्विजय के प्रसङ्ग में की गयी है तथा षोडश सर्ग (६०) में वंशस्थ का वर्ण्य विषय वैरिसिंह की पुत्री रतिसुन्दरी से विवाह कर युवराज जयन्त का अपनी राजधानी जयन्ती नगरी में लौट आना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिन स्थलों पर रसानुकूल वृत्त की योजना की गयी है वहाँ पर भावाभिव्यक्ति सशक्त तथा छन्द में एक विशेष प्रकार की गति प्रतीत होती है जो कवि के छन्द कौशल का परिचायक है।

वसन्ततिलका—वसन्ततिलका छन्द की योजना 'जयन्तविजय' के तृतीय (१ २), पञ्चम (१-७२), एकादश (६१), चतुर्दश (१११) तथा षोडश (८७, ६१) सर्ग में विद्यमान है। यह कवि अभयदेव का प्रिय छन्द है। वीर और रौद्र रसों के सङ्कर में वसन्ततिलका छन्द शोभित होता है।[२] वसन्ततिलका की गुणवत्ता के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का विचार है कि प्रथम-द्वितीय पाद के अन्तिम वर्णों से पूर्ववर्ण आकार स्वरयुक्त तथा ओजगुण व्यञ्जक वर्णों का विन्यास करने से वसन्ततिलका की शोभा बढ़ जाती है।[३] महाकवि कालिदास ने वसन्ततिलका का प्रयोग कार्य की सफलता तथा ऋतु वर्णन के प्रसङ्ग में किया है किन्तु कवि अभयदेव इस छन्द के प्रयोग में किसी परम्परा का निर्वाह नहीं करते। वे पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। इसीलिए विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति इस छन्द के माध्यम से हुई है। 'जयन्तविजय' में

१. जयन्तविजय, ६/४६।
२. वसन्ततिलकं भाति संकरे वीर रौद्रयोः। —सुवृत्ततिलकम्, ३/१६।
३. वसन्त तिलकस्याग्रे साकारे प्रथमाक्षरे।
ओजसः जायते कान्तिः सविकास विलासिनी ॥ —वही, ३/२०।

वसन्ततिलका का वर्ण्य विषय शृङ्गार एवं भक्ति भावना है। यहाँ पर छन्दोयोजना के वर्ण्य विषयानुसार न होने पर भी चारुत्व की प्रतीति होती है। 'जयन्तविजय' के तृतीय सर्ग में वसन्ततिलका का वर्ण्य विषय पञ्चपरमेष्ठी नमस्कार के महत्त्व का प्रतिपादन है—

मन्त्रस्य तस्य रुचिरप्रचुर प्रभावैः
सर्वत्र विश्ववलयैरपरैरगम्यः ।
श्रीमान्समस्तजनतापरिभूतिबद्ध-
कक्षैः करैरिव रविस्तिमिरैरथासीत ॥[१]

अर्थात् उस मन्त्र के रुचिर प्रचुर प्रभाव से विश्व भर में दूसरों से अनाक्रान्त होकर, सूर्य की किरणों से नष्ट किये हुए तिमिर की भाँति वह श्रीमान् (विक्रमसिंह) समस्त जनता का कृपा-पात्र हुआ।

पञ्चम सर्ग में वसन्ततिलका का वर्ण्य विषय सौन्दर्य निरूपण एवं चरित्र चित्रण है। योगी के चंगुल से मुक्त कर राजा विक्रमसिंह उस कन्या के सौन्दर्य का विवेचन करते हैं—स्मित कमल के समान नेत्रद्वय वाली, निर्मल सुवर्ण के समान कान्ति वाली, चन्द्र के समान मुख वाली तथा सुधा के समान वाणी वाली इसकी अनुपम सुन्दरता सौभाग्य की भङ्गिमा है—

अस्याः स्मितोत्पलदलं नयनद्वयस्य
कान्तेः सुवर्णममलं वदनस्यचन्द्रः ।
वाचः सुधा रतिरनुत्तररूपलक्ष्म्याः
सौभाग्यभङ्गिमनिशं स्पृहयां बभूव ॥[२]

राजा विक्रमसिंह के चरित्र का वर्णन भी कवि अभयदेव ने वसन्ततिलका छन्द में किया है—

तत्र प्रविश्य च कथंचन ते निगूढाः
पृथ्वीधरे रहसि न प्रहरन्ति यावत ।
तावन्नृपेण रणदक्षतयास्त शस्त्राः
सर्वेऽक्रियन्त महतां न मुधा हि तेजः ॥[३]

अर्थात् छिपे हुए वे लोग किसी तरह वहाँ पहुँचकर एकान्त में पृथ्वीधर पर जब तक प्रहार नहीं करते तब तक राजा के द्वारा रणदक्षता में अस्त्र-शस्त्र वाले कर दिये गये क्योंकि बड़े लोगों का तेज झूठा नहीं होता।

यहाँ पर वीर रस की अभिव्यक्ति का साधन होने के कारण वसन्ततिलका

१. जयन्तविजय, ३/१०२। २. वही, ५/२।
३. वही, ५/२५।

को विशेष उत्कर्ष प्राप्त हुआ है । एकादश[1] सर्ग में वसन्ततिलका का प्रयोग दिग्विजयोपरान्त लौटे हुए जयन्त के स्वागत के उपलक्ष्य में हुआ है । चतुर्दश[2] सर्ग में सम्भवतः वृत्त परिवर्तन करने के लिए ही कवि ने इस छन्द का प्रयोग किया है । षोडश सर्ग में वसन्ततिलका का वर्ण्य विषय स्वयंवर में जयन्त के गले में रतिसुन्दरी द्वारा वरमाला डालने का है—

आकर्ण्य कर्णमधुरामिति वाचमुच्चैः
किंचित्त्रपामरमपास्य नरेन्द्र पुत्री ।
मालां स्वयंवरमहोत्सवसाक्षिणीं तां
श्रीमज्जयन्तनृपतेः क्षिपति स्म कण्ठे ।।[3]

अर्थात् कर्णमधुर उच्चवाणी को सुनकर कुछ लज्जा के भार को दूर कर स्वयंवर महोत्सव की साक्षिणी उस माला को श्री जयन्त के गले में डाल दिया ।

अपि च—

अद्य श्रिया हरिरभाजि विराजतेऽद्य
पाथोपतिः सुरतरङ्गवती सनाथम् ।
देवी शिवा प्रणयिनं हरमद्यलेभे
पुष्पायुधं रतिरवाप किलाधुनैव ।।[4]

अर्थात् आज लक्ष्मी से हरि की सेवा की गयी, आज समुद्र सुरतरङ्गवती (गङ्गा) से सनाथ होकर सुशोभित हुआ, आज भवानी शिवा ने शङ्कर को प्राप्त किया और आज ही निश्चयपूर्वक रति ने कामदेव को प्राप्त किया ।

इस प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य में विविध प्रकार के विषयों का वर्णन कवि अभयदेव ने वसन्ततिलका वृत्त के माध्यम से किया है ।

मालिनी— महाकवि अभयदेव के 'जयन्तविजय' महाकाव्य में मालिनी छन्द महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । इस छन्द की योजना अष्टम (१/६६,७३), नवम (७०), त्रयोदश (१०४, १०५) तथा चतुर्दश (१०७) सर्ग में हुई है । इस छन्द के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का विचार है सर्ग के अन्त में ताल तथा द्रुतगति सुशोभित होती है—

कुर्यात् सर्गस्य पर्यन्ते मालिनी द्रुततालवत् ।[5]

मालिनी छन्द की सगुणता के सम्बन्ध में उनका विचार है कि विशेषतः तृतीय, चतुर्थ चरणों के अन्त में विसर्गहीन होने से मालिनी (छन्द) पूँछ विहीन चमरी गाय एवं पल्लव शून्य लता के समान सुशोभित नहीं होती । द्वितीयार्ध में समस्त पदों वाली मालिनी निम्नकोटि की होती है—

१, २. जयन्तविजय ।
३. वही, १६/८७ ।
४. वही, १६/६१ ।
५. सुवृत्ततिलकम्, १/१६ ।

विसर्गहीनपर्यन्ता मालिनी न विराजते ।
चमरी छिन्नपुच्छेवववल्लीबाल न पल्लवा ॥
द्वितीयार्द्धे समस्ताभ्यां पादाभ्यां मालिनीवरा ।
प्रथमार्द्धे समस्ताभ्यां पादाभ्यां वरा मता ॥[१]

संस्कृत साहित्य के कवियों ने विभिन्न रसों में इसका प्रयोग किया है । कवि अभयदेव ने भी अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में शृङ्गारिक चेष्टाओं एवं युद्धवर्णन आदि भावों का उपनिबन्धन मालिनी छन्द में किया है । यथा—

कुसुममधिरसान्द्रैरावृतं तत्र पत्रैः
परमपरिमलाढ्यं सस्वनं संचरद्भि : ।
मधुकर निकुरम्बैः कः पिबेत्यावचिक्ये
भवति हि मलिनानां संगमो भङ्गहेतुः ॥[२]

यहाँ पर विसर्गयुक्त मालिनी छन्द के प्रयोग के कारण वर्ण्य वस्तु का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठा है । किन्तु कहीं-कहीं मालिनी छन्द में एक भी पद विसर्गान्त नहीं है । यथा

कुवलयदलनेत्रां पक्वनारङ्गनव्य-
त्वगुदितरसधाराक्षेपतो व्याकुलाक्षीम् ।
विदधदथ जयन्तोऽन्यां चुचुम्बे तदग्रे
गुरुरिहचतुरत्वे कामदेवोऽस्य नूनम् ॥[३]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि अभयदेव ने इस सम्बन्ध में किसी नियम का पालन नहीं किया है किन्तु इस छन्द के माध्यम से दोलाविलास, पुष्पावचय, जलकेलि आदि शृङ्गारिक चेष्टाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति की है ।

नवम सर्ग में मालिनी छन्द का वर्ण्य विषय युद्ध के लिए प्रयाण है । सिंहल भूपति हरिराज से युद्ध करने के लिए युवराज जयन्त को जाते हुए देखकर देव समुदाय उन पर पुष्प वृष्टि कर रहा है जो उनकी भावी विजय का सूचक है—

सुर निकर कराब्ज प्रेरिता पुष्पवृष्टिः
समजनि वसुधाया हर्षहास्यप्रभेव ।
तदनुमनुजवृन्दैः श्रूयमाणः स्मितास्यै-
दिवि निरवधिरुच्चैर्दुन्दुभीनांध्वनिश्च ॥[४]

इसी प्रकार चतुर्दश सर्ग में जयन्त की तलवार से महेन्द्र की मृत्यु होने पर आकाश मार्ग से भेरी रव के साथ ही साथ पुष्पवृष्टि हो रही है—

१. सुवृत्ततिलकम्, २/२२-२३ ।
२. जयन्तविजय, ८/२०
३. वही, ८/२१ ।
४. वही, ९/७० ।

अथ सुरपथवल्गद्दिव्य भेरी निनाद-
द्विगुणितकलभृङ्गारावगर्भं नभस्तः ।
शिरसि सुरकराब्जप्रेरितं पुष्पवर्षं
न्यपतदवनिभर्तुर्मङ्गलोद्गार सारम् ॥[१]

इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि कवि अभयदेव ने मालिनी छन्द के प्रयोग में किसी प्राचीन परिपाटी का अनुसरण नहीं किया है किन्तु फिर भी मालिनी छन्द का प्रयोग उनके 'जयन्तविजय' महाकाव्य में अपरिमित काव्य-सौष्ठव का आधान कर रहा है ।

पृथ्वी—पृथ्वी छन्द की योजना 'जयन्तविजय' महाकाव्य के षष्ठ (१०२), अष्टम (७४) तथा षोडश (६५) सर्ग में हुई है । आचार्य क्षेमेन्द्र का पृथ्वी छन्द के विनियोग के सम्बन्ध में कहना है—

साक्षेप क्रोध धिक्कारे परं पृथ्वी भरक्षमा ।[२]

अर्थात् निद्रा और क्रोधपूर्वक तिरस्कार के वर्णन में एकमात्र पृथ्वी छन्द ही तात्पर्यग्राहिणी होता है । उसकी सगुणता के सम्बन्ध में उनका विचार है कि असमस्त और पृथक्-पृथक् पदों के प्रयोग से पृथ्वी छन्द पृथ्वी के समान विशाल प्रतीत होता है किन्तु समास की ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाने से संकुचित होकर अपनी विशालता त्याग देता है । आकार को गम्भीर बना देने वाले ओजो गुणोत्पादक वर्णों के प्रयोग से पृथ्वी छन्द के लिए समास दोषावह नहीं रह जाता प्रत्युत गुणोत्पादक ही हो जाता है—

असमासैः पदैर्भाति पृथ्वी पृथ्वी पृथक स्थितेः ।
समास ग्रन्थिभिः सैव याति संकोचखर्वताम् ॥
पृथ्वी साकार गम्भीरैरोजः सर्जिभिरक्षरैः ।
समास ग्रन्थि युक्तानि याति प्रत्युत दीर्घताम् ॥[३]

कवि अभयदेव के पृथ्वी छन्द इस मान्यता के बिल्कुल विपरीत हैं यद्यपि उन्होंने उसकी सगुणता की ओर अपनी दृष्टि डाली है । उनके 'जयन्तविजय' में पृथ्वी छन्द का वर्ण्य विषय महाकाव्य के नायक का नामकरण संस्कार है—

विशेषविहितश्रियं विविधदानहृष्यज्जनं
स्वबन्धुजनतोचितीकृतचमत्कृतिर्भूपतिः ।
परेऽहनि शुभे सुतं स्वकुलनन्दनंनन्दनं
जयन्त इति संज्ञया द्रुतमलंचकारादृतः ॥[४]

---

१. जयन्तविजय, १४/१०७ ।
२. सुवृत्ततिलकम्, ३/२ ।
३. वही, २/२७-२८ ।
४. जयन्तविजय, ६/१०२ ।

यहाँ पर असमस्त पदावली की योजना होने के कारण पृथ्वी छन्द विशाल प्रतीत होता है।

अष्टम सर्ग में पृथ्वी छन्द का विन्यास अन्य राजाओं द्वारा जयन्त को प्रणाम करने के प्रसङ्ग में किया गया है—

अथैत्य विनमच्छिरो मुकुट कोटिरत्नांकुर-
स्फुरत्किरण कोरकोत्कर करम्बितांघ्रिद्वयम्।
क्षमायुवतिवल्लभैः सकल राजलोकैः समं
स विश्रुत पराक्रमः प्रणयतः प्रणेमे प्रभुः ॥[1]

प्रस्तुत उद्धरण में प्रथम व द्वितीय चरण के अतिरिक्त असमस्त पदावली की योजना होने के कारण छन्द में विशेष प्रवाह दृष्टिगोचर होता है।

मन्दाक्रान्ता—मन्दाक्रान्ता छन्द की योजना 'जयन्तविजय' के तृतीय (६६), षष्ठ (१००), एकादश (६२), द्वादश (६५) तथा षोडश (६४) सर्ग में हुई है। मन्दाक्रान्ता छन्द के सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार कहा है—

प्रावृटप्रवास व्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते।[2]

अर्थात् वर्षा ऋतु, प्रवास तथा व्यवसन आदि के वर्णन में मन्दाक्रान्ता छन्द विशेष शोभा प्राप्त करता है। संस्कृत के अधिकांश कवियों ने मन्दाक्रान्ता छन्द का चयन विप्रलम्भ शृङ्गार के सन्दर्भ में किया है किन्तु मन्दाक्रान्ता के प्रयोग में कालिदास ने विशेष प्रगल्भता प्राप्त की है। 'जयन्तविजय' के षष्ठ सर्ग में मन्दाक्रान्ता छन्द के माध्यम से पुत्र जन्म के अवसर पर चारण द्वारा राजा विक्रमसिंह की प्रशंसा की गयी है। यथा—

एकच्छत्रं विलसति सुखस्याद्य साम्राज्यमुच्चैः
सर्वस्यापि प्रभवति शुभोदर्कसूरिष्टसिद्धिः।
तैस्तैर्भावैर्भुवन सुभगं भावुकैः केन चित्रै-
श्चित्रीयन्ते सुकृतसुलभे त्वत्कुमारोदयेऽत्र ॥[3]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि आचार्य क्षेमेन्द्र की मान्यता के विपरीत कवि अभयदेव ने मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग किया है।

इसी प्रकार—

इत्थं पृथ्वीवलयमखिलं पादमूलेसकृत्वा
कीर्तिस्तम्भस्तबकितपयोराशिवेलावनान्तः।

---

१. जयन्तविजय, ८/७४।		२. सुवृत्ततिलकम्, ३/·१।
३. जयन्तविजय, ६/१०।

कुर्वन्नुर्वीपरिवृढशिरः शेखरम्लानिमुद्य-
तेजः पुञ्जैः स्वनगरमथ श्री जयन्तः प्रतस्थे ॥[1]

यहाँ पर मन्दाक्रान्ता छन्द का वर्ण्य विषय दिग्विजयोपरान्त जयन्त का अपनी नगरी की ओर पुनः वापस आना है। दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वीकार करने के लिए भी कवि अभयदेव ने मन्दाक्रान्ता छन्द का चयन किया है। द्वादश सर्ग में जयन्त जिनबिम्ब के दर्शन कर धर्मसूरि की देशना सुनते हैं और श्रावक धर्म स्वीकार करते हैं

संजातायां तदनु सुगुरोर्देशनायां जयन्तः
शुद्धः श्रद्धाकवचितमनाः स्वाञ्चितं धर्मकर्मा।
प्राप्याक्षीणं निधिमिव मुदामेदुरः सादरोऽयं
जज्ञेऽनन्याभ्युदयसुभगं भावुक श्रीविलासः ॥[2]

अर्थात् इसके बाद जयन्त गुरु की आज्ञा के होने पर श्रद्धा से अवनत होते हुए, शुद्ध धर्म-कर्म करते हुए, अक्षीण निधि की भाँति इस धर्म को पाकर प्रसन्नता से भरपूर सादर भावुक श्री के विलासी अनन्य सुगमता को प्राप्त हुए।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि अभयदेव मन्दाक्रान्ता छन्द के प्रयोग में अपनी पूर्ववर्ती परम्परा के अनुयायी न होकर पूर्णतः स्वतन्त्र हैं।

शार्दूलविक्रीडित—कवि अभयदेव के 'जयन्तविजय' महाकाव्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक बार प्रयुक्त होने के कारण यह कवि का प्रिय छन्द प्रतीत होता है। इस छंद का प्रयोग प्रायः उन्होंने सर्गान्त में किया है किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी प्रयुक्त शार्दूल विक्रीडित छंद वर्ण्य विषयानुरूप होने के कारण अपरिमित सौन्दर्य का आधान कर रहा है। महाकवि क्षेमेन्द्र के अनुसार

शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूलविक्रीडितं मतम्।[3]

अर्थात् राजाओं के शौर्य के स्तवन में शार्दूलविक्रीडित छंद श्रेष्ठ माना गया है।

कवि अभयदेव ने अनेक स्थलों पर क्षेमेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट आदेशों का पालन किया है। इस छंद के माध्यम से विक्रमसिंह की वीरता का वर्णन अवलोकनीय है—

यस्य क्षोणिपतेः प्रतापदहन ज्वालावलीकेलिभिः
सप्ताप्यम्बुधयोऽम्बुबिन्दव इवा शोष्यन्ततेऽपिद्रुतम्।
पूर्यन्ते स्म हतारिराजकवधूनेत्राम्बुपूरैः पुनः
स श्री प्रीतिमतीं प्रियामिव मि (म) हाभोगामभुंक्तक्षमाम् ॥[4]

---

१. जयन्तविजय, ११/६२।
२. वही, १२/५६।
३. सुवृत्ततिलकम्, ३/२२।
४. जयन्तविजय, १/७२।

अर्थात् जिन राजा के प्रतापरूपी अग्नि की ज्वाला के कणों की परम्परा से सप्तसागर भी अम्बुबिन्दु की तरह सूख जाते थे परन्तु वे समुद्र भरे हुए शत्रु राजाओं की मृगनयनियों के अश्रुओं से फिर भर जाते थे। इस प्रकार वे राजा (विक्रमसिंह) प्रीतिमती प्रिया की भाँति महाभोगों से परिपूर्ण पृथ्वी का भोग करते थे।

'जयन्तविजय' महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में शार्दूल विक्रीडित छन्द का वर्ण्य विषय संध्या का मनोहारी चित्रण है। प्रकृति की सुभग शुषमा किसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर लेती। कवि के शब्दों में—रम्भा के समान हावभावमयी, पुण्यजनक वेश्याओं से प्रारम्भ कुतूहल के अद्भुत रस वाले मङ्गलमय वाद्यों से, कर्णों को अमृत के समान आनन्द देने वाली विनम्री राजा के विजयसूचक शब्दों से सायंकालीन सन्ध्या ताराओं को विकसित करने वाली सुशोभित हो रही है—

रम्भाविभ्रमपुण्यपण्यवनितारब्धैः स तूर्यत्रिकै-
मैङ्गल्यैः कृतकौतुकद्भुतरसैः श्रोत्रामृतस्यन्दिनी।
रम्या नम्रनरेश्वरोदित जयारावेण सायंतनी
सन्ध्या तस्य नरेश्वरस्य शुशुभे प्रोल्लासितारत्रिका ॥[1]

एक दिन रात्रि में राजा विक्रमसिंह वेश परिवर्तित कर नगर में परिभ्रमण करते हैं। राजा को एक योगी देवता के समक्ष एक नारी का बलिदान करने के लिए तैयार मिलता है। नारी भय-विह्वल होकर चीत्कार करती है। राजा उस योगी को परास्त करते हैं। पराजित योगी शार्दूल विक्रीडित छन्द द्वारा ही प्रशंसा करता है—

देवस्त्रीवधपाप पङ्कपतन व्यावर्तनेनामुना
त्वं मेऽभूः परिणाम सुन्दरतया तस्यां दयायां गुरुः।
यन्माहात्म्य पुरस्कृतं खलु जनं स्वर्भूभुवः संपदः
सोत्कण्ठं कुचमण्डलेषु रमयन्त्यासप्त सिद्धि श्रियम् ॥[2]

यहाँ पर कवि अभयदेव द्वारा प्रयुक्त शार्दूल विक्रीडित छन्द की योजना विषयानुरूप होने के कारण दर्शनीय है।

इसी प्रकार 'जयन्तविजय' के पञ्चम (७३), सप्तम (७४, ७६), अष्टम (६७, ६८, ७०, ७२) तथा दशम (६९) सर्ग में शार्दूल विक्रीडित छन्द द्वारा विभिन्न वर्ण्य विषयों की योजना हुई है।

त्रयोदश सर्ग में महेन्द्र चक्रवर्ती अपने पुत्र के लिए पवनगति से उसकी पुत्री कनकवती को माँगता है। दूत वहाँ पहुँचकर अपने स्वामी के संदेश को कहता है

१. जयन्तविजय, २/५०। २. वही, ४/६७।

किन्तु उसे जब यह ज्ञात होता है कि जयन्त के साथ उसका पाणिग्रहण पहले ही हो चुका है । इस पर वह अत्यन्त क्रोधित होता है और अपने स्वामी के शौर्य का बखान करता है । विपक्षी की आत्मश्लाघा सुनकर जयन्त का सचिव उसे उत्तर देता है—

> एवं प्रत्यवदज्जयन्तसचिवो नीतिप्रियैः क्षत्रियै-
> र्दूतोऽसीत न वध्यसे स्फुटतरं वध्योऽपि दुर्भाषणात् ।
> यस्त्वं किंतु कुधीरवादयदिदं तं दुर्भदान्मेदुरं
> युद्धे जीवितसंशयं मम विभोर्नेष्यत्यपास्य श्रियम् ॥[1]

अर्थात् जयन्त सचिव ने इस प्रकार कहा कि तुम नीतिप्रिय क्षत्रिय के दूत हो इसलिए दुर्भाषण के कारण बध्य होते हुए भी तुम्हें मारा नहीं जा रहा है किन्तु जिसने दुष्ट बुद्धि वाले तुम दुर्मद से इस प्रकार वचनों को कहलाया है वह युद्ध में जीवन को संशय में डालने वाले मेरे विभु (स्वामी) के सामने राजलक्ष्मी को छोड़ कर नहीं आ सकेगा ।

मन्त्री के इस प्रकार कथन को सुनकर दूत अपने स्वामी महेन्द्र के शौर्य का बखान करता हुआ कहता है कि अनायास ही दिग्विजय से यश को प्रशस्त अक्षरों से अर्जित करने वाले जिन्होंने सभी समुद्रों के किनारे मनोहर स्तम्भ परम्परा को स्थापित किया है उन राजा का तुम अपमान कर रहे हो । वे तुम्हारे शिर कमल को काटकर संग्राम के प्राङ्गण में देवताओं के चरण कमलों पर रखने के लिए शीघ्र आ रहे हैं—

> हेलादिग्विजयार्जितोऽर्जित यशः शस्त प्रशस्ताक्षरै
> रम्यां स्तम्भपरम्परां निहित वान्सर्वाब्धितीरेषु यः ।
> हीलां कारयितुस्त्वदीयनृपतेश्छित्वा शिरः पङ्कजं
> संग्रामाङ्गण देवतांघ्रिकमले प्रक्षेप्तुमभ्येति सः ॥[2]

इस प्रकार कवि अभयदेव ने वर्ण्य विषय एवं रस के अनुरूप ही शार्दूलविक्रीडित छन्द का चयन कर अपनी सारग्राहिणी बुद्धि का परिचय दिया है ।

स्रग्धरा कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' के सप्तम (७७), अष्टम् (६६), दशम् (७०-७१) तथा त्रयोदश (१०२-१०३) सर्ग में स्रग्धरा छन्द की योजना की है । आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार—

> सवेगपवनादीनां वर्णने स्रग्धरा मता ।[3]

अर्थात् स्रग्धरा छन्द का वर्ण्य विषय पवनादि का वेग है । संस्कृत साहित्य

---

१. जयन्तविजय, १३/१११ । २. वही, १३/११२ ।
३. क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम, ३/२२ ।

के अधिकांश कवियों ने स्रग्धरा छन्द का प्रयोग ओजस्वी एवं उत्साहपूर्ण स्थलों पर किया है। इस छन्द के प्रयोग में विशाखदत्त को विशेष प्रगल्भता प्राप्त हुई है। उनका 'मुद्राराक्षस' इस सम्बन्ध में विशेष प्रसिद्ध है। कवि अभयदेव ने अपने जयन्त विजय महाकाव्य में आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट वर्ण्य विषय के अनुरूप ही इस छन्द का प्रयोग किया है। फलतः अष्टम सर्ग में स्रग्धरा को विशेष उत्कर्ष की प्राप्ति हुई है वहाँ पर इसका वर्ण्य विषय प्रातःकालीन पवन के वेग का प्रवाह है। कवि के शब्दों में—

विस्मेराम्भोजराजी मधुरमधुर मधुरस प्रातराशाभिलाषा-
द्यावद्भृङ्गानुयाताः सुरभिसुमनसः पादपान्नर्तयन्तः।
प्रातः शास्त्रेषु मान्या मदननरपतेर्वान्ति वातास्त एते
रत्यन्तक्लान्तवातास्तन तटघटित स्वेद मास्वादयन्तः॥[1]

अर्थात् खिले हुए कमल के मधुर मधु रस के आशा की अभिलाषा से भ्रमरों के द्वारा अनुगमन की जाती हुई, सुगन्धि से सुगन्धित वृक्षों को नर्तन कराती हुई शास्त्रों में माननीय, अत्यन्त क्लान्त वातास्तन तट में उत्पन्न पसीने को सुखाती हुई यह प्रातःकालीन वायु मदन राजा की आज्ञा से प्रवाहित होने लगी।

यहाँ वर्ण्यविषयानुसार छन्दोयोजना होने के कारण उसमें सजीवता है। 'जयन्तविजय' महाकाव्य के युद्ध वर्णन के प्रसंग में भी स्रग्धरा छन्द का विन्यास किया गया है। उदाहरणार्थ निम्न उद्धरण में जयन्त के अप्रतिभ पराक्रम का वर्णन स्रग्धरा छन्द में किया गया है—

छत्रं चिच्छेद तस्य प्रवररिपुजयश्री विलासाशयासो (?)
कीर्त्या सार्धं चकर्त ध्वजमपिच सतां राजवंशावतंसम्।
निर्जीवं चायमस्त्रैर्हरिवि···तपदं कुञ्जरेन्द्रंच चक्रे
तत्राश्चर्यं कबर्यं किमिव न विदधे वैक्रमिर्विक्रमेण॥[2]

प्रस्तुत उद्धरण में छन्द रसानुकूल है। भावाभिव्यक्ति भी अत्यधिक शसक्त है। साथ ही कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दावली भी रस को उद्दीप्त करने में सहायक सिद्ध हुई है।

इसी प्रकार सिंहलभूपति हरिराज तथा जयन्त के घमासान युद्ध का वर्णन भी स्रग्धरा छन्द में किया गया है। कवि की कल्पना में दोनों के अप्रतिम शौर्य को देखकर विजयलक्ष्मी को भी सन्देह हो जाता है कि वह किसका वरण करे

खड्गाखड्गि शराशर प्रभृतिभि र्युद्धप्रकारैर्युधं
कारंकारमपार कौतुकरसं विस्तारयन्तो दृशाम्।

---

१. जयन्तविजय, ८/६६। २. वही, १०/७०।

प्रत्येकं विजयश्रिया रणगुणोत्कर्षापकर्षक्षणे
कं यामीति विमुग्धया प्रतिकलं तौ स्विन्नया ।[१]

तलवार का तलवार से, बाण का बाण से जवाब देने वाले इस प्रकार के युद्ध को करते हुए, अपार कुतूहल रस को दृष्टि के सामने फैलाते हुए उन दोनों के युद्ध के गुणों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष के क्षण में विमुग्ध विजयश्री से किसके पास जाऊँ ? इस तरह परेशान होकर विचारा गया । प्रस्तुत स्थल पर भी वर्ण्यविषयानुसार छन्दोयोजना होने के कारण चारुत्व प्रस्फुटित हो रहा है ।

त्रयोदश सर्ग में स्रग्धरा छन्द का वर्ण्य विषय प्रातःकाल युवराज जयन्त के जागरण हेतु भाट की उक्ति है ।[२] तदनन्तर उनकी निद्राभङ्ग का क्रमशः उल्लेख किया गया है —

इत्थं वैतालिकानां मुख कमल कलोत्ताल कोलाहलेन
स्फूर्जन्मङ्गल्य तूर्यप्रसमरमधुर ध्वानसंवर्गितेन ।
कान्ताविस्तारितुङ्ग स्तनकलशतटाश्लेषसौख्ये निमातः
क्षिप्रं निद्राममुञ्चत्सकलसमयविद्विश्वविश्वैकवीरः ।।[३]

अर्थात् वैतालिकों के मुखारविन्दु की कला के उतावले कोलाहल से और बजने वाले मङ्गलमय वाद्यों के फैले हुए मधुर ध्वनि के वेग से, प्रिया के विस्तृत ऊँचे स्तनकलश के आलिङ्गन के सौख्य में निमग्न, सभी समयों के मूल्य के ज्ञाता उस विश्व के अद्वितीय वीर ने शीघ्र ही निद्रा को छोड़ दिया ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जयन्तविजय महाकाव्य में स्रग्धरा छन्द का प्रयोग वर्ण्य विषयानुरूप है ।

पुष्पिताग्रा पुष्पिताग्रा छन्द का विन्यास जयन्तविजय के सप्तम (७८), एकादश (८६), द्वादश (१-५७) तथा चतुर्दश (१०८,१०६) सर्ग में हुआ है । पुष्पिताग्रा छन्द के सम्बन्ध में यद्यपि कवि क्षेमेन्द ने 'सुवृत्ततिलकम' में कोई संकेत नहीं किया है किन्तु निश्चय ही इस छन्द के द्वारा 'जयन्तविजय' महाकाव्य के सौन्दर्य में वृद्धि हुई है । 'जयन्तविजय' के सप्तम सर्ग के अन्त में कवि द्वारा प्रयुक्त पुष्पिताग्रा छन्द अवलोकनीय है —

इतिबहुविधविस्मयाभिरामा नृपतिनयेन विलोकिता वनश्रीः ।
इयमतिसुमनाः प्रियेण सुभ्रूर्निजमिव रूपफलं समाससाद ।।[४]

कवि अभयदेव ने कहीं-कहीं सर्ग के सार को प्रस्तुत करने के लिए भी इस छन्द का प्रयोग किया है । जयन्तविजय के एकादश सर्ग का वर्ण्य विषय युवराज

१. जयन्तविजय, १०/७१ । २. वही, १३/१०२ ।
३. वही, १३/१०३ । ४. वही, ७/७८ ।

जयन्त की दिग्विजय है। चतुरङ्गिणी सेना के साथ दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते हैं तथा सम्पूर्ण भूमण्डल के राजाओं को पराजित करते हैं। कवि के शब्दों में वनेचर अञ्जलि बाँधकर कुमार जयन्त के सम्मुख स्वयं आकर विविध प्रकार के मणि, सुवर्ण और रत्नदान से उन्हें सन्तुष्ट करते हैं।

प्रणतिलुलित मौलयः पुरस्ताद्द्रुततरमेत्य वनेचराः कुमारम्।
विविधमणि सुवर्ण रत्नदानैः शिरसिकृताञ्जलयोऽथभेजिरे ते ॥[१]

द्वादश सर्ग में पुष्पिताग्रा छन्द का वर्ण्य विषय दिग्विजयोपरान्त मनाये जाने वाले महोत्सव हैं। राजा विक्रमसिंह अपने पुत्र जयन्त की दिग्विजय को सुनकर अत्यन्त हर्षित होते हैं तथा अपने पुर को अनेक प्रकार की रस-भंगिमाओं से भरपूर कर हर्षमय बना देते हैं क्योंकि शत्रुओं के विजय के बाद राजाओं की पुरियों में कौन सी महोत्सव श्री नहीं होती—

बहुविधरसभङ्गिसङ्गि लास्यं निजपुरि वर्धनकं व्यधापयत्सः।
रिपुविजयमनु क्षितीश्वराणां भवति पुरीषु न का महोत्सव श्रीः ॥[२]

कवि अभयदेव ने पुष्पिताग्रा छन्द का प्रयोग सौन्दर्य निरूपण के प्रसंग में भी किया है। उदाहरणार्थ—वह कनकवती के सौन्दर्य का निरूपण करते हुए कहते हैं—कामदेव के सुधा के रसायन स्वरूप उस कनकवती ने तरुण लोगों के नेत्र चकोर के लिए चन्द्रिका की आभा के समान, बढ़े हुए अनेक गुणों के विचित्र सौध के समान सकलविलासमय वय को प्राप्त किया—

कुसुमशर सुधारसायनं सा युवाजन नेत्रचकोरचन्द्रिकाभः।
प्रसृमर गुण चित्र चित्रसौधं सकलविलासमयं वयःप्रपेदे ॥[३]

इसी प्रकार मण्डपारूढ़ जयन्त के सन्दर्भ में भी कवि अभयदेव का कथन है—जनकुमुद समुदाय के लिए कुमुदपति चन्द्रमा के समान, वर्षा ऋतु में उपशान्ति लता के समान तथा कुत्सित विचार वाली गजेन्द्र घटाओं के मध्य केसरी के समान वे चारों ओर से सुशोभित हो रहे थे—

जनकुमुदततेः कुमुद्वतीनां पतिरिव यः परितश्चकास्ति तत्र।
घन समय इवोपशान्तिवल्लेः कुमतकरीन्द्रघटासुकेसरीव ॥[४]

प्रस्तुत सर्ग में धार्मिक उपदेशों का विनियोग भी पुष्पताग्रा छन्द में किया गया है। जयन्त जिनबिम्ब के दर्शन कर धर्मसूरि की देशना सुनते हैं धर्मसूरि जी बतलाते हैं कि सारे प्राणियों के लिए विषयों का सुख प्रथम मधुर तथा परिणाम में भयंकर होता है—

१. जयन्तविजय, ११/८६।
२. वही, १२/२।
३. वही, १२/१४।
४. वही, १२/३६।

विषय सुखमशेषदेह भाजां मुखमधुरं परिणामदारुणं च।
इति विदुरधियामपीह शक्तिर्विलसति मोहमहीन्द्र शासनंहि ॥[1]

विविध प्रकार के विभवों के भोग से बढ़ी हुई तृष्णा प्राणियों के हृदय में सदैव अत्यन्त ताप को उत्पन्न करती है। फलतः निस्पृहता के सुधा रस से उसको शीघ्र ही शान्त करना चाहिए—

विविधविभवभोगभूरितृष्णा ज्वरलहरीव भवावधि प्ररूढा।
जनयति हृदितापमित्यमन्दं प्रशमय निस्पृहतासुधारसैस्ताम् ॥[2]

चतुर्दश सर्ग में पुष्पिताग्रा छंद द्वारा जयन्त के पौरुष का वर्णन किया गया है। वे अपने पुरुषार्थ से खचराधिराज की लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। तदनन्तर अनेक राजा तथा खचरपति अपने अनुजीवियों के साथ उन्हें प्रणाम कर उनकी आज्ञा को स्वीकार करते हैं—

पुरमथ रथनूपुराभिधानं गगनचरैः परिवारितः प्रविश्य।
अभजत निजपौरुषोपनीतामवनिपतिः खचराधिराजलक्ष्मीम् ॥
तदनु विनयवामना नरेन्द्राः खचरपतेरनुजीविनः प्रणम्य।
अवनिपरिवृढं किरीटकोटीघटितकराः शिरसा दधुस्तदाज्ञाम् ॥[3]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि कवि ने विविध प्रकार के विषयों का प्रतिपादन पुष्पिताग्रा छन्द के माध्यम से किया है।

हरिणी जयन्तविजय के द्वितीय सर्ग (५१) में हरिणी छन्द का विन्यास किया गया है। आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार—उदारता के औचित्यपूर्ण वर्णन में हरिणी का प्रयोग प्रभावपूर्ण माना गया है—

औदार्यरुचिरौचित्यविचारे हरिणी वरा।[4]

कवि अभयदेव ने आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा बताये गये वर्ण्य विषय के अनुसार ही हरिणी छन्द का प्रयोग किया है। उन्होंने इस छन्द के माध्यम से उदार राजा द्वारा मन्त्री के सत्कार को व्यक्त किया है। कवि के शब्दों में अत्यन्त यशस्वी, अपने हित को जानने में निष्णात राजा ने शीघ्र ही सब लोगों को छोड़कर राजाओं की सिद्धि में सफल बुद्धि वाले निधिस्वरूप अपने मन्त्री सुबुद्धि का पूजन किया क्योंकि विवेकवान् मन्त्री राजा से गुरु के समान पूजनीय है—

अथ पृथुयशाः सर्वं लोकं विसृज्य स सत्वरं
महीपतिमहासिद्धेः सिद्धावबन्ध्यधियां निधिम्।

---

१. जयन्तविजय, १२/५१।
२. वही, १२/५५।
३. वही, १४/१०८–१०९।
४. क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, ३/२०।

स्वहित विदुरः स्वं मन्त्रीशं सुबुद्धिमपूपुज-
दगुरुरिव यतः पूज्यो मन्त्री नृपस्य विवेकवान् ॥[1]

शिखरिणी—इस छन्द का प्रयोग 'जयन्तविजय' को षष्ठ (६६), नवम् (७२), दशम (७२) तथा पञ्चदश (७६) सर्ग में हुआ है। आचार्य क्षेमेन्द्र इसका वर्ण्य विषय किसी विषय की सीमा का निर्धारण बतलाते हैं—

उपपन्नपरिच्छेदकाले शिखरिणी मता।[2]

जयन्तविजय में इस छंद का प्रयोग युवराज जयन्त के जन्मोत्सव पर राजा विक्रमसिंह द्वारा दिये गये दान के प्रसङ्ग में किया गया है। राजा की दानवीरता को देखकर कोई भाट कह रहा है—

कुरंगैरुत्तुंगै रणदनणुघण्टैः करटिभिः
सुवर्णैः सद्वर्णैर्वसननिकरैः सुन्दरतरैः।
त्वयि स्वैरं वर्षत्यधिप न शिरः केनदुधुवे
विमुच्यैकं क्षोणीभरपरवशं पन्नगपतिम् ॥[3]

अर्थात् हे राजन् ! उत्तङ्ग कुरङ्गों से, बड़े-बड़े घण्टों से युक्त हाथियों से, अच्छे सुवर्णों से, सुन्दर वसनों से तुम्हारे द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक बाँटने से एक मात्र पृथ्वी के भार से दबे हुए शेषनाग को छोड़कर किसका शिर न चकरा गया।

प्रस्तुत स्थल पर शिखरिणी छन्द का प्रयोग वर्ण्य विषयानुरूप होने के कारण मार्मिक भावाभिव्यक्ति हुई है। साथ ही कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दावली भी रस को उद्दीप्त करने में सहायक सिद्ध हुई है।

इसी प्रकार नवम् सर्ग में राजा विक्रमसिंह के यश का वर्णन भी शिखरिणी छन्द द्वारा किया गया है। यहाँ पर कवि की कल्पना चरम सीमा पर पहुँच गयी है—

तव स्फूर्जच्छौर्यप्रभवयशसा चन्द्रमहसा
भृशं शुभ्रीभूतं खकचनिचयं वीक्षितवती।
पलिन्कीत्वभ्रान्त्या कुलितहृदयात्त्रौषधविधेः
शची पृच्छाक्लेशे निपतति मुहुः स्वर्गिभिषजोः ॥[4]

अर्थात् तुम्हारे बढ़े हुए शौर्य के प्रभाव के यश वाले चन्द्र से अत्यन्त शुभ्र होते हुए अपने कच निचय को देखती हुई, बाल पकने की भ्रान्ति से व्याकुल हृदय

१. जयन्तविजय, २।५१।
२. क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलकम्, ३/२०।
३. जयन्तविजय, ७/६६।
४. वही, ६/७२।

वाली शची स्वर्गीय वैद्य अश्वनीकुमारों से औषधि के बार-बार पूछने के क्लेश में पड़ गयी।

यहाँ पर इन्द्राणी को यह भ्रम हो गया है कि कहीं हमारे बाल बुढ़ापे के कारण श्वेत तो नहीं हो गये हैं। इसीलिए उसके हृदय में चिन्ता बढ़ गयी तथा स्वर्ग के वैद्य अश्वनीकुमारों से बालों की सफेदी को दूर करने के लिए उपाय पूछ रही है।

जयन्तविजय के दशम् सर्ग में शिखरिणी छन्द का वर्ण्य विषय जयन्त तथा सिंहल भूपति हरिराज के मध्य युद्ध वर्णन है। सिंहल भूपति जयन्त से कहता है कि तुम मेरी तलवार से बध्य नहीं हो, अभी तुम बच्चे हो। सज्जनों की तलवार बाल-हत्या के लिए नहीं होती। इसलिए मेरी आज्ञा को पाकर इस समय आराम करने के लिए जाओ—

अथ क्लेशावेश प्रसरविरसं सिंहलपति-
जगदैवं वध्यस्त्वमसि मम नासेः शिशुरिति।
सतां निस्त्रिंशोऽपि प्रभवति न हि भ्रूणहतये
प्रपद्याज्ञां तन्मे व्रज निजगृहं रन्तुमधुना ॥[1]

इसी प्रकार पञ्चदश सर्ग में शिखरिणी छन्द का प्रयोग गुरु सुस्थिताचार्य के पूजन के प्रसङ्ग में किया गया है -

मुखालोकैः प्रौढप्रणयसुभगैस्तस्य सुगुरोः
कृतार्थी कुर्वाणो नयननलिने भूपतिरथ।
पदोरर्चा कृत्वा मणि मुकुटि दीप्तांशुकुसुमै-
रलंचक्रे शक्रानुज इव विभूत्या स सदनम् ॥[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है, कि कवि ने वर्ण्य विषय के अनुरूप ही शिखरिणी छन्द का प्रयोग किया है जिसके परिणामस्वरूप भावाभिव्यक्ति अत्यधिक शसक्त है।

इस प्रकार कवि अभयदेव ने एक निपुण शिल्पी की भाँति अपने 'जयन्त-विजय' महाकाव्य में छन्दोयोजना की है। उन्होंने सामान्यतः छन्दों के विनियोग के सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित नियमों का पालन किया है। इसी-लिए एक दो स्थलों के अतिरिक्त सर्वत्र उनकी छन्दोयोजना रसानुकूल एवं विषयानु-रूप है। प्रायः प्रत्येक सर्ग में एक से अधिक छन्दों का कुशलतापूर्वक प्रयोग करके उन्होंने अपनी प्रौढ़ विदग्धता का ही परिचय नहीं दिया है, अपितु उससे उनकी

---

१. जयन्तविजय, १०/७२। २. वही, १५/७६।

सूक्ष्म दृष्टि का भी परिचय मिलता है। कवि ने अपने महाकाव्य में भावों और घटनाओं के अनुरूप ही छन्दों में परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ जयन्तविजय के महाकाव्य के दशम तथा चतुर्दश सर्ग में युद्ध का निबन्धन किया गया है। युद्ध के प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव का प्रकटन कवि ने चुन-चुनकर उपयुक्त छन्दों में किया है। युद्ध की प्रचण्डता अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर शार्दूलविक्रीडित एवं स्रग्धरा छन्द में प्रकटित हुई है। अर्थात् जिस प्रकार उत्साहित योद्धाओं ने अपने अस्त्रों को परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तित करके विमुञ्चित किया है उसी प्रकार कवि ने अपने छन्दों में परिवर्तन करके उस भाव में सजीवता लाने का प्रयास किया है। इस प्रकार 'जयन्तविजय' में सभी छंदों का प्रयोग प्रसङ्गानुकूल होने के कारण भावाभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हुआ है।

पञ्चम अध्याय

'जयन्तविजय' महाकाव्य में वर्णन प्रसंग

'जयन्तविजय' काव्य में वर्णन प्रसङ्ग

कवि किसी वस्तु के वर्णन में सामान्यतः अभिधा और व्यञ्जना इन दो वृत्तियों का आश्रय लेता है। अभिधा वृत्ति के द्वारा वह अपने वाच्य अर्थ की प्रतीति करता है तथा व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा काव्य-प्राण ध्वन्यार्थ की सफल अभिव्यञ्जना करता है। कवि का यह प्रमुख लक्ष्य होता है कि अप्रस्तुत की योजना ऐसी हो जो सर्वसाधारण के चित्त में ऐसे भाव जागृत करे जो भाव उस प्रस्तुत से होने चाहिए, क्योंकि कल्पना की ऊँची उड़ान में पाठक या श्रोता की बुद्धि को प्रस्तुत से हटाकर शून्य में छोड़ देने वाला कवि महाकवि के पद का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः दृश्य वर्णन में अप्रस्तुत की अपेक्षा प्रस्तुत की प्रधानता स्वतः सिद्ध है।

इस प्रकार वस्तु वर्णन कवि की प्रतिभा का रमणीय उपहार कहा जा सकता है तथा महाकाव्य का वास्तविक सौन्दर्य उसी में निहित रहता है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, उपवन, सागर, सम्भोग, विप्रलम्भ, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, प्रस्थान, विवाह, समादि उपाय तथा पुत्र जन्म आदि वस्तुएँ महाकाव्य का वर्ण्य विषय हैं।[1] किन्तु आचार्य दण्डी इसके अतिरिक्त सलिल-क्रीड़ा, मधुपान, रसोत्सव, कुमारोदय वर्णन तथा मन्त्रदूत प्रयाण आदि को भी महाकाव्य का वर्ण्य विषय मानते हैं।[2] इसके अतिरिक्त अन्य उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने भी महाकाव्य में वस्तु वर्णन की अनिवार्यता स्वीकार किया है।[3]

राजशेखर ने काव्य मीमांसा में वस्तु वर्णन को कवि की शक्ति का प्रतिफल माना है।[4] अर्थात् वस्तु वर्णन के मूल में कवि की शक्ति का विस्तार रहता है। उनके अनुसार प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों को ही शक्ति के कर्तृत्व के रूप में स्वीकार किया जा सकता है—"शक्तिः कर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्ति कर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते।"[5] अर्थात् प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही शक्तिजन्य हैं। फलतः दोनों का यथोचित सहयोग वस्तुवर्णन में विद्यमान रहता है। प्रतिभा

---

१. साहित्यदर्पण, ६/३१५-३२४।

२. दण्डी, काव्यादर्श, १/१६-१८।

३. (क) भोजदेव, शृङ्गार प्रकाश, खण्ड २, पृ० ४७६।
   (ख) विश्वनाथ, साहित्यदर्पण ६/३२२।

४. 'यस्तु सरिदद्रिसागरपुरतुरगरथादिवर्णने यत्नः कविशक्ति ख्याति फलो।
—राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय नवम्, पृ० ४५।

५. वही, पृ० ११।

और व्युत्पत्ति में से किसी एक के अभाव में वस्तु वर्णन में सहृदयों को चमत्कृत एवं आकर्षित करने वाली सरसता नहीं आ सकती। अतः प्रतिभा और व्युत्पत्ति इन दोनों के 'मणिकांचन' संयोग द्वारा ही वस्तु वर्णन की काव्यात्मकता का आस्वादन किया जा सकता है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है, कि दोनों का एक साथ होना अनिवार्य है।

यद्यपि वस्तु वर्णन के द्वारा महाकाव्य में सरलता, रमणीयता एवं सौन्दर्य का आधान अवश्य होता है किन्तु इसका अत्यधिक विस्तार रसास्वादन में अवरोधक हो जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है, कि कवि अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा आलाङ्कारिक चमत्कार प्रदर्शित करने में प्रकृत रस की परवाह न करते हुए विपरीत चला जाता है। अतः कविकृत वस्तु वर्णन सरस, संक्षिप्त एवं रसानुकूल होना चाहिए। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में कहा है—

मज्जन पुष्पावचयनसंध्याचन्द्रोदयादिवाक्यमिह।
सरसमपि नातिवहुलं प्रकृतरसानन्वितं रचयेत् ॥[१]

नदी, उपवन, चन्द्र, सूर्य आदि वस्तु वर्णन जड़ पदार्थ है, किन्तु कवि अपनी कल्पना शक्ति का आश्रय लेकर उसे सजीव बना देता है। अतः यह कवि पर निर्भर रहता है, कि वह किसी वस्तु को किस रूप में ग्रहण करता है। राजशेखर के अनुसार—रस वस्तुनिष्ठ न होकर कवि वचन में होता है। इसीलिए कुकवि विप्रलम्भ में से भी रसवत्ता को निकाल देता है—

कुकविर्विप्रलम्भेऽपि रसवत्तो निरस्यति
अस्तु वस्तुषु मा वा भूत्कविवाचिरसः स्थितिः।[२]

राजशेखर ने अपने इस कथन को पुष्ट करने के लिए पाल्य कीर्ति एवं रतिसुंदरी के कथन को भी स्पष्ट किया है।[३] इसके साथ ही साथ उन्होंने, नदी, पर्वत, नगर, अश्व आदि के वर्णन में रसवत्ता को स्वीकार किया है।[४] राजशेखर की भाँति ही भोजदेव ने भी 'सरस्वती कण्ठाभरणम्' में इसी विचारधारा को व्यक्त किया

१. राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय नवम्, पृ० ४५। २ वही, पृ० ४६।
३. 'यथा तथा वाऽस्तु वस्तुनो रुपं, वक्तृ प्रकृति विशेषयत्ता तु रसवत्ता। तथा च यमर्थं रक्तः स्तौतितं विरक्तो विनिन्दसि। मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते' इति पाल्यकीर्तिः।

'विदग्धभणितिभङ्गिनिवेद्य' वस्तुनो रुपं, न नियतस्वभावम्' इत्यवन्ति सुन्दरी तदाह—
४. 'वस्तु स्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रं गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये स्तुवन्निबध्नात्ममृतांश मिन्दुं निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्तः 'उभयमुपपन्नम्' इति यायावरीयः।
—राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ० ४६।

है ।[1] इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है, कि कवि के वस्तु वर्णन की सार्थकता उसके रसवत होने पर ही निर्भर करती है । अतः प्रत्येक कवि को उपर्युक्त विचारधारा को ध्यान में रखते हुए ही प्रयत्नशील होना चाहिए ।

संस्कृत साहित्य में महाकवि अभयदेव का काल वैदुष्य प्रदर्शन का काल था, किन्तु उस समय कवि ने अपने वैदुष्य प्रदर्शन की जगह सरस और सुन्दर भावों की सरल अभिव्यञ्जना करने में ही अपने को कृतकृत्य माना है । महाकाव्य के वस्तु वर्णन में कवि की वृत्ति स्वयं रमी हुई जान पड़ती है । अपने पांडित्य को उन्होंने इस प्रकार काव्यकला से युक्त कर दिया है कि वह बाहर से अतीव कोमल और सरस प्रतीत होता है, उसमें कहीं भी कृत्रिमता और सायाससिद्धता का प्रदर्शन नहीं है । प्रस्तुत अध्याय में कवि अभयदेव द्वारा वर्णित विशेष वस्तुओं की वर्णन शैली की विशेषता को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया जा रहा है ।

जयन्तीपुरी का वर्णन

संस्कृत काव्य की प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में जयन्तीपुरी का वर्णन किया है । कवि अभयदेव की यह विशेषता है कि वे नगर वर्णन के पूर्व उसके द्वीप एवं देश का वर्णन करते हैं । अतः वे यहाँ पर सर्वप्रथम सज्जनों द्वारा विलसित लक्ष्मी वाले, देदीप्यमान सुमेरु पर्वत के समान, प्रदीप्त दीपशिखा के समान तथा सारे द्वीपों के समुद्र में सुधा के समान जम्बूद्वीप को मध्य में स्थित बताते हैं—

मध्येऽखिलद्वीपसमुद्रसौधं चञ्चत्सुवर्णाद्रिशिखावतंस ।
दीप्रप्रदीपप्रतिमोऽस्ति जम्बूद्वीपः सदालोकविलासलक्ष्मीः ॥[2]

उस जम्बूद्वीप के भारतवर्ष नामक क्षेत्र में मगध नामक देश है जहाँ पर सुन्दर अङ्गहारों द्वारा कल्याण परम्पराओं से रात-दिन लक्ष्मी नृत्य किया करती है—

तस्यावतंसे भरताभिधाने क्षेत्रेऽस्ति देशो मगधाभिधानः ।
कल्याणवृन्दै रुचिराङ्गहारैरिवानिशं नृत्यति यत्र लक्ष्मीः ॥[3]

मगध देश की पृथ्वी शस्य-श्यामला है । वहाँ पर गोपाङ्गनाएँ धान्य से लहलहाते हुए खेतों की रखवाली करती हैं । उनके कोकिल कण्ठ से निःसृत ध्वनि पथिकों के मार्ग में बाधा डाल रही है । इसीलिए वे बड़ी कठिनाई से अपना रास्ता तय कर पा रहे हैं । यथा—

---

१. भोजदेव, सरस्वती कण्ठाभरणम्, ५/१३०-३३ । २. जयन्तविजय, १/२५ ।
३. वही, १/२६ ।

यत्राभिरामाणि विशालशालिक्षेत्राणि संरक्षितुमीयुषीणाम् ।
गोपाङ्गनानां मधुरोपगीतैः कृच्छ्राद्युवानः पथियान्ति पान्थाः ॥[१]

इस प्रकार वह देश अपनी चारुता के द्वारा स्वर्ग की चारुता का अपहरण कर रहा है क्योंकि वहाँ की नदियों ने सुरसरि को भी पराजित कर दिया है, वनों ने अपनी सुन्दरता से नन्दनवन को लज्जित कर दिया है तथा पर्वतों ने सुमेरु पर्वत को भी तिरस्कृत कर दिया है। इसी रमणीयता के कारण स्वर्गीय जनों के द्वारा भी सेवनीय है—

विजुष्णुभिर्विष्णुपदीं नदीभिर्वनैः श्रिया ह्रेपितनन्दनैश्च ।
शैलैः सुवर्णाचलदत्तह्रीलैर्यः स्वर्गभाजामपि सेवनीयः ॥[२]

ऐसे उस देश में नाम के अनुरूप जयन्ती नगरी है जिसकी चारुता को देखकर शेषनाग ने भोगावती के तथा इन्द्र ने अमरावती के प्रति प्रेम को छोड़ दिया है—

भोगावतीं भोगपतिः सुरेन्द्रोऽमरावतीं प्रत्यधिकानुरागम् ।
मुमोच चारुत्वमवेक्ष्य यस्याः सा तत्र नाम्नास्ति पुरी जयन्ती ॥[३]

जयन्ती नगरी के विशाल परकोटा का वर्णन करते हुए कवि अभयदेव उत्प्रेक्षा अलङ्कार का प्रयोग करते हैं। उनका कथन है कि साक्षात् कैलाश पर्वत ही यहाँ परकोटा के बहाने आ गया है। यतः यहाँ के पुरवासी भगवान् शङ्कर हैं, नारियाँ पार्वती हैं और बच्चे कुमार कार्तिकेय हैं। अतएव अनुरागवश कैलाश पर्वत का आना स्वाभाविक है—

पौरा महेशाः प्रचुराः कुमारा गौर्यः स्त्रियोऽप्यत्र विनायकाश्च ।
इतीव कैलासनगोऽनुरागादावृत्य यां शालमिषेण तस्थौ ॥[४]

उस पुरी में स्थित भवन भी अत्यन्त ऊँचे हैं क्योंकि महलों में विद्याधरियों के समान निवास करने वाली स्त्रियों के द्वारा रात्रि में कन्दुक लीला से हाथ में इन्दु को पकड़ने की इच्छा की जाती है। ऐसी वह नगरी परिखा से परिवृत्त है। इस परिखा में अमृत तुल्य जल भरा है। कवि उस परिखा में क्षीर सागर की कल्पना करता है। यतः लक्ष्मीपुत्र इस नगरी में निवास करते हैं। वे लक्ष्मीपुत्र इस क्षीर-सागर के दौहित्रों को देखने के लिए ही क्षीर सागर उपस्थित हुआ है—

रम्यावधित्वेन यदीयसालविद्याधरीषु स्थितिमीयुषीभिः ।
विद्याधरीभिर्निशि धर्तुमीहां चक्रे करे कन्दुकलीलयेन्दुः ॥
लक्ष्म्याः स्वपुत्र्याः सततं वसन्त्याः क्षीरार्णवोयत्र दिदृक्षयेव ।
स्नेहातिरेकात्समुपेत्य तस्थौ सुधानिभाम्भः परिखामिषेण ॥[५]

---

१. जयन्तविजय, १/३८।
२. वही, १/३९।
३. वही, १/४१।
४. वही, १/४३।
५. वही, १/४५, ४७।

उस नगरी के सुरमन्दिरों में स्वर्गीय कुतूहल भूली हुई विलास से परिपूर्ण मनोहर मूर्तिवाली वेश्याओं की श्रेणियाँ सुशोभित हैं तथा वहाँ की स्त्रियाँ कमलरूपी नेत्रों से, लावण्यपूर्ण अमृतों से, चक्ररूपी कुचों से सुविलास द्वारा कामदेव के केलि की वापियाँ हैं—

रम्भेव क्लृप्तामित कान्तमूर्तिः पणाङ्गनाली सविलासलास्या ।
विभाति यस्यां सुरमन्दिरेषु विस्मारितस्वः पुरकौतुकेषु ॥
नेत्रैः सरोजैरिव राजमाना लावण्यपूरैरमृतैरिवोच्चैः ।
कुचैश्च चक्रैरिव सद्विलासैर्यत्रत्यरामाः स्मरकेलिवाप्यः ॥[१]

कवि को ऐसे उस नगर में केवल उद्यानवापियों में जड़ता, पक्षियों के घोसलों में प्रिय का वियोग तथा पद्माकरों में ही सूर्य की किरणों का उपमर्दन दिखलाई पड़ता है लोक में नहीं—

उद्यानवापीषु जलाशयत्वं द्विजाश्रयेषु प्रियविप्रयोगः ।
विलोक्यते राजकरोपमर्दः पद्माकरेष्वेव न यत्र लोके ॥[२]

वहाँ पर जिनेन्द्र के हर्म्य के ऊपर सात सोने के बने हुए कलशों पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है । कवि अभयदेव की कल्पना, कि मानो उन कलशों के सौन्दर्य को देखने के लिए ही सूर्य की अनेक मूर्तियाँ अवतीर्ण हुई हैं—

जिनेन्द्रहर्म्योपरि शातकुम्भकुम्भावलीषु प्रतिबिम्बितात्मा ।
अनेकमूर्तिः प्रतिभाति भानुर्यस्याः श्रियं द्रष्टुमिवावतीर्णः ॥[३]

उस नगरी के बाजार मोती, मणि, सुवर्ण, कर्पूर, कस्तूरी, दिव्यवस्त्र आदि जीवनोपयोगी सभी वस्तुओं से परिपूर्ण थे जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन वस्तुओं की उत्पत्ति स्थान हों । कवि का कथन है कि अत्यन्त सुन्दर शरीर वाले देवतुल्य वहाँ के लोग अङ्गराग आदि का सेवन करने से पलक मूँदने के व्याज से ही देवताओं से भिन्न पाये जाते हैं—

भूयिष्ठमुक्तामणिहेमतारैः कर्पूरपूरैर्मृगनाभिपुञ्जैः ।
दिव्यांशुकाद्यैः कलिता पणाली तदाकराकारधरेव यत्र ॥
सुरेशवेषाभरणाङ्गरागवरेण लावण्यतरङ्गिताङ्गः ।
निमेषमात्रेण परं सुरेभ्यो विभिद्यते यत्र जनः समस्तः ॥[४]

इस प्रकार कवि कृत जयन्ती पुरी का वर्णन माघ और श्रीहर्ष से प्रभावित होते हुए भी उनकी भाँति अत्यधिक अतिरंजित अथवा विशद नहीं है और न उन

१. जयन्तविजय, १/४८/४६ ।
२. वही, १/५० ।
३. वही, १/५१ ।
४. वही, १/५३-५४ ।

(कवि अभयदेव) की बहुज्ञता पाण्डित्य प्रदर्शन अथवा दार्शनिक क्लिष्टता की ओर उन्मुख हुई है, अपितु कुछ श्लोकों में उन्होंने उपमा, मालोपमा, श्लेषोपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक एवं भ्रान्तिमान् अलङ्कारों के आश्रय से जयन्तीपुरी का हृदयग्राही चित्र चित्रित किया है।

दोलान्दोलन, पुष्पावचय तथा जलकेलि वर्णन

महाकवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में दोलान्दोलन, पुष्पावचय तथा जलक्रीड़ा का वर्णन भी परम्परागत प्रस्तुत किया है। वसन्त की कामोद्दीपकता जगतप्रसिद्ध है। इस ऋतु में उपवन में झूला डाला जाता है। झूले पर झूलती हुई कामिनियाँ कवि की कल्पना में स्वर्गीय स्त्रियों को देखने का अभ्यास कर रही हैं—

स्वर्णतोरणविलासदोलयान्दोलनैः कृतगतागतैर्मुहुः ।
वीक्षितुं त्रिदिव वामचक्षुषोऽभ्यासभङ्गिमिव कुर्वतोऽङ्गनाः ॥[1]

यहाँ पर कवि ने अतिशयोक्ति के माध्यम से मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति की है। कवि अभयदेव की कल्पना उस समय चरमसीमा पर पहुँच जाती है जब वे कल्पना करने लगते हैं कि नलिनीकान्त सूर्य भी मृगनयनियों के दोलान्दोलन के कौतुक को देखने में आसक्त हो जाता है। अतएव उसके घोड़ों की गति मन्द हो जाती है। फलतः दिन वृद्धि को प्राप्त होने लगते हैं—

काञ्चीकाञ्चन किंकिणीरणरणत्कारापनिद्रस्मरं
दोलान्दोलन कौतुकं मृगदृशामालोक्य लोकोत्तरम् ।
तत्रासक्तमनाः प्रयाति नलिनीकान्तः प्रशान्तैर्हयै-
र्मन्दंमन्दमतीव वृद्धिमधिकां पुष्णन्त्यमी वासराः ॥[2]

अर्थात् काञ्ची की काञ्चन की किंकिणियों की आवाज से समाप्त निद्रा वाला, मृगनयनियों के लोकोत्तर दोलान्दोलन के कौतुक को देखकर वहाँ पर आसक्त मन वाला नलिनीकान्त थके हुए घोड़ों से अत्यन्त मन्द-मन्द जाता है। अतएव दिन अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं।

कवि की कल्पना में स्वर्ग में झूले पर लीलापूर्वक झूलती हुई मृगनयनी गुणों से युक्त कामदेव की चापयष्टि है। इसीलिए कामदेव सेना के साथ वाण लेकर संसार को आसानी से जीतने के लिए अच्छी तरह सफल हो जाता है -

इयमिह हि सलीलान्दोलिता व्योम्नि दोला
सुभग गुण विलासा चापयष्टिः स्मरस्य ।

---

१. जयन्तविजय, ७/४४ ।
२. वही, ७/७४ ।

यदि भवति सबाणा वाणिनीभिः सदासौ
त्रिभुवनमपि जेतुं हेलयालंभविष्णुः ॥[1]

दोलान्दोलन के पश्चात कवि ने पुष्पावचय का वर्णन किया है। कवि के शब्दों में—

त्वरितमथ जयन्तीनाथसूनुः प्रसूना-
वचनविरचनाय प्रेयसी चक्रवालैः।
मधुरवचनवीचिप्रेरितः संचचार
प्रिययुवतिवशे वा किं न यूनां मनांसि ॥[2]

अर्थात् इसके पश्चात् जयन्तीनाथ के पुत्र जल्दी से फूलों के चयन के लिए प्रेयसियों के मधुर वचनों से प्रेरित होकर चलने लगे क्योंकि क्या युवकों के मन प्रिय युवतियों के वश में नहीं होते हैं ? अर्थात् अवश्य होते हैं।

कवि अभयदेव ने प्रस्तुत प्रसङ्ग में शृङ्गारिक चेष्टाओं की भी योजना की है, क्योंकि कोई स्त्री एक पैर लीलापूर्वक पेड़ की मूल में रखकर और कोमल दोनों भुजाओं को स्कन्ध देश में डालकर सरस सुरति केलि के बताये गये मार्ग से प्रियतम के ऊपर की भाँति ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गयी—

चरणकमलमेकं पादमूले सहेलं
मृदुभुजयुगलं च स्कन्धदेशे निवेश्य।
सरससुरतकेलि प्रोक्तमार्गेण काचि-
त्प्रियमिव तरुमुच्चैरारुरोहायताक्षी ॥[3]

उपवन में पुष्पित वृक्षों पर भौंरे गुञ्जार कर रहे हैं। प्रत्येक भौंरा सर्वप्रथम रस का पान करने के लिए पुष्प पर बैठना चाहता है किन्तु आपसी कलह के कारण वह पुष्प टूट कर पृथ्वी पर गिर जाता है। कवि अभयदेव इसका कारण कुसङ्गति का प्रभाव ही बतलाते हैं—

कुसुममधिरसान्द्रैरावृतं तत्रपत्रैः
परमपरिमलाढ्यं सस्वनं संचरद्भिः।
मधुकर निकुरम्बैः कः पिबेत्यावचिक्ये
भवति हि मलिनानां संगमो भङ्गहेतुः ॥[4]

अर्थात् वहाँ पर रस से युक्त पुत्तों से ढके हुए अत्यन्त सुगन्ध से युक्त पुष्प शब्द करते हुए भ्रमर समुदाय के द्वारा 'रस का पान कौन करे ?' इस अभिलाषा से तोड़ डाला गया। सच है, कि मलिनों का साथ विनाश का कारण होता है।

---

१. जयन्तविजय, ८/५।
२. वही, ८/६।
३. वही, ८/१६।
४. वही, ८/२०।

कवि अभयदेव द्वारा वर्णित प्रस्तुत प्रसङ्ग श्रृङ्गार रस के परिपोष में भी सहायक है क्योंकि जयन्त की श्रृङ्गारिक चेष्टाओं का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

कुवलयदलनेत्रां पक्वनारङ्गनव्य-
त्वगुदित रसधाराक्षेपतो व्याकुलाक्षीम् ।
विदधदथ जयन्तोऽन्यां चुचुम्बेतदग्रे
गुरुरिह चतुरत्वे कामदेवोऽस्य नूनम् ॥[१]

अर्थात् इसके पश्चात् किसी नायिका के सामने पकी हुई नारंगी के नवीन वल्कल से निकले हुए रस की धारा के गिराने से उसे व्याकुल नेत्र वाली करते हुए जयन्त ने कमलदल के समान नेत्रों वाली दूसरी का चुम्बन किया। निश्चय ही इस क्रीडा की चातुरी में कामदेव ही इसका गुरु ठहरा।

इसी प्रकार—

कुचकलश नितम्बस्तम्बभारेणनम्रा-
स्खलितगतिपदाब्जा बालवृक्षात्पतन्ती ।
त्वरितमथ भुजाग्रे कापि कान्तेन दध्रे
धुरितु सुभगकान्ता चक्रवालस्य बाला ॥[२]

अर्थात् स्तन रूपी कलश और नितम्ब के समूह के भार से नम्र लड़खड़ाते हुए कमल रूपी पैर वाली बाल वृक्ष से गिरती हुई किसी नायिका को प्रिय ने दौड़कर जल्दी हाथों में ले लिया। यह बाला वास्तव में सौभाग्यवती स्त्रियों में अग्रगण्य थी।

इसके पश्चात् स्त्रियाँ शीघ्र ही सुगन्ध से युक्त फूलों को तोड़कर पेड़ों से नीचे उतर आयीं। उनके बजते हुए पायल मानो यह कह रहे थे कि कुस्थित वैभव का नाश क्या नहीं होता अर्थात् अवश्य होता है—

उदतरदवचीयस्त्रैणमाशु द्रुमेभ्यः
कुसुमपटलि माढ्यं भावुकं सौरभेण ।
व्रजति किमु न नाशं वैभवं कुस्थिताना-
मिति वददिव नादैर्मञ्जुमञ्जीरकाणाम् ॥[३]

पुष्पावचय के अनन्तर कवि ने जलकेलि का वर्णन भी प्रस्तुत किया है। यह वर्णन अनेक स्थलों पर पूर्वाचार्यों यथा—कालिदास, माघ तथा भारवि के जल-

१. जयन्तविजय, ८/२१।
२. वही, ८/२३
३. वही, ८/२५।

क्रीड़ा वर्णन के प्रसङ्गों से साम्य रखता है। साथ ही काव्य में शृङ्गार के सुष्ठु परिपोष में भी सहायक सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ—रमणियों के जल प्रवेश का निम्नलिखित वर्णन प्रस्तुत है—

मधुरसविभवेन स्पर्द्धते नो धराग्रै-
रुणिमसुकुमारत्वेन पाणिप्रवालैः।
कमलवनमितीवासूय योत्पाटयन्ती-
रविशदथ जयन्तस्ताः पुरस्कृत्य तत्र ॥[1]

अर्थात् मधुरस के विभव के द्वारा यह कमल हमारे अधरों से स्पर्धा करते हैं तथा अरुणिमा और सुकुमारता के द्वारा प्राणि प्रवाल से स्पर्धा करते हैं। इसी लिए कमलवन को अत्यन्त ईर्ष्या से उखाड़ती हुई उन स्त्रियों को आगे करके जयन्त ने प्रवेश किया।

अपि च—

मधुभिरिव विवृद्धैः पुण्यलावण्यपूरै-
रलिभिरिव विलोलैर्लोचनैश्चाप्तशोभैः।
पयसि विदधुरास्यैः कण्ठदघ्नेतदानी-
मपरकमलखण्डाडम्बरं तास्तरुण्यः ॥[2]

अर्थात् बढ़े हुए पुण्य लावण्य से मधु की भाँति और चञ्चल नेत्रों की शोभा से भ्रमरों की भाँति तरुणियों के मुखों ने कण्ठ तक जल भरे होने के कारण दूसरे कमल वन के आडम्बर को धारण किया।

यहाँ पर तरुणियों के मुखों को कमल की भाँति बताया गया है क्योंकि यदि कमल पराग युक्त होते हैं, तो उनके मुखों में अपरिमित लावण्य है। कमलों पर भ्रमर गुञ्जार करते हैं, उनके नेत्रों में भ्रमरों की कान्ति है। कमल सदैव जल के ऊपर रहता है, उसी प्रकार उनका मुख जल के ऊपर है। फलतः उनका मुख दूसरे कमल वन के आडम्बर को धारण कर रहा है।

जलक्रीड़ा का एक अन्य रमणीय चित्र भी उपस्थित है -

तरति हृदि वहन्ती विश्वविश्वंभराया
भरमपि भुजदण्डैर्बिभ्रतं प्राणनाथम्।
सरसि जलमगाधं कापि कान्ता न चित्रं
पृथुतरकुचतुण्डीडम्बरालम्बना हि ॥[3]

अर्थात् विश्व का भरण-पोषण करने वाली पृथ्वी के भार को भुजदण्डों में धारण करने वाले प्राणनाथ को हृदय में वहन करती हुई कोई स्त्री अगाध जल

१. जयन्तविजय, ८/३५।
२. वही, ८/३६।
३. वही, ८/४०।

वाले तालाब को तैर जाती है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि बड़े कुचों की तुण्डी का आडम्बर ही इसका अवलम्बन है।

यहाँ पर यह बतलाया गया है, कि वह नायिका अपने हृदय में अपने प्राणनाथ को धारण करती है तथा उसके प्राणनाथ ने सम्पूर्ण पृथ्वी के भार को धारण किया है। अतः उसका शरीर भारी हो जाता है। फलतः वह आसानी से तैर नहीं सकती है किन्तु उसके बड़े कुचों की तुण्डी का आडम्बर उसके तैरने में सहायक बन जाता है और वह आसानी से तैर जाती है।

इस प्रकार जयन्तविजय में वर्णित दोलान्दोलन, पुष्पावचय तथा जलकेलि वर्णन रस एवं वर्णन निपुणता की दृष्टि से उत्कृष्ट है। कवि अभयदेव ने अपनी प्रतिभा तथा वर्णन कौशल की चातुरी द्वारा मार्मिक भावनाओं का चित्रण उपस्थित किया है।

प्रयाण वर्णन

महाकवि दण्डी के अनुसार महाकाव्य में युद्धार्थ प्रस्थान भी वर्णनीय है।[1] इसलिए कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य के नवम, दशम, एकादश तथा चतुर्दश सर्ग में युद्धार्थ सेनाओं के प्रस्थान का वर्णन किया है। प्रस्तुत वर्णन परम्परागत है। संस्कृत साहित्य के प्राचीन कवियों ने युद्धार्थ राजाओं के प्रस्थान के समय जिस प्रकार कोलाहल, रणभेरी की ध्वनि, अश्वखुरों से उड़ती हुई धूलि एवं सेना की भीषणता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है उसी प्रकार का वर्णन इस महाकाव्य में दृष्टि गोचर होता है। यह वर्णन 'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघु के दिग्विजय के लिए प्रस्थान, 'नैषध' के प्रथम सर्ग में वर्णित नल के प्रस्थान तथा 'शिशुपालवध' के द्वादश सर्ग में वर्णित श्री कृष्ण के प्रयाण का स्मरण कराता है तथापि वर्णन-कौशल तथा कल्पना-चातुरी की दृष्टि से वर्णन सर्वथा मौलिक है।

कवि अभयदेव ने प्रयाण के अवसर पर सर्वप्रथम सेना की भीषणता तथा रणभेरी के शब्द का वर्णन किया है। उदाहरणार्थं एक श्लोक प्रस्तुत है—

> विश्वंभराभारभराय भूयस्तथा स्वसैन्यैरभवत्कुमारः।
> फणैरशेषैरपि शेषराजो यथावनम्रैः कथमप्यधत्ताम्॥[2]

अर्थात् उस समय कुमार (जयन्त) अपनी सेनाओं से पृथ्वी के भार को बढ़ाने वाले हुए तथा झुके हुए अशेष कणों से शेषराज भी किसी प्रकार पृथ्वी के भार को धारण कर सके।

---

१. काव्यादर्श, १/१७।
२. जयन्तविजय, १०/१३।

इसी प्रकार रणभेरी का वर्णन करते हुए कवि अभयदेव कहते हैं—

रमाकुचस्पर्शसुखेन शायिनं मुकुन्दमप्यम्बुनिधौ विविप्रयन् ।
निदेशतो विक्रमसिंह भूपतेः प्रयाणभेरीध्वनितं ततोऽभवत् ॥[१]

अर्थात् इसके पश्चात् विक्रमसिंह के आदेश से समुद्र में रमा के कुच के स्पर्श से सुखपूर्वक शयन करने वाले मुकुन्द को भी विकृत करते हुए प्रयाण की भेरी ध्वनित हुई ।

यहाँ पर अतिशयोक्ति के माध्यम से कवि की कल्पना शक्ति व्यक्त हुई है । शेषनाग भी सेनाओं के भार से बोझिल पृथ्वी को धारण करने में समर्थ न हो सके । इसीलिए झुककर उन्होंने किसी प्रकार उसके भार का वहन किया तथा प्रयाण की भेरी की ध्वनि से जब समुद्र में निवास करने वाले भगवान् विष्णु भी शयन न कर सके तो सामान्य व्यक्ति के लिए कहना ही क्या ? इस प्रकार यहाँ पर सेना तथा ध्वनि की भीषणता व्यक्त हुई है ।

प्रयाण के अवसर पर रणभेरी के शब्द का वर्णित एक अन्य स्थल भी अवलोकनीय है ।

भेरीरवस्तत्र समुल्ललास तथा यथा ध्यानजुषां मुनीनाम् ।
स संभ्रमाणां करपङ्कजेभ्यो द्रुतं निपेतुः स्फटिकाक्षमालाः ॥
तत्रैककालं परिवाद्यमान निश्वान भेरी पटह प्रणादैः ।
संस्थापिता सारथिना त्रसन्तः कथं कथंचित्तरणेस्तुरङ्गाः ॥[२]

अर्थात् वहाँ पर उस प्रकार भेरी-रव सुनायी पड़ा कि जिससे ध्यानलीन मुनियों के करकमलों से शीघ्र हो स्फटिक अक्षमाला गिर पड़ी तथा एक ही समय में बजने वाली शब्दपूर्ण भेरी तथा पटः की ध्वनि से डरे हुए सूर्य के घोड़े किसी प्रकार से सारथी के द्वारा रोके जा सके ।

मुनियों की ध्यानमग्नता सर्वविदित है, किन्तु जब उनके हाथ से भी भेरी-रव सुनकर अक्षमाला छूट गयी तो वहाँ पर उस समय उपस्थित मनुष्यों पर उस ध्वनि का क्या प्रभाव पड़ा होगा ? इसी प्रकार जब सूर्य का सारथी भेरी तथा पटः की ध्वनि से डरे हुए घोड़ों को बड़े प्रयत्न से रोक पाया तो यहाँ के घोड़ों तथा सारथियों की क्या दशा हुई होगी ? इस प्रकार प्रस्तुत स्थल पर भी ध्वनि की भीषणता व्यक्त हुई है ।

प्रयाण के अवसर पर मुहूर्त का सम्यक् विचार भी लोक-विश्वास पर आधारित है । इसी लिए शकुन तथा अपशकुन का महत्त्व संस्कृत कवियों के महाकाव्यों

१. जयन्तविजय, ६/५६ ।
२. वही, १४/६,११ ।

में परिलक्षित होता है । कवि अभयदेव भी इसी भावना से प्रभावित है । उनका कहना है—

तथाप्यवज्ञाय तदीयमन्त्रितं प्रयाणमाधत्त मदोद्धतस्ततः ।
अरिष्टसंसूचित मृत्युरप्यसौ विलंघ्यते कैर्भवितव्यताथवा ।।[१]

अर्थात् मदोद्धत राजा ने मन्त्रियों की मन्त्रणा की अवहेलना कर प्रस्थान किया यद्यपि उसे अरिष्टों की सूचना से मृत्यु की संभावना हो रही थी अथवा भवितव्यता को किसके द्वारा भेजा जा सकता है ।

प्रयाण के अवसर पर राजा के अश्वों का वर्णन भी अनेक श्लोकों में किया गया है । यह वर्णन नैषध में किये गये नल के अश्व-वर्णन का स्मरण दिलाता है—

तुरङ्गमास्तस्य चतुःसमुद्रीं रजः समाजैः स्थलतां नयन्ति ।
खुरोद्धतैर्दातुमिवावकाशमपारनासीर परं पराणाम् ।।
मत्तोऽधिकं तच्छिबिरं ह्लियेति विस्तार्यपिव्योम तदाविलम्बम् ।
लीनं तदीयाश्वखुरोत्थधूली पटीकुटीकोटरकोणकोटौ ।।[२]

अर्थात् मानो उसके घोड़े खुरों से उड़ाई गयी धूलि से सेनाओं की परम्परा को अवकाश देने के लिए चारों समुद्रों को स्थल बना रहे हैं । 'मुझसे बढ़कर इसके शिविर हैं' इस लज्जा से लज्जित होकर आकाश शीघ्र उसके घोड़ों के खुरों से उड़ाई गयी धूलि के पट के कुटी के कोटर में क्रोड में लीन हो गया ।

यहाँ पर घोड़ों के खुरों से उड़ाई गई धूलि से समुद्र स्थल बन गया है तथा आकाश लज्जित होकर छिप गया है । अतः उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा भावी विजय प्राप्ति रूप वस्तु ध्वनित हो रही है ।

सेना की भीषणता का वर्णन करते हुए भी कवि का कथन है, कि सम्पूर्ण जल का शोषण करने वाली सेना के उपस्थित होने पर क्षारता ही समुद्र के जल की रक्षिका हुई । इसीलिए समुद्र ने उस क्षारता की ही स्तुति की

उपस्थितोऽपि मशोषे पानह्यरस्य सैन्यतः ।
रक्षिका क्षारतैवेति तुष्टुस्तांतुष्टुवेऽम्बुधिः ।।[३]

यहाँ पर हेतु अलङ्कार है, क्योंकि समुद्र के जल की रक्षा उसकी क्षारता के कारण हुई है । अन्यथा सेना के जलपान के कारण समुद्र सूख जाता है । इस प्रकार कवि ने अतिशयोक्ति के माध्यम से सेना की विशालता को प्रदर्शित किया है ।

---

१. जयन्तविजय, ६/५२ ।
२. वही, १०/७,१० ।
३. वही, ११/१४ ।

इस प्रकार कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रयाण वर्णन प्रस्तुत किया है, जो कि काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।

युद्ध-वर्णन

महाकवि अभयदेव द्वारा विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य में युद्ध-वर्णन का भी विशेष महत्त्व है, क्योंकि इस महाकाव्य का अङ्गीरस वीर है। इसमें चार स्थलों पर युद्ध का सजीव चित्रण किया गया है। सर्वप्रथम चतुर्थ सर्ग में राजा विक्रमसिंह तथा एक योगी के मध्य में युद्ध वर्णित है। दूसरे, दशम सर्ग में सिंहलभूपति हरिराज तथा विक्रमतनय जयन्त के मध्य में। तृतीय, युद्ध का स्थल युवराज जयन्त का दिग्विजय के लिए प्रस्थान है। वह मार्ग में कलिङ्ग, केरल, पाण्ड्य, काञ्ची नरेश, कर्णाटक नरेश तथा हूण राजाओं पर विजय प्राप्त करता है। इसके पश्चात् युद्ध का चतुर्थ स्थल चतुर्दश सर्ग है, इसमें महेन्द्र चक्रवर्ती तथा जयन्त के मध्य युद्ध का वर्णन किया गया है। कवि द्वारा प्रस्तुत युद्ध वर्णन वीर रस के साथ ही भयानक, वीभत्स तथा रौद्र रस की अभिव्यक्ति में भी सहायक सिद्ध हुआ है। यह वर्णन इतना सुन्दर एवं सजीव है, कि ऐसा प्रतीत होता है कि कवि स्वयं ही प्रत्यक्ष युद्ध का द्रष्टा रहा होगा अन्यथा इस प्रकार का सजीव चित्रण करने में वह कैसे समर्थ होता? कवि के शब्दों में युद्धस्थल यमराज की संगीतशाला है, क्योंकि युद्धस्थल में रथ के पहिये से उत्पन्न ध्वनि ही वाद्य है, हाथियों का चिङ्घाड़ना ही कण्ठनाद है तथा मारे गये वीरों के कबन्ध ही नर्तक हैं—

रथाङ्गधीरध्वनिनादमुद्यत्प्रहारकूजत्करिकण्ठनादम् ।
नृत्यत्कबन्धं समराङ्गणं तत्कृतान्तसंगीततुलांप्रपेदे ॥[1]

यहाँ पर उपमा अलङ्कार है, क्योंकि युद्धस्थली को यमराज की संयीत शाला के सदृश बताया गया है। संगीतशाला में वादक वाद्य बजाते हैं। यहाँ पर रथ के पहिये से उत्पन्न गम्भीर ध्वनि ही वादक का वाद्य है। वहाँ पर गायक राग का मधुर कण्ठ से अलाप करते हैं। यहाँ हाथियों के कण्ठ से निःसृत आवाज ही कण्ठनाद है तथा सङ्गीतशाला में जिस प्रकार नर्तक नृत्य करते हैं। उसी प्रकार युद्धस्थल में तलवार से खण्डित वीरों के कबन्ध नृत्य कर रहे हैं।

कवि अभयदेव की कल्पना उस समय चरम सीमा पर पहुँच जाती है जब वह भयंकर युद्ध को देखकर यह कल्पना करने लगते हैं कि महावत मानो यमराज को प्रसन्न करने के लिए वीरों की भेंट चढ़ा रहे हैं। कवि के शब्दों में—

---

१. जयन्तविजय, १४/७०।

गजेन्द्रात्क्षेपितैर्वीरैः स्वैरमाधोरणाबभुः ।
प्रीतये प्रेतनाथस्य प्रस्तुतोपायना इव ॥[१]

अर्थात् हाथियों से स्वतन्त्रतापूर्वक गिरते हुए वीरों द्वारा महावत यमराज की प्रसन्नता के लिए उपायन (भेंट) प्रस्तुत करते हुए प्रतीत हो रहे हैं।

इसी प्रकार—

आधोरणैस्तीव्ररुषः प्रयुक्ताः करैः प्रवीरान्करिणोऽभिगृह्य ।
चक्रुः समाक्रम्य वपुः पदाभ्यां शिरः सरोजैर्बलिमन्तकाय ॥[२]

अर्थात् महावतों से प्रेरित अत्यन्त क्रोधी हाथी अपने शुण्डदण्डों से वीरों को पकड़कर पैर से शरीर को दबाकर उसके शिर कमलों से यमराज के लिए बलि दे रहे हैं।

इन दोनों श्लोकों में वर्णन साम्य है, क्योंकि कवि ने एक ही भाव को दो स्थलों पर व्यक्त किया है। प्रथम श्लोक में यदि महावत यमराज को प्रसन्न करने के लिए वीरों की भेंट चढ़ा रहे हैं तो द्वितीय श्लोक में महावतों से प्रेरित क्रोधी हाथी अपने शुण्डदण्डों से वीरों के शिरों को कमल की भाँति यमराज के लिए भेंट स्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं।

युद्धस्थल में प्रयुक्त होने वाले विविध प्रकार के आयुधों का वर्णन भी प्रस्तुत महाकाव्य में किया गया है—

नाराचबाणासिभुसण्डिभल्ली चक्रार्धचक्रप्रमुखास्त्र शस्त्रैः ।
भूमण्डली खण्डितवीरमुण्डमालाकुलालोहितपङ्किलाभूत् ॥[३]

अर्थात् वहाँ की भूमण्डली तरकस से निकले हुए वाण, असि, भुसुण्डि, भल्ली, चक्र और अर्धचक्र इत्यादि अस्त्र-शस्त्रों से कटे हुए वीरों की मुण्डमाला से भर कर रक्त से लाल कीचड़ काली हो गयी। इन आयुधों के अतिरिक्त तुमुल[४], तोमर[५], गजास्त्र[६], पञ्चाननास्त्र[७], शरभास्त्रः[८], आग्नेयमस्त्र[९], पाथोधरास्त्र[१०], वायव्यमस्त्र[११], पवनाशनास्त्र[१२], पत्ररथेन्द्रसंज्ञम्[१३], तिमिरास्त्र गुञ्जामुखम्[१४], प्रद्योतनास्त्र[१५],

---

१ जयन्तविजय, ११/६६।
२. वही, १४/६६।
३. वही, १०/४३।
४. वही, १०/३६।
५. वही, १०/६५।
६. वही, १४/७८।
७. वही, १४/८०।
८. वही, १४/८२।
९. वही, १४/८४।
१०. वही, १४/८६।
११. वही, १४/८८।
१२. वही, ११/९०।
१३. वही, १४/९२।
१४. वही, १४/९४।
१५. वही, १४।९६।

तथा त्रिपुरान्तकास्त्र,[१] का प्रयोग भी जयन्तविजय महाकाव्य में मिलता है। जिससे तत्कालीन शस्त्रास्त्रों के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है।

युद्ध वर्णन के प्रसङ्ग में कवि अभयदेव ने गजयुद्ध तथा अश्वयुद्ध के साथ ही साथ रथ युद्ध का भी सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है जो वास्तविकता पर आधारित प्रतीत होता है—

योधेप्रसिद्धैर्युयुधेरिसौधैः सहाश्ववारैः सममश्ववारैः ।
रथि प्रवीरैरथिकैश्च सार्धं समानकक्षैर्जयबद्धलक्षैः ॥[२]

अर्थात् प्रसिद्ध शत्रुओं के साथ शत्रु, असवारों के साथ असवार और रथी के साथ रथी समान कक्ष में जय के लक्ष्य को बाँधते हुए युद्ध में डट गये।

रथ युद्ध का एक अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत है—

प्रमादिनं वीक्ष्य विपक्षवीरमरातिसूतः प्रयतः प्रहर्तुम् ।
तदीयनिस्त्रिंशहतोरुयुग्मः सद्यः प्रपेदेऽरुणसारथित्वम् ॥[३]

अर्थात् शत्रु के सारथी ने विपक्षी वीर को मारने वाले प्रमादी को देखकर उसके शस्त्र से कटी हुई दोनों जाँघ के कारण शीघ्र ही अरुण के सारथित्व को प्राप्त किया। तात्पर्य यह है, कि सूर्य का सारथी पैरों से रहित है उसी प्रकार इस सारथी को भी विपक्षी शत्रु ने अपनी तलवार द्वारा पैरों से रहित कर दिया।

युद्धभूमि में भी सेनाओं की अनन्तता के कारण सर्वत्र अन्धकार व्याप्त है। उस अंधकार में दिखायी न पड़ने के कारण वीरों के अस्त्रों के परस्पर टकराने से चिनगारियाँ उठ रही हैं, किन्तु कवि अभयदेव की कल्पना में वह चिनगारियाँ चिनगारियाँ नहीं हैं अपितु वीरों को देखने के लिए विजय लक्ष्मी ने मानो दीपक जलाया है—

परस्परास्त्रसंघट्टाद्रेक्षुरग्निस्फुलिङ्गकाः ।
वीरैर्विलोकनायेव कृता दीपा जयश्रियः ॥[४]

अर्थात् आपस में अस्त्रों के संघर्षण से उत्पन्न होने वाली अग्नि की स्फुलिङ्गों के बहाने से जयश्री ने वीरों को देखने के लिए मानो दीपक जलाया।

युद्धस्थल में वीरों की तलवार के प्रहार से गिरने वाली गजमुक्तावली का भी कवि ने सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ श्लोक प्रस्तुत है—

भटस्य कस्यापि बभौ शितासिभिन्नेभकुम्भोच्छलितापतन्ती ।
मुक्तावली मूर्द्धनि पुष्पवृष्टिर्मुक्तेवदेवैरवदान तोषात् ॥[५]

अर्थात् किसी वीर के शिर पर तीक्ष्ण तलवार से काटे गये गजमस्तक से

---

१. जयन्तविजय, १४/१०६।
२. वही, १०/४०।
३. वही, १४/५४।
४. वही, ११/७०।
५. वही, १०/४२।

उछलकर गिरी हुई मुक्तावली दान से तुष्ट देवताओं के द्वारा छोड़ी गयी पुष्पवृष्टि के समान सुशोभित हुई।

युद्ध में सैनिकों की वीरता के सम्मुख पराजित होकर पलायन करती हुई शत्रु सेना का कितना सुन्दर व सजीव वर्णन निम्नलिखित श्लोक में हुआ है—

असीम संग्राम महार्णवेषु पारीणतां येऽपि ययुः प्रवीराः।
कल्पान्तवातैरिव तस्य शस्त्रैर्विनिन्यिरे तेऽपि दिशांमुखेषु ॥[1]

अर्थात् असीम संग्राम युद्ध में जो भी वीर विजेता थे वे भी महाप्रलय-कालीन वायु के समान उसके शस्त्रों से दिशाओं के मुखों में पहुँचा दिये गये (अर्थात् भाग निकले)। यहाँ पर वीरों के शौर्य का वर्णन किया गया है जिसके परिणाम-स्वरूप विपक्षी वीरों को समराङ्गण छोड़कर भागना पड़ा। इसी प्रकार कवि अभयदेव द्वारा वर्णित द्वन्द्व युद्ध का चित्र भी अत्यन्त सजीव बन पड़ा है। उदाहरणार्थ राजा विक्रमसिंह तथा योगिराज के मध्य होने वाले मल्लयुद्ध का वर्णन द्रष्टव्य है—

अपहृतासि पराभवकोपितस्तदनु योगिपतिः कृतसाहसः।
चिरमयुध्यत मल्लयुधा क्रुधा नृपतिना सहदुःसहतेजसा ॥[2]

अर्थात् इसके बाद तलवार को छीनने के पराभव से क्रुद्ध साहसी योगपति ने क्रोध से अत्यन्त पराक्रमशाली राजा के साथ मल्लयुद्ध किया।

इस प्रकार कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में युद्ध का सजीव चित्रण उपस्थित किया है।

सूर्यास्त वर्णन

कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में सूर्यास्त का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। सूर्यास्त का वर्णन कवि सम्प्रदाय सिद्ध प्रसिद्ध प्रतीकों, सूर्य और कमलिनी, भ्रमर और नलिनी एवं चक्रवाक और चक्रवाकी का आश्रय लेकर उत्प्रेक्षा, उपमा एवं रूपक आदि अलङ्कारों के माध्यम से किया गया है। वर्णन परम्परा शैली में उपनिबद्ध होते हुए भी माघ और श्रीहर्ष की अतिरंजित शास्त्रीय बहुज्ञता, पौराणिक व्युत्पत्ति, श्लेष और यमक की क्लिष्टता से शून्य होने के कारण सरल, स्वाभाविक एवं काव्यत्व से परिपूर्ण है। दिवस भर तपनत्व का विस्तार करने के पश्चात् सूर्य अस्ताचल की ओर गमनशील हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में कवि ने एक अत्यन्त सरस परिकल्पना की है। दिन के अन्त में सूर्य भगवान् का मण्डल निश्चय ही अस्ताचल को प्राप्त हुआ क्योंकि काल के परिणाम को प्राप्त करने वाले की स्थिति इसी प्रकार अत्यन्त दुःखदायिनी होती है क्योंकि उच्च पद वाले की स्थिति भी स्थिर नहीं होती।

१. जयन्तविजय, १०/६२। २. वही, ४/५८।

दिनावसाने दिनरत्नमण्डलं निपातमाप द्रुतमस्तभूभृतः ।
दुरत्ययं कालविपाकमीयुषः स्थितिः स्थिरा नोच्चपदश्रियोऽपिहि ॥[1]

सूर्य मण्डल के अस्त हो जाने पर दिन भी अस्त हो जाता है क्योंकि अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी अत्यन्त निर्मल हृदय वाला कोई व्यक्ति कृतज्ञता को नहीं छोड़ता । इसीलिए सूर्य से उन्नति को प्राप्त दिन उसके साथ ही अस्तता को प्राप्त होने लगा—

निजासु (जांशु) नाशेऽपि नितान्त निर्मलः कृतज्ञतां मुञ्चति नैव कश्चन ।
समुन्नतिं भानुमताधिरोपितः सहैव तेनास्तमियाय वासरः ॥[2]

काल कुचक्र में पड़ जाने के कारण भी तेजस्वी हतप्रभ नहीं होते । कवि अभयदेव ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति के द्वारा इसी भावना को व्यक्त किया है । उनका कहना है कि जो सूर्य पहले उदयाचल पर्वत पर मौलिमाणिक्य की कान्ति के समान, इसके पश्चात् आकाश गङ्गा में स्वर्ण कमल के समान सुशोभित था वही अब पश्चिमी गिरि की लक्ष्मी के भाल में तिलक बिन्दु के समान प्रतीत हुआ क्योंकि अन्तः में प्रभा रखने वाला शरीरधारी (सूर्य) कहाँ मण्डन का कारण नहीं बनता —

प्रथममुदय शीले मौलिमाणिक्यकान्ति-
स्तदनु गगननद्यां स्वर्णपद्मोपमोऽभूत् ।
रविरपर गिरिश्रीभालकालेय बिन्दु-
द्युतिरथ वमुरन्तः स्फु क्व नो (?) मण्डनाय ॥[3]

सन्ध्या वर्णन

संस्कृत साहित्य के अन्य कवियों की भाँति ही कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में सन्ध्या का रोमांचकारी वर्णन भी प्रस्तुत किया है । सूर्यास्त होने के पश्चात् दिङ्मण्डल अरुणिमा से ब्याप्त हो जाता है । कवि अभयदेव की कल्पना है कि जिस प्रकार कोई सखी अपनी प्रिय सखी से मिलकर हर्षातिरेक से रागवती हो जाती है उसी प्रकार वारुणी दिशा ने दिन मणि सूर्य के चले जाने पर अपनी सखी रूपी सन्ध्या से मिलकर नवीन कुंकुमों से किये हुए अङ्गराग के समान अरुणिमा को प्राप्त किया—

अथ स्वभर्त्तुर्द्युमणेः समागमेऽरुणाङ्ग शोभां दिगवाप वारुणी ।
समेत्य सख्येव च संध्ययाद्भुतं कृताङ्गरागेव नवीनकुंकुमैः ॥[4]

इसके पश्चात् सुन्दर कोमल नृप सुन्दरियों के बोलने वाले मञ्जु-मज्जीरकों

१. जयन्तविजय, २/४५ ।
२. वही, २/४७ ।
३. वही, ८/४६ ।
४. वही, २/४४ ।

की आवाज के समान अनेक प्रकार के विहगों के कूजन से जागरूक, दशों दिशाओं की अरुणिम आभा वाले बादलों से युक्त करती हुई सन्ध्या प्रकट हुई—

दधति दश दिशोऽथ स्निग्ध संध्याभ्रशोणा
विविधविहगराजीकूजितो जागरूकाः ।
मसृणघुसृणभासां भूपतेः सुन्दरीणां
प्रतिकृतिमिह सिञ्जन्मञ्जुमञ्जीरकाणाम् ॥[1]

अन्धकार वर्णन

कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में अन्धकार का मूर्तिमान् रूप प्रस्तुत किया है। सूर्यास्त होते ही सर्पणशील अन्धकार शनैः-शनैः आकाश मण्डल को आच्छादित कर लेता है—

अथाम्बुधेरम्भसि भानुमण्डले
निलीय माने ऽरुणपङ्कजत्विषि ।
दिशां मुखेभ्यस्तदनु प्रधाविता
मधुव्रतव्रातनिभा तमस्ततिः ॥[2]

अर्थात् लाल कमल की कान्ति में सूर्यमण्डल के समुद्रजल में छिप जाने पर दिशाओं के मुख से भौंरों के समान अन्धकार दौड़ने (फैलने) लगा।

अन्धकार की सघनता वस्तुज्ञान एवं दिशाज्ञान दोनों का सर्वथा विलुप्तीकरण कर देती है। अतएव तिमिराच्छन्न दिशाओं के सम्बन्ध में केवल कवि प्रतिभोत्थित संशय अथवा संभावना ही व्यक्त की जा सकती है। संस्कृत साहित्य के कवियों ने प्रगाढान्धकार वर्णन के सन्देह और उत्प्रेक्षा का आश्रय लिया है। कवि अभयदेव के अन्धकार वर्णन में भी उत्प्रेक्षा, सन्देह जैसे उपयुक्त अलङ्कार का प्राधान्य है। कवि कल्पना में अन्धकार से व्याप्त आकाश मण्डल इस प्रकार सुशोभित हो रहा है, मानो तमाल से मण्डित हो अथवा कुन्तल वर्ण की भ्रमरावलियों से समस्त संसार चुम्बित किया गया हो अथवा चारों ओर अंजन से राजपट्ट ही घटित कर दिया गया हो—

कलितमिव तमालैः कुन्तलीकुन्तलाली-
रुचिभिरिव तताभिश्चुम्बितं विश्वविश्वम् ।
स्थगितमिव समन्तादञ्जनै राजपट्टै-
र्घटितमिव चकासे व्याप्त मिद्धैस्तमोभिः ॥[3]

प्रस्तुत स्थल में वर्णित अन्धकार की कृष्णिमा एवं सान्द्रता कवि की उत्प्रेक्षा में और अधिक स्निग्ध एवं कोमल हो गयी है जो शूद्रक की 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि'[4] का स्मरण करा देती है,

---

१. जयन्तविजय, ८/४७ ।
२. वही, २/४६ ।
३. वही, ८/५१ ।
४. 'मृच्छकटिकम्', १/३४ ।

सर्वत्र विस्तृत निविड अन्धकार में कहीं कुछ दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। कालिमा से आच्छादित होने के कारण सभी दिशाएँ एक में समाहित प्रतीत होती हैं। ऐसे समय में ही अभिसारिकाओं को स्वेच्छापूर्वक रमण करने का अवसर मिलता है—

अभिनव मृगनाभीपङ्क क्लृप्ताङ्गरागा
भ्रमररुचिदुकूलैर्वेष मुद्रां दधानाः।
मरकतकृत भूषाः पक्ष्मलाक्ष्यः सलीलं
रमणमभिसरन्ति स्वैरमिद्धेऽन्धकारे ॥[1]

अर्थात् अभिनव कस्तूरी के पङ्क से अङ्गराग किये हुए, भ्रमर की कान्ति के समान साड़ियों से वेष मुद्रा को धारण किये हुए, मरकत मणि का आभूषण पहने हुए कमलनेत्रियाँ लीलापूर्वक बढ़े हुए अन्धकार में स्वेच्छापूर्वक रमणों का अभिसरण करती हैं।

मानवीकरण के रूप में भी अन्धकार वर्णन में कवि को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। कवि अन्धकार में एकछत्र राज्य करने वाले राजा का आरोप करता हुआ कहता है—

सपदि दधति जातैकातपत्रं प्रभुत्वं
जगति तिमिरराजे लुप्तभूभृत्समाजे।
तरणितरुण वीरैस्तैरवस्कन्द हेतो-
रिव बहुविशिखाढ्यैर्भूरिदीपैरदीपि ॥[2]

अर्थात् भूभृत् समाज के लुप्त हो जाने पर शीघ्र ही संसार में एकछत्र राज्य करने वाले अन्धकार को जीतने के लिए सूर्य के उन तरुण वीरों के समान बढ़ी हुई विशिष्ट शिखा वाले दीपकों ने अपना प्रभुत्व जमाया।

चन्द्रोदय वर्णन

कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में अन्धकार के पश्चात् चन्द्रोदय का वर्णन यथाक्रम निर्दिष्ट किया है। चन्द्रोदय वर्णन में विशेषतः कवि ने रूपक, उत्प्रेक्षा एवं समासोक्ति आदि अलङ्कारों का आश्रय लिया है। सूर्य के तपनत्व विस्तार रूप कार्य से वैराग्य ले लेने के अनन्तर ही संसार अन्धकाररूपी सागर में निमग्न हो जाता है किन्तु इस अन्धकाररूपी शत्रु को शीघ्र ही अपने किरणरूपी भटों से चन्द्रमा जीत लेता है क्योंकि पृथ्वी पर धनवालों के लिए क्या साध्य नहीं है—

---

१. जयन्तविजय, ८/५२। २. वही, ८/५३।

तिमिररिपुजयाय प्रस्थितस्याथ राज्ञो
रुचिर किरणवीरैः प्रोल्लसद्भिः समन्तात् ।
जगदखिल मकारि क्षिप्रमेवाविपक्षं
किमिव वसुमतां न क्ष्मातले साध्यमस्ति ।।[1]

उदयकालीन चन्द्र का वर्ण पाण्डु दिखलायी पड़ता है किन्तु क्रमशः चन्द्र की पाण्डुता ईषत् रक्तिमा का स्पर्श करने लगती है। कवि की यह सम्भावना प्रस्तुत स्थल पर अत्यधिक सुन्दर एवं उपयुक्त प्रतीत होती है—

क्षणमदधत पूर्वाशावधूवक्रपद्मे
घुसृण तिलकलक्ष्मीडम्बरं चन्द्रविम्बम् ।
तदनुकिरण मुक्ताजालकस्फीतशोभं
मदनधरणिभर्त्तुः पुण्डरीकश्रियं च ।।[2]

अर्थात् पहले चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पूर्व दिशारूपी वधू के मुख पद्म पर लगे हुए तिलक के समान प्रतीत हुआ और इसके पश्चात् अपनी किरण की मोतियों के जाल से बढ़ी हुई शोभा वाले विष्णु के कमल की सुन्दरता को धारण किया। प्रस्तुत स्थल में पहले उदित चन्द्रमा की पाण्डुता की समता पूर्व दिशारूपी वधू के कमल मुख पर लगे हुए तिलक से और थोड़ी देर बाद विष्णु के कमल से स्थापित की गयी है। इस प्रकार उपमा के माध्यम से प्रस्तुत दृश्य उपस्थित किया गया है।

इसके पश्चात् उचित कलाओं को धारण करने में दक्ष चन्द्रमा ने संसार के नेत्रों के अन्धकार पटल के योग को हरण करने की इच्छा से धीरे-धीरे क्रम से अमृत-रूपी शलाका के समान अपनी रुचि (चाँदनी) को बिखेर दिया।

तिमिर पटल योगं हर्तुकामो जगत्या-
स्तदनु च नयनानामौषधीशः क्रमेण ।
अमृतमयशलाका संनिभां मन्दमन्दं
रुचिमुचित कलाभृत्तत्र चिक्षेप दक्षः ।।[3]

चन्द्रमा में प्रतिबिम्बित होने वाली कालिमा का भी कवि ने मनोहारी चित्र उपस्थित किया है क्योंकि जब चन्द्र ने सम्पूर्ण जगत् को अन्धकार से रहित करने का व्रत लिया तो उस समय यह कालिमा अपने प्राणों की रक्षा के लिए अन्यत्र शरण न मिलने के कारण उसी चन्द्र में जाकर छिप गयी।

चन्द्र की कामोद्दीपता कवि सम्प्रदाय में प्रसिद्ध ही है। संयोग शृङ्गार में

१. जयन्तविजय, ८/५८
२. वही, ८/५६ ।
३. वही ८/५४ ।

चन्द्र सुप्त काम को जाग्रत कर कामियों का मित्रवत प्रिय सम्पादन करता है। कामदेव ऐसे समय में ही उन्हें अपने बाणों का लक्ष्य बनाता है—

भुवनमपतमिश्रं सर्वतोऽपि प्रपेदे-
ऽभ्युदयमुदितराज्ये कौमुदी जीवितेशे।
तदनु च कुसुमेषोर्मार्गणैः पञ्चसंख्यै-
रपि भुवनविजित्रैर्लक्ष्यतां को न नीतः ॥[1]

अर्थात् कुमोदिनी नायक चन्द्रमा के राज्य के बढ़ने पर सारा संसार अन्धकार रहित होते हुए अभ्युदय को प्राप्त हुआ और इसके बाद त्रिभुवन विजयी पञ्चसंख्या वाले कामदेव के बाणों का लक्ष्य कौन नहीं बना।

किन्तु यही चन्द्र विप्रलम्भ शृङ्गार में वियोगियों को विशेषतः पीड़ित करता है। रात्रि के ऐसे समय में कवि चकोर पक्षी का दृष्टांत उपस्थित कर देता है। कहीं वह अपनी प्रियतमाओं की आवाज श्रवण मात्र से आनन्दित होते हैं तो कहीं स्मरण मात्र से बेसुध हो जाते हैं—

दधति मुदमुदारां क्वापि चञ्चच्चकोरी-
ध्वनि विघटिततन्द्राश्चन्द्रिकायां चकोराः।
क्वचिदरतिमयं ते चक्रवाकाः सशोकाः
सुखमसुखमिह स्यादात्मकर्मानुरूपम् ॥[2]

अर्थात् कहीं चाँदनी में चञ्चल चकोरियों के बोलने की ध्वनि से टूटी हुई नींद वाले चकोरों ने अत्यन्त उदारपूर्ण आनन्द को धारण किया और कहीं पर शोकयुक्त चक्रवाक अरति को प्राप्त हुए क्योंकि संसार में अपने कर्म के अनुकूल सुख-दुःख होता है।

पूर्ण चन्द्र का ललित वर्णन करने के उपरान्त कवि शोभाविहीन कमलिनी और प्रफुल्लित होती हुई कुमुदिनी को देखकर दार्शनिक बन जाता है। कवि की भावुकता चरम सीमा पर पहुँचकर विश्व का शाश्वत सत्य सामने रख देती है—

तिमिररिपुमयस्य प्रौढिमुल्लास्यदूरं
कुवलयरमणीयां चन्द्रिकासंपदं च।
अपरदिशिचचाल क्षोणि पालायमानः
कृतसकलविधेयो यामिनीकामनीशः ॥[3]

---

१. जयन्तविजय, ८/६२।
२. वही, ८/६०।
३. वही, ८/६३।

अर्थात् यामिनी कामिनीश (चन्द्र) तिमिररूपी शत्रु की उद्दण्डता के साथ कुवलय की रमणीयता को दूर कर एवं चन्द्रिकारूपी सम्पत्ति को उल्लसित कर पृथ्वी पर दौड़ते हुए सारे संसार को अपना विधेय बनाकर पश्चिम दिशा की ओर चल पड़ा ।

कवि ने संसार के इस सत्य को भी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है कि अपनी किरणों की शोभा के वैभव को नष्ट जानकर चन्द्र पश्चिमी पर्वत की चोटियों से शरीर को छिपाने की कामना से छिप गया क्योंकि क्षीण धनवानों की लज्जा का विस्तार होता है—

विगलितवसुशोभावैभवं स्वं विदित्वा
तदनु शिशिररश्मिर्जातविच्छायकायः ।
अपरगिरिशिरोभिः काममन्तर्हितोऽभू-
द्विघटितविभवानां स्फूर्जितं ह्रीपदं हि ॥[1]

वास्तविकता तो यह है, कि लौकिक संसार में प्रबल शत्रु को देखकर प्रतिद्वन्द्वी सामने से हट जाया करते हैं । इसी भावना को कवि ने प्रकृति के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है—

अनवरतमखण्डं मण्डलं निष्कलङ्कः
प्रथयति कमलानां काममुन्निद्रतां च ।
अयमिति परिभाव्य क्ष्मापतेर्विक्रमस्य
प्रविशति हिमरश्मिर्लज्जयेवाम्बुराशिम् ॥[2]

अर्थात् 'इसका मण्डल निरन्तर अखण्डित एवं निष्कलङ्क है और कमलों की उन्निद्रता को यथेष्ट विस्तृत करता है' इस प्रकार सूर्य के पराक्रम को जानकर चन्द्रमा लज्जा के वशीभूत होकर समुद्र में प्रवेश करता है ।

इस प्रकार कवि अभयदेव द्वारा वर्णित चन्द्रोदय वर्णन नितान्त ही स्वाभाविक है ।

प्रभात वर्णन

कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में प्रभात वर्णन की ओर अपनी विशेष अभिरुचि नहीं व्यक्त की है । यह वर्णन 'जयन्तविजयम्' महाकाव्य के अष्टम सर्ग में हुआ है । प्रातःकाल होते ही हाथियों के हिलने से उनके शृंखलाओं की खड़खड़ाहट, अश्वशाला में बँधे हुए घोड़ों की हिनहिनाहट एवं बजने वाले मङ्गल वाद्य के निनाद से चतुर प्रिया की भाँति निद्रा ने नृपति जयन्त के नेत्रों को छोड़ दिया—

---

१. जयन्तविजय, ८/६४ ।   २. वही, ८/६५ ।

नागानां क्रमशृङ्खलाखणखणध्वानैः प्रबोधक्षणे
संपत्सुन्दरमन्दुरोदरचरद्दृप्ताश्च हेषारवैः ।
माद्यन्मङ्गलतूर्यवर्यनिनदप्रोद्दाम लीलायितै-
स्तस्य क्षोणिपतेः प्रियेव चतुरा निद्रामुचल्लोचने ।।[1]

निशावसान की स्निग्ध वेला में चलने वाली वायु मानिनी नायिका के मान को भङ्ग कर देती है जिसके परिणामस्वरूप कामदेव की आज्ञा को पाकर वह स्वयं ही अपने प्रियतमों का आलिङ्गन करने लगती हैं—

मानोत्तानतया सखीषु कलुषाः प्रेङ्खोलरोषाश्चिरं
दूतीषु स्वयमानतेऽपि दयिते याश्चक्रिरे वक्रताम् ।
ताः प्रातश्चरणायुधध्वनिमिभादाज्ञामिवाप्यस्मर-
क्षोणीशस्य समुत्सुकाः प्रियपरीरम्भं स्त्रियस्तन्वते ।।[2]

प्रिय के स्वयं नत होने पर मान की वृद्धि से सखियों पर कलुषित, दूतियों पर बढ़े हुए रोषवाली जो स्त्रियाँ वक्रता को धारण किये हुए थीं वे प्रातः वायु के ध्वनि के बहाने उत्सुकतापूर्वक कामदेव की आज्ञा को पाकर अपने प्रियतमों का आलिङ्गन करने लगीं ।

प्रातःकालीन सूर्य उदयाचल पर्वत पर उदय होता है किन्तु कवि की कल्पना में मानो वह अपने किसी विपक्षी शूर को देखने के लिए ही पूर्वी पर्वत पर चढ़ गया है—

माद्यन्मण्डलचक्रवालकलितं स्थेयः सुखश्रीकरं
संख्यातीतरथश्चवैभवपदं नक्षत्रलोपावहम् ।
शंके सूरमपूर्वमोक्षितुमयं त्वं कौतुकीवाधुना
पूर्वक्ष्माधरमारुरोहन्नृपते पाथोजिनीवल्लभः ।।[3]

अर्थात् हे राजन् ! अपने मण्डल के चक्रवाल में सुशोभित स्थिर सुख श्री वाला, असंख्य रथ, अश्व और समृद्धि युक्त नक्षत्रों को लुप्त करने वाला, कौतुकी आपके समान यह कमलिनी नायक सूर्य अपूर्व शूर को देखने के लिए पूर्वी पर्वत पर चढ़ गया । ऐसा मैं मानता हूँ ।

सूर्य की किरणों के स्पर्श लाभ होते ही कमलिनी प्रफुल्लित हो जाती है । कमलिनी के दलों में रात्रिपर्यन्त बन्दी रहने वाला भ्रमर स्वतन्त्र हो जाता है । प्रस्तुत प्रसङ्ग में कवि ने प्रकृति में मानवीय भावनाओं का आरोप किया है जिसके

---

१. जयन्तविजय, ८/६७ ।
२. वही, ८/६८ ।
३. वही, ८/७० ।

परिणामस्वरूप मानसिक विकारों एवं भावनाओं की भी अभिव्यंजना हुई है। कवि भ्रमर और सूर्य में प्रेम, द्वेष, प्रतिशोध आदि भावनाओं का आरोप करते हुए कहता है—

मद्वल्लभां कैरविणीमुपेत्य चुम्बन्त्यमी रागवतेति राज्ञा।
अमोचयत्पङ्कज गुप्तिबद्धान्मित्रः प्रभाते बसुभिर्द्विरेफान् ॥[1]

रात्रि में भ्रमर कमलों के बन्द होने से कमल में ही बन्द हो जाते हैं और प्रातःकाल सूर्य की किरणों का स्पर्श पाकर कमलों के विकसित होने पर बाहर आते हैं। इस प्राकृतिक तथ्य का कवि ने बड़ा ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। कवि की कल्पना में इन भ्रमरों ने रात्रि में चन्द्रमा की प्रेयसी कुमुदिनी का चुम्बन किया है। इसीलिए इनके इस अपराध के कारण चन्द्रमा ने इन्हें कमलरूपी कारागार में बन्द कर दिया है किन्तु प्रातःकाल सूर्य अपनी किरणों द्वारा कमलरूपी कारागार को खोलकर उन्हें मुक्त करवाता है जैसे कोई राजा अपनी प्रेयसी के कामुक व्यक्ति को कारागार में डाल देता है किन्तु उसका विरोधी धन लेकर उसे मुक्त कर देता है।

इस प्रकार कवि अभयदेव ने अपने पूर्ववर्ती महाकवियों की भाँति ही प्रभात का मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है किन्तु अनेक स्थलों पर कवि की अनेक कल्पनायें नवीन एवं मौलिक हैं।

सरोवर वर्णन

संस्कृत साहित्य के कवियों ने अपने महाकाव्यों में सरोवर का अति रमणीय चित्रण भी प्रस्तुत किया है। कवि अभयदेव भी इसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में सरोवर का रुचिर वर्णन प्रस्तुत करते हैं। कवि के शब्दों में 'जहाँ पर संसार चक्र के कल्याण कमल का सार पद्माकर सुशोभित है जो अद्भुत सम्पत्तियों की रमणीयता की विश्राम-भूमि है—

संसार चक्रस्य चकास्ति सारः पद्माकरः शर्मसरोरुहस्य।
विश्रामभूमी रमणीयताया यः संपदामास्पदमद्भुतानाम् ॥[2]

ऐसा वह सरोवर गम्भीरता में वारिधि को भी तिरस्कृत करता है तथा दृष्टिपर्यन्त होने के कारण संसार में सज्जनों को परमाह्लादित करता है—

प्रीतिं परां यत्र नयन्ति लोकं सरांसिचेतांसि च सज्जनानाम्।
अदृष्टपर्यन्ततया श्रितानि गम्भीरतान्यक्कृतवारिधीनि ॥[3]

---

१. जयन्तविजय, ८/७१।
२. वही, १/३३।
३. वही, १/३७।

कवि की कल्पना उस समय चरम सीमा पर पहुँच जाती है जब वह सरोवर पर मानवता का आरोप करता है और उसमें मानव की भाँति ही ईर्ष्या-द्वेष की भावनाएँ व्यक्त करता है—

यस्मिन्कटाक्षयन्तीव सरांसि क्षीरसागरम् ।
नीलोत्पलदलैर्लोलरोलम्बपरिचुम्बितैः ॥[1]

सरोवर में कमल खिले हुए हैं। उन नील कमलों का परिचुम्बन चंचल भ्रमर कर रहे हैं परिणामतः वह दोलायमान हो रहे हैं। इस प्राकृतिक दृश्य का कवि ने अति सुन्दर निरूपण किया है। वह कहता है, कि खिले हुए नील कमल सरोवर के नेत्र हैं और चंचल भ्रमर नेत्र में रहने वाली काली पुतली हैं। इन्हीं नील कमल रूपी नेत्रों के द्वारा मानो वह सरोवर क्षीर सागर पर कटाक्ष कर रहा है।

मानवीकरण के रूप में प्रकृति का यह रूप पाठक के हृदय को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है क्योंकि मानव के समान सरोवर भी मानसरोवर पर ईर्ष्या कर रहा है।

सरोवर के जल की स्वच्छता का वर्णन करते हुए कवि का कहना है कि राहु के द्वारा ग्रसे जाने के भय से भयभीत होकर चन्द्रमा की चन्द्रिका ही मानो इसके जल के रूप में निवास कर रही है किन्तु जन्मभूमि (आकाश) के छूट जाने के कारण उसे अत्यन्त दुःख हुआ है और उसी दुःख को वह लहरों की आवाज के माध्यम से व्यक्त कर रही है—

भयभरशिथिलाङ्गाद्द्राद्गुणा ग्रस्यमान
त्कथमपि पतिताधश्चन्द्रतश्चन्द्रिकेयम् ।
गगनपतनदुःखात्क्रन्दमानेवयस्मि-
न्गुरुलहरिविरावैर्लक्ष्यतेऽम्भोमिषेण ॥[2]

जिस तालाब में भय के भार से शिथिल अङ्ग वाले राहु से ग्रसी जाती हुई यह चन्द्रमा की चन्द्रकान्ति आकाश से किसी तरह गिरी हुई है जो कि गगन से गिरने के दुःख से रोती हुई गुरुतर लहरियों की आवाज सीं प्रतीत हो रही है।

ऐसे उस सरोवर में निवास करने वाली लक्ष्मी द्वारा महाकाव्य के नायक जयन्त के गुणों का गान करवाने में कवि अपनी अपूर्व शक्ति का परिचय देता है। कवि की कल्पना में, सरोवर में निवास करने वाली लक्ष्मी कमलरूपी नेत्रों से लीलापूर्वक पति की भाँति जयन्त को देख रही है। पवन द्वारा उत्प्रेरित तरङ्ग-

---

१. जयन्तविजय, ३/१४।
२. वही, ८/३३।

रूपी हाथों से नर्तन कर रही है तथा भ्रमरों के सुन्दर शब्दों के व्याज से उनके गुणों का गान कर रही है—

> रमण इव सहेलं श्रीजयन्ते पुरस्थे
> कुवलयनयनैः श्रीर्यत्र तं पश्यतीव ।
> पवनचलितवीचीबाहुभिर्नृत्यतीव
> भ्रमरविरसनादैस्तद्गुणान्गायतीव ॥[1]

इस प्रकार कवि अभयदेव को महाकाव्यों में वर्णित 'मानसरोवर', रामायण में वर्णित 'पम्पा' तथा कादम्बरी में वर्णित 'अक्षोद' इस सरोवर के सामने सार रहित प्रतीत होते हैं। निष्कर्ष यह है कि यह एक अत्यन्त पवित्र एव महत्त्वपूर्ण जलाशय है जिसकी दैनिक जीवन में बड़ी उपयोगिता थी। इस प्रकार कवि अभयदेव द्वारा वर्णित यह जलाशय वर्णन अत्यन्त मनोहारी है।

ऋतु वर्णन

कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में पूर्ववर्ती कवियों की भाँति ही षड्ऋतु परम्परा का निर्वाह किया है किन्तु वर्षाऋतु की हरीतिमा, शरद की निर्मलता, ग्रीष्म की उद्दण्डता एवं बसन्त की मादकता ने कवि को अधिक प्रभावित एवं आकर्षित किया है। अतएव विशेष रूप से इन ऋतुओं का ही वर्णन 'जयन्तविजयम्' महाकाव्य में विशेष रुचिकारी एवं रमणीय प्रतीत होता है।

वसन्त वर्णन

कवि ने सर्वप्रथम वसन्त ऋतु का वर्णन किया है। हर्ष और उन्माद के प्रतीक ऋतुराज वसन्त के आगमन मात्र से ही प्रकृति की रमणीयता का विस्तार हो जाता है। इसीलिए वन्दीगणों के जय-जयकार शब्द की भाँति पञ्चम स्वर से नाद करने वाली कोकिला कूज उठती है—

> श्री वसन्तनृपतेः समागमे कोकिलध्वनिरुदच्छल··· ।
> बन्दिवृन्दवदनाम्बुजान्तरं प्रोल्लसज्जयजयारवोपमः ॥[2]

शीतल, सुरभित एवं मन्द मलयानिल प्रवाहित होने लगती है—

> केरली कुचतटी विलासिनः कुन्तली चलित कुन्तलाञ्चलाः ।
> सिंहलीवदन चुम्बनप्रियाः संचरन्ति मलयाचलानिलाः ॥[3]

अर्थात् केरल कामिनी के कुचतट पर विलास करने वाली, कुंतल कामिनी के

---

१. जयन्तविजय, ८/३४ ।
२. वही, ७/२५ ।
३. वही, ७/२७ ।

चञ्चल कुन्तल के अञ्चल वाली, सिंहलद्वीप की कामिनी के मुख को चूमने वाली प्रिय मलयाचल की वायु प्रवाहित होने लगी।

वसन्त की कामोद्दीपकता लोकप्रसिद्ध है अतएव वसन्त के प्रसङ्ग में संस्कृत कवियों ने वसन्त के प्रिय मित्र कामदेव का विविध प्रकार से वर्णन कर अपनी कला-चातुरी प्रदर्शित की है। इन स्थलों पर उनकी कल्पना का विस्तार सीमातिक्रमण कर गया है। एक से एक सुन्दर उपमा, उत्प्रेक्षा एवं अतिशयोक्ति आदि की सृष्टि हुई है। वसन्त ऋतु में मानसरोवरों में जल की कमी के कारण कमल सूखने लगते हैं। चम्पा के पुष्प विकसित हो जाते हैं। अतः कामदेव उन जीर्ण-शीर्ण निर्गुण कमलों को छोड़कर चम्पा के पुष्पों की चाप का आश्रय लेकर बलशाली हो जाता है—

कौन्द पुष्पमपहाय जर्जरं निर्गुणं धनुरजायताधिकम्।
चम्पक प्रसवचापमण्डलीलाभलोलुभमना मनोभवः ॥[1]

अर्थात् चम्पा के पुष्प की चाप के लीला के लाभ का लोभी कामदेव जीर्ण शीर्ण निर्गुण कमलों को छोड़कर अधिक बलशाली हुआ।

इसीलिए भ्रमर समुदाय से चुम्बित चम्पा की कलियाँ पथिकों को मारने के लिए कामदेव से बनाये गये विषैले वाण की भाँति सुशोभित हो रही हैं—

चञ्चरीकनिकरम्बचुम्बिताश्चम्पकेषु कलिकाश्चकासिरे।
मन्मथेन पथिकप्रमाथिना निर्मिता विषशिखा इवेषवः ॥[2]

वसन्त ऋतु में आम्र वृक्ष में मञ्जरी आ जाती है। उन पर कोकिलें कूजने लगती हैं। कवि की कल्पना में, सहकार वृक्ष की मञ्जरी का रसास्वादन कर बाल-कोकिलें विलासी जनों के लिए कामदेव के विजय धनु की टङ्कार को व्यक्त कर रही हैं—

यद्विलिह्य सहकार मञ्जरीः कूजितां किमपि बालकोकिलैः।
तद्बभार विषमेषुकार्मुकज्यानिनादपदवीं विलासिषु ॥[3]

वसन्त ऋतु विरही जनों के लिए अत्यन्त दुःखदायी होती है। इसकी सुभग छटा को देखकर उनके हृदय में अपने प्रियतमों से मिलने के लिए उत्कण्ठा बढ़ जाती है किन्तु समागम न हो पाने के कारण वे अत्यन्त बेचैन हो जाती हैं। इसीलिए क्षीर सागर से उत्पन्न होने वाला चन्द्रमा अपनी अत्यन्त सुन्दर उज्ज्वल किरणों को बिखेरता हुआ भी उनके मन को हर्षित न कर अपितु मलिन ही करता है—

---

१. जयन्तविजय, ७/२९। २. वही, ७/३०।
३. वही, ७/३२।

क्षीरनीर नीधिचारिमुञ्जुलं मुञ्चतापि करजालमुज्ज्वलम् ।
रोहिणीप्रणयिना विनिर्ममे स्वैरिणीजनमनो मलीमसम् ॥[1]

वसन्तश्री के बढ़ने के साथ ही कामदेव कुसुम के शायक को छोड़कर वायु को अपना शायक बनाता है और अधिक सौरभ वाले उसको धारण करते हुए पथिकों को निश्चय ही मार देता है—

मारुतं शरमुपाददे स्मरः कौसुमं तमपहाय सायकम् ।
नूनमादधदनूनसौरभं मन्ममाथ मलयानिलोध्वगान् ॥[2]

कवि अभयदेव ने प्रस्तुत स्थल पर प्रकृति का मानवीकरण भी प्रस्तुत किया है। मल्लिका पुष्पों से निकलने वाला मकरन्द ऐसा प्रतीत होता है। मानो प्रोषित-पतिकाओं की दुर्दशा को देखकर वह आँसुओं द्वारा अपने हृदय की व्यथा को प्रकट कर रहा है। जैसे कोई व्यक्ति किसी की दुर्दशा को देखकर द्रवीभूत हो जाता है और उसके नेत्रों से एकाएक अश्रुओं की धारा फूट पड़ती है। यहाँ पर कवि की प्रकृति भी मानव की भाँति सप्राण और स्पन्दनशील है। इसीलिए प्रोषितपतिकाओं को देख-कर आँसू बहा रही हैं—

अध्वगप्रणयिनीषु दुर्दशां वीक्ष्यते करुणयेह मल्लिका ।
रोदतीव विपुलाश्रुभिर्भृशं स्पन्दमानमकरन्द बिन्दुभिः ॥[3]

कवि अभयदेव द्वारा वर्णित इस दृश्य को भी हम कभी नहीं भूल सकते कि जब ऐसे सुभग समय में चारों ओर नाना प्रकार के वृक्ष पुष्पित हैं किन्तु मधूक के वृक्ष अपने चारों ओर पत्र समुदाय को छोड़े हुए 'हम आश्रितों से रहित हो गये हैं' ऐसा विचार कर दुःखी होकर पृथ्वी पर गिर रहे हैं—

त्यक्तपात्रनिकरः समन्ततश्चया (?) विरहितोऽस्मदाश्रयः ।
इत्यमूनि मधुकानि दुःखितानीव पेतुरवनीतले ततः ॥[4]

कवि अभयदेव ने बसन्त और बसन्तश्री का वर्णन करने के लिए बसन्त को नायक एवं बसन्तश्री को नायिका के रूप में कल्पना करके किञ्चित् नवीनता प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि 'जिस प्रकार स्मितमुखी कुल-कामिनी अनुराग सागर में निमग्न होती हुई पति के आगमन पर स्निग्ध आत्म-हृदय को समर्पित करती है उसी प्रकार नवीन बसन्तरूपी प्रियतम के आगमन पर बकुल की श्री अनुराग के वशीभूत होती हुई सौन्दर्य की माला को समर्पित कर रही है—

---

१. जयन्तविजय, ७/३७ ।
२. वही, ७/३६ ।
३. वही, ७/४० ।
४. वही, ७/४७ ।

प्रेयसां नवसमागमे मधौ तत्क्षणोद्यदनुरागसागरे ।
अर्पयन्ति बकुलश्रियः स्रजं स्निग्धमात्महृदयं च सुभ्रुवः ॥[1]

यहाँ पर कवि ने बकुल श्री की सती स्त्री से उपमा देकर कोमल भावना की सृष्टि की है । कवि की यह कल्पना सुन्दर एवं नवीन प्रतीत होती है ।

बसन्त ऋतु कामिनियों के लिए विशेष कष्टदायक क्यों होती है ? इसका कवि अभयदेव ने स्पष्ट उत्तर दिया है । उनका कहना है कि कामदेव जिस समय अशोक वृक्ष की शाखाओं पर दृष्टिपात करता है उस समय उसे भगवान् शङ्कर के तृतीय नेत्र से उत्पन्न अग्नि का स्मरण हो आता है । अतः अन्यत्र शरण न पाकर विलास की तरङ्गों से तरङ्गित अङ्गनाओं की शरण में आ पहुँचता है—

वीक्ष्य पुष्पितमशोक शाखिनं त्र्यम्बकाम्बकहुताशशङ्कया ।
उद्विलासलहरीस्तरङ्गिणीरङ्गनाः शरणिमादधे स्मरः ॥[2]

प्रस्तुत स्थल पर कवि ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है । कवि की कल्पना है कि प्रत्येक प्राणी अपनी रक्षा के लिए सुरक्षित स्थान की खोज करता है ।

बसन्त ऋतु में शनैः-शनैः दिन दीर्घता को प्राप्त होने लगते हैं । इस सम्बन्ध में कवि का कथन है, कि सूर्य काञ्ची प्रदेश की रहने वाली कामिनियों की काञ्चन की किंकिणियों की आवाज से जाग गया है तथा मृगनयनियों के लोकोत्तर दोलान्दोलन के कौतुक को देखने में लीन हो गया है । उसके घोड़े थक चुके हैं अतः मन्द गति से जा रहे हैं । इसीलिए दिन अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं—

काञ्चीकाञ्चन किंकिणीरणरणत्काराप निद्रस्मरं
दोलान्दोलन कौतुकं मृगदृशामालोक्य लोकोत्तरम् ।
तत्रासक्तमनाः प्रयाति नलिनीकान्तः प्रशान्तैर्हयै-
र्मन्दंमन्दमतीव वृद्धिमधिकां पुष्णन्त्यमी वासराः ॥[3]

अर्थात् काञ्ची की काञ्चन की किंकिणियों की आवाज से समाप्त निद्रा-वाला, मृगनयनियों के लोकोत्तर दोलान्दोलन के कौतुक को देखकर वहाँ पर आसक्त मनवाला नलिनीकान्त थके हुए घोड़ों से अत्यन्त मन्द-मन्द जाता है अतएव दिन अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं ।

बसन्त ऋतु में नायिका के पाद-प्रहार से अशोक वृक्ष के पुष्पित होने की ओर भी कवि अभयदेव की दृष्टि गयी है—

१. जयन्तविजय, ७/५० ।
२. वही, ७/५१ ।
३. वही, ७/७४ ।

स्त्रैणैः पादप्रहारैः कुचकलशतटीताडनैरीक्षणाद्यै-
निश्चिन्तन्ये (?) प्यशोक प्रमुखविटपिनां पुष्पराजिच्छलेन
व्यक्तः कामानुरागः प्रसरति पुलकैः कामुकानामिवास्य
प्राज्ये राज्ये विलासातिशय इह मधौ कस्य धत्ते न चित्रम् ॥[1]

अर्थात् स्त्रियों के पैर के प्रहार, कुचकलशतटी के ताडन एवं अवलोकन से निश्चयपूर्वक अशोक के पुष्पित होने पर, काम के बढ़े हुए राज्य में यह मधुमास किसके मन में विलासातिशयता को धारण नहीं करता ? यह विचित्र ही है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बसन्त के वर्णन में कवि ने अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है । उसका यह वर्णन परम्परागत होते हुए भी मौलिक भावनाओं से ओत-प्रोत है ।

ग्रीष्म ऋतु वर्णन

बसन्त ऋतु के अनन्तर कवि अभयदेव ने क्रमानुसार ग्रीष्म ऋतु का वर्णन प्रस्तुत किया है । ग्रीष्म ऋतु के आते ही सूर्य उग्र हो जाता है । 'जयन्तविजय' में वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि 'वृक्षों पर दावाग्नि की भाँति भयंकर परिताप का भार सूर्य के निकलते ही पृथ्वी पर उदित होता है । ऐसी निदाघ ऋतु क्या दुर्जन नहीं है ? (अर्थात् अवश्य ही दुर्जन है)

यदभिसंगमतः खलु मित्रतोऽप्युदयते परितापभरो भुवि ।
उपदवादिव वीरुधिदारुणः किमु निदाघ ऋतुः स न दुर्जनः ॥[2]

ग्रीष्म ऋतु की प्रचण्डता के कारण सम्पूर्ण जगत् संतप्त रहता है । किसी को शीतलता प्राप्त नहीं होती है । सृष्टि का सृजन करने वाले विधि ने ही इस ऋतु का विधान किया है । अतः पुराण पुरुष होते हुए भी उन्हें अपनी मूर्खता के कारण पृथ्वी पर कलंकित होना पड़ा है—

अकृत सृष्टिममुष्य सरस्वती सुचिर शोषकृतोऽपि ऋतोर्विधिः ।
भुवि पुराणपुमानिति मन्दधीरति कलङ्कपदं स ततोऽजनि ॥[3]

अर्थात् रसवती वसुन्धरा का भली-भाँति शोषण करनेवाली इस ऋतु का विधि ने सृजन किया इसीलिए पृथ्वी पर सबसे प्राचीन पुरुष होकर भी मन्दबुद्धि कहलाते हुए वे कलङ्कित हुए ।

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की जो किरणें त्रिभुवन के लिए दुःखदायी होती है । वही कमलनियों के लिए दुःखदायी क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न का हल कवि अपनी सूक्ष्म

१. जयन्तविजय, ७/७७ ।
२. वही, १८/२ ।
३. वही, १८/३ ।

निरीक्षण शक्ति द्वारा लौकिक संसार से ही खोज निकालता है। उसका कहना है कि 'प्रियतमाओं पर कौन कोमल नहीं होता ?' अर्थात् सभी होते हैं। इसीलिए सूर्य की किरणें कमलनियों के लिए दुःखदायी नहीं होतीं—

दिनकरः करदण्डनिपातनैस्त्रिजगतां परितः परितापदः।
तदपि पङ्कजिनीष्वमृतायते प्रियतमासु न को हि मृदुर्यतः ॥[1]

अर्थात् दिनकर अपनी प्रचण्ड किरणों के गिराने से त्रिभुवन को चारों ओर संतप्त करने वाले हुए किन्तु उनकी किरणों का निपातन कमलनियों के लिए अमृत तुल्य हुआ क्योंकि औरतों पर कौन कोमल नहीं होता।

प्रस्तुत स्थल पर कवि ने प्रकृति पर मानवता का आरोप किया है जिसके परिणामस्वरूप समस्त मानवीय भावनाएँ प्रस्फुटित हुई हैं। जिस प्रकार अपने अत्याचारों से संसार को त्रस्त करने वाला पुरुष भी अपनी प्रियतमा के प्रति कोमलता रखता है। उसी प्रकार सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से त्रिभुवन को सन्तप्त करता हुआ भी प्रेयसी कमलनियों के प्रति अमृत तुल्य शीतलता प्रदान कर रहा है।

ग्रीष्म की प्रचण्डता का वर्णन करते हुए कवि आगे भी कहता है—

पथिषु पान्थजनस्य चरेणवस्तपनतापवनं नखंपचाः। (?)
स्फुरितवह्निकणैरिव वर्षिणः सततगाश्वनितान्तमरुंतुदाः ॥[2]

अर्थात् पथिकों के मार्ग में नाखूनों को तप्त करने वाली, अग्निकणों के समान निरन्तर वर्षा करने वाली धूल सूर्य के ताप वन को सन्तप्त करती हुई निरन्तर ग्रीष्म जीवों के लिए दुःखदायी हुई।

ग्रीष्म ऋतु में दिन बड़े एवं रात्रियाँ छोटी होती हैं। इस सम्बन्ध में कवि अभयदेव का कहना है कि सूर्य ने अत्यन्त तृषाकुल की भाँति समस्त अवनी के रस का पान कर डाला है। अतएव उसका भार अत्यन्त बढ़ गया है जिसके परिणामस्वरूप उसके रथ में जुते हुए अश्वों की गति धीमी हो गयी है। फलतः दिन निश्चय रूप से बढ़ रहे हैं—

बहुतृपेव रसारसपानतस्तरणिरेष महाभरदुर्वहः।
अभवदस्य रथाश्वगतिः शनैर्ध्रुवमतो दिनवृद्धिरजायत ॥[3]

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की गर्मी से स्त्रियों को बहुत कष्ट होता है अतः इस कष्ट को शान्त करने के लिए वे प्रसाधन सामग्री का प्रयोग करती हैं। इस सम्बन्ध में

---

१. जयन्तविजय, १८/४।
२. वही, १८/५।
३. वही, १८/६।

कवि का कथन है, कि सरस चन्दन के पङ्क के विलेपन से, सुपनसार के पराग की तरङ्गों से, शिशिरता आदि गुणों से, निरन्तर चलने वाले सुर और तक्र आदि निदाघ के शत्रुओं से, बादलों के समान कदली दल के मण्डपों से, कामदेव को जगाने के लिए निपुणता के पांडित्य से, निर्मल मोतियों के भूषण की भूषा से, चन्द्रमा की किरणों से, चन्द्रमा की रुचिर किरणों के कोरों से धोये हुए मधुर धरातल वाले उपवनों से, खिले हुए सुगन्धित कमल पराग से, तरंगित पानी में मुख के धोने से, अभीष्ट अन्य शीतलता से, कामोद्दीपक रसपूर्ण रसायनों के भोग के उपयोग लाकर भोगी जनों से संसार भर में निदाघ ऋतु को शीघ्र दबाया गया -

सरसचन्दनपङ्क　　विलेपनैः　　सुपनसारपरागतरङ्गितैः ।
शिशिरतादिगुणैः स्विभि (?) रञ्चितैः सततगैः सुरतक्रमहारिभिः ।।
घननिभैः　कदलीदलमण्डपैः　स्मरविबोधनबन्धुर　पण्डितैः ।
विमलमौक्तिकभूषणभूषया　तुहिनरश्मिरुवाच　जलार्द्रया ।।
हिमरुचे　रुचिरैः　करकोरुकैरुपवनैर्मधुधौतधरातलैः ।
स्मितसरोजरजः सुरभीभवन्न.... ...पयस्सु　रयस्सु　वमज्जनैः ।।
अभिमतैः　शिशिरैरपरैरपि　स्मरनरेन्द्ररसाढ्यरसायनैः ।
जगति　भोगिजनेन पुरस्कृतैर्लघुनिदाघ　ऋतुः　परिभूयते ।।[1]

ग्रीष्म ऋतु में कवि अभयदेव ने प्रपा का भी मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। मृगनयनियाँ कुम्भ के जल से प्रपा का निर्माण कर रही हैं। ऐसे सुभग अवसर पर सौन्दर्यरूपी अमृत का पान करते हुए युवकों में उनके कुचों के प्रति भी अद्भुत पिपासा उत्पन्न हो रही है—

व्यरचि यो मृगलोचनया प्रपा सुरभिकुम्भजलेन युवा तृषः ।
लवणिमा मृतनिर्भरपानतोऽजनि स तत्कुचयो स्तृषितोऽद्भुतम् ।।[2]

कवि का मन निदाघ की प्रचण्डता से ऊब जाता है अतः कतिपय श्लोकों में ही इस ऋतु का वर्णन समाप्त करता है। कवि का कथन है कि अपने शासन के द्वारा यह रतिसुन्दरी का प्रियतम अत्यन्त उग्रता को नहीं सहन कर सकता। इसीलिए मानो भय से काँपता हुआ यह उग्र ऋतु शीघ्र भाग गया—

न परमुग्रमयं रतिसुन्दरी प्रियतमः सहते निजशासनात् ।
इति भयादिव कम्पितमानसस्त्वरितमुग्रऋतुः प्रपलायत ।।[3]

---

१. जयन्तविजय, १८/७-१० ।
२. वही, १८/१२ ।
३. वही, १८/१५ ।

वर्षा ऋतु वर्णन

ग्रीष्म ऋतु के अनन्तर वर्षा ऋतु का आगमन होता है। कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इस ऋतु का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। कवि वर्षा ऋतु का मानवीकरण करते हुए कहता है कि यह वर्षा ऋतु रूपी राजा निदाघ ऋतु को पराजित करने के लिए ही पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ है। जय-जयकार करने वाले मङ्गल पाठकों की भाँति मयूरों के समूह इसका जय-जयकार कर रहे हैं। मेघों की आवाज के व्याज से ही विजय-दुन्दुभि बज रही है। मेघों के मध्य विचरणशील विषकण्टिका ही इसका चँवर है तथा पृथ्वी पर उगे हुए शिलन्ध्री पुष्पों के छत्र (आतप वारण) को यह धारण किये हुए है—

जयजयोन्मुखमङ्गलपाठकैरिव कलापिकुलैः कलनादिभिः।
घनघनाघनघोषमिषेण च प्रसृमरैर्जयदुन्दुभिनिःस्वनैः॥
जलदमध्यचलद्विशकण्टिकावनिमिषाच्चमरैश्च चलाचले।
स्फुटशिलन्ध्रिततातपवारणैर्भुवि तपात्ययभूभृदवातरत्॥[1]

वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए कवि अभयदेव ने निदाघ की प्रचण्डता से तप्त पृथ्वी को नवीन जीवन प्रदान करने वाली सुधास्यन्दिनी जलधारा का भी मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है—

जलदवारिकणैः परिचुम्बितं नवकदम्बमुदञ्चितकेसरम्।
अनुकरोति विलासिनमुच्चकैः पुलकितं दयितापरिरम्भणैः॥[2]

अर्थात् (वर्षा ऋतु ने) दयिता के आलिङ्गन से पुलकित विलासी की भाँति नये निकले हुए केसर वाले नवकदम्बों को जलद वारिकणों से परिचुम्बित किया। यहाँ पर भी मेघ के व्यवहार में नायक के व्यवहार की प्रतीति हो रही है। जिस प्रकार कोई नायक बहुत दिनों के पश्चात् नायिका से मिलने के उपरान्त उसका चुम्बन करता है। उसी प्रकार मेघ ग्रीष्म के उपरान्त नवकदम्बों से मिल रहे हैं। अतएव उनके द्वारा चुम्बन करना स्वाभाविक ही है।

वर्षाऋतु कामोद्दीपक होती है। अतएव कवि अभयदेव ने कुछ वर्णन परम्परागत किये हैं। यथा—आतप को नष्ट करने वाला पयोधर अमृत वृष्टि से संसार को सुखी बनाता है किन्तु कामाग्नि से विरहिणियों को सन्तप्त करता है। वस्तुतः विधि के विविध चरित्र की यही विशेषता है -

भुवनमप्यमृतेन पयोधरः सुखयति प्रहतातपवैशसः।
विरहिणीर्दहति स्मरवह्निना पुनरहो चरितं विविधंविधेः॥[3]

---

१. जयन्तविजय, १८/१६-१७। २. वही, १८/२४।
३. वही, १८/२२।

इसीलिए तो मनस्विनी के स्पष्ट मान के खण्डन करने में निपुण विलासी जगत के कामियों के उपकारी नव वारिद के आने पर उसका सम्मान किया जाता है। कवि के शब्दों में—

जगविलासमयेऽपि मनस्विनी स्फुरितमानविखण्डनपण्डिते।
नवघनेबहुमानपरम्परा निशमभूदुपकारिणि कामिनाम् ॥[1]

केतकी की कामोद्दीपकता का वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि स्पष्ट केतकी द्युति वाले कुटजों से बढ़ी हुई कटाक्ष परम्परा वाली मुस्कुराती हुई यह बादलों की विभूति भूमण्डल पर सुशोभित हुई—

स्मितवती कुटजैः स्फुटकेतकीद्युतिभिरिद्धकटाक्षपरम्परा।
घनविभूतिरियं जगतीतले ललति रञ्जितकामनरेश्वर ॥[2]

प्रस्तुत स्थल पर भी कवि ने मेघ तथा केतकी पर नायक एवं नायिका का आरोप किया है।

कवि अभयदेव ने वर्षाऋतु में प्रवाहित होने वाली नदियों का भी मनोहारी चित्रण प्रस्तुत किया है—पर्वत की चोटियों से गिरने वाली नदियों का जल-प्रवाह मानो त्रिलोक का उपकार करने से घूमते हुए बादलों के यश के समान सुशोभित हो रहा है—

गिरिशिरः परिपातितरङ्गिणीतरलतुङ्गतरङ्गपयःप्लवः।
त्रिजगतामुपकारितया भ्रमद्यश इव प्रतिभाति पयोमुचः ॥[3]

इस प्रकार कवि अभयदेव द्वारा वर्णित वर्षाऋतु के वर्णन में सरलता और स्वाभाविकता है तथा प्रसाद गुण ने उसके सौन्दर्य को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है।

शरद ऋतु वर्णन

वर्षा ऋतु के उपरान्त शरद ऋतु का आगमन होता है। कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में शरद ऋतु का चित्रण करने में अपनी विशेष सहृदयता एवं सुरुचि का परिचय दिया है। शरत्कालीन दृश्य को कवि ने अत्यन्त रोचकता के साथ अनुप्रास, यमक तथा उपमा अलङ्कार के माध्यम से चित्रित किया है। काव्यगत अलङ्कारों के अतिरिक्त कवि का मन कमल समुदाय पर रमण करने वाले हंस समूह में रम जाता है कारण, कि इस ऋतु में कमल समुदाय पर कलरव करने वाला हंस समूह उस पर बलात् रमण करता है क्योंकि गुणियों का संगम अत्यन्त इष्ट वस्तुओं पर धुरीणता को प्राप्त करता है—

---

१. जयन्तविजय, १८/२६।   २. वही, १८/२७।
३. वही, १८/२५।

इह मरालकुलं कमलाकरे सरभस रमते कलकूजितम् ।
विशदपक्षवतां गुणिसङ्गमः कलयतीष्टतरेषु धुरीणताम् ॥[1]

शरद ऋतु के आगमन मात्र से ही आकाश निर्मल हो जाता है। फलतः विमल चन्द्र की कान्ति द्विगुणित हो उठती है। आकाशमण्डल में व्याप्त नक्षत्र समूह भी ऐसा प्रतीत होता है कि मानो श्वेत मोती बिखेर दिये गये हों—

जलदबन्धनमुक्तिमहे विधोः स्नपयितुर्जलधेरिव वीचितः ।
पतितमुज्ज्वलमौक्तिकमण्डलं स्फुरति तारकचक्रमिषादिव ॥[2]

शरद ऋतु में रमणीयता का विस्तार हो जाता है, क्योंकि वर्षाऋतु में उत्पन्न होने वाला कीचड़ दृष्टिगोचर नहीं होता है—

जगति पङ्कमकारि मम द्विषा जलभृता सरितश्च विवर्धिता ।
इति रुषेव रविस्तद शोषयत्प्रविदधेति तनूरबला हिताः ॥[3]

अर्थात् संसार में पङ्क ने मुझसे द्वेष किया था यौर नदियों को बढ़ाया था इसलिए कुपित होता हुआ सूर्य उसका शोषण करने लगा तथा अबलाओं के हित के लिए तनु शरीर धारण किया। प्रस्तुत स्थल पर कवि ने मानवीय व्यापारों का आरोप किया है क्योंकि जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने विपक्षी का दमन करता हुआ स्वजनों पर अनुकूल रहता है उसी प्रकार सूर्य अपने विपक्षी का दमन करता हुआ भी अबलाओं का हितैषी है।

शरद ऋतु में गोपाङ्गनायें जड़हन धान से लहलहाते हुए खेतों की रक्षा करती हैं। उनके कोकिल कण्ठ से निःसृत ध्वनि तरुणों के लिए घातक हो सकती है। अतएव कवि की कल्पना में मृगनयनी नवगोपिकायें हिरण आदि से कलमशाली (जड़हन धान) वन की उसी प्रकार रक्षा करती हैं जिस प्रकार से कामदेव के वाणों के गिरने से नवसंगम में अपने कलरवों से तरुणों की रक्षा करती है—

कमलशालिवनं नवगोपिका मृगदृशः परिपान्ति मृगादितः ।
कलरवैस्तरुणान्नवसंगमे कुसुमसायकसायकपाततः ॥[4]

शरद ऋतु में शनैः-शनैः चन्द्रमा की शुभ्रता पीतिमा में परिवर्तित हो जाती है किन्तु अभयदेव इसका कारण भी खोज निकालते हैं—

---

१. जयन्तविजय, १८/३६ ।
२. वही, १८/३७ ।
३. वही, १८/३८ ।
४. वही, १८/४३ ।

मृगदृशां कलगीतरसे निशि प्रसरतीह जगन्मुदमाययौ ।
मृगवियोगभिया मृगलाञ्छनः पुनरभूदतिपाण्डुवपुर्ध्रुवम् ॥[1]

अर्थात् रात में मृगनयनियों के कलकलगीत रस के फैलने पर सारा संसार परम आनन्द को प्राप्त हुआ परन्तु चन्द्रमा हिरण के वियोग के भय से अत्यन्त पीले शरीर वाला फिर से हो गया ।

कवि अभयदेव को शरद ऋतु को नारी के रूप में चित्रित करना विशेष प्रिय प्रतीत होता है । उन्होंने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में शरद की कल्पना नारी के रूप में की है—

जगति राजसि रक्षयमण्डलैर्धनसमृद्धिबलैश्चविभूषितः ।
इति जयन्तनृपः सुभगैर्गुणैर्हृतहृदा शरदा समुपासत ॥[2]

अर्थात् जयन्त राजा धन की समृद्धि और बल के अक्षय मण्डल से देदीप्यमान संसार में विभूषित है इसलिए उसके शुभगुणों से आकृष्ट होकर शरद् ऋतु ने भली-भाँति उसकी सेवा की ।

कवि अभयदेव द्वारा की गयी यह कल्पना वस्तुतः नवीन नहीं कही जा सकती । शरद् ऋतु की वधू के रूप में कल्पना संस्कृत काव्य में अनेक कवियों ने की है । सर्वप्रथम कविकुलगुरु कालिदास ने शरद ऋतु को बधू के रूप में चित्रित किया है—

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या ।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नवधूरिवरूपरम्या ॥[3]

अर्थात् विकसित काँस के परिधान धारण किये हुए, मत्त हंसों की बोली के सुन्दर नूपुर पहने हुए, पके हुए धान से मनोहर शरीर वाली एवं विकसित कमल रूपी मुख वाली शरद ऋतु नवविवाहिता रूपवती वधू के समान आ पहुँची ।

महाकवि भारवि ने भी शरद् ऋतु की वधू अथवा अङ्गना के रूप में कल्पना की है—

धृतबिसवलयावलिर्वहन्ती कुमुदवनैकदुकूलमात्तबाणा ।
शरदमलतले सरौजपाणौ धनसमयेन वधूरिवाललम्बे ॥[4]

अर्थात् मृणालतन्तुरूप कंकण को, कुमुदनी के वन रूप वस्त्र को एवं वाण के पुष्पों को धारण करती हुई शरद्रूपी वधू के सुकोमल कर-कमलों का आलम्बन वर्षा ऋतु रूपी वर ने किया ।

---

१. जयन्तविजय, १८/४५ ।
२. वही, १८/४६ ।
३. कालिदास, ऋतु संहार, ३/१ ।
४. किरातार्जुनीय १०/२४ ।

भारवि के पश्चात् कवि माघ ने भी शरद् की वधू के रूप में कल्पना दो स्थलों पर की है। यथा—

सविकचोत्पलचक्षुषमैक्षतक्षितिभृतोऽङ्कगतां दयिताभिव ।
सरदमच्छगलद्वसनोपमाक्षमघनामघनाशकीर्तनः ॥[1]

अर्थात् जिनके कीर्तनमात्र से सम्पूर्ण पाप पुञ्ज नष्ट हो जाते हैं। ऐसे भगवान् कृष्ण ने विकसित कमलरूपी नेत्रों वाली एवं नीचे गिरते हुए निर्मल वस्त्रों के समान श्वेत मेघों से युक्त शरद् ऋतु को रैवकत (राजा) के अङ्ग में विराजमान स्त्री की भाँति देखा।

अपि च—

विलुलितामनिलैः शरदंगना नवसरोरुहकेशरसम्भवाम् ।
विकरितुं परिहासविधित्सया हरिवधूरिवधूलिमुदक्षिपत् ॥[2]

अर्थात् शरद बधू ने वायु से उड़ाई हुई, नवीन कमलों की केसरों से उत्पन्न धूलि को परिहास की इच्छा से मानो कृष्ण की स्त्रियों के ऊपर बिखेरने के लिए फेंक दिया।

इस प्रकार संस्कृत कवियों द्वारा शरद् का वधू के रूप में चित्रण काव्य परम्परागत है किन्तु प्रत्येक कवि के वर्णन की शैली में अपनी मौलिकता है। यदि कवि कालिदास ने उपमा और रूपक की संसृष्टि से शरद को एक वधू के रूप में चित्रित किया है तो भारवि ने श्लेषमूलातिशयोक्ति एवं उपमा के शङ्कर से शरद वधू का वर से सम्बन्ध स्थापित कर अपनी नूतन कल्पना का परिचय दिया है। किन्तु माघ ने उपमा के आधार पर एक अद्वितीय चित्र ही प्रस्तुत किया है जो कवि कालिदास और भारवि से बिल्कुल ही भिन्न है। कवि अभयदेव ने शरद ऋतु का वधू के रूप में चित्रण श्लेषोपमा के माध्यम से किया है जो तुलनात्मक दृष्टि से अधिक साम्य रखता है।

कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में षड् ऋतुओं में से इन्हीं चार ऋतुओं का सामयिक चित्रण प्रस्तुत किया है। ऋतु वर्णन में कवि प्रकृति से अत्यधिक प्रभावित है। ऋतुओं का सम्बन्ध प्रकृति से होने के कारण यह स्वाभाविक ही है। महाकाव्यों की प्राचीन परम्परा को सँजोते हुए कवि ने नवीनता को भी प्रश्रय दिया है। निश्चय ही कवि का यह वर्णन सरस एवं हृदयग्राही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कवि अभयदेव कृत वस्तु वर्णन से उनके महाकाव्य में सरसता और रोचकता का स्पन्दन हुआ है क्योंकि प्रकृति की मनोरम सौन्दर्य भावना सभी प्राणियों को आकर्षित करती है। सभी के

---

१. शिशुपालवध, ६/४२। २. वही, ६/५२।

हृदय में प्रकृति की छवि प्राण शोभा आनन्द का सागर उड़ेल देती है। कवि तो और भी सौन्दर्य द्रष्टा होता है। सामान्य जन जिस वस्तु को साधारण दृष्टि से देखते हैं कवि उसको उत्कृष्ट रूप में देखता है। कवि अभयदेव द्वारा वर्णित किसी भी वस्तु का अति विस्तारपूर्वक वर्णन न होने के कारण उसमें रोचकता एवं आकर्षण बना हुआ है। कालिदास जैसी नैसर्गिक काव्य प्रतिभा की प्रकृष्टता का अभाव होने पर भी एवं भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष जैसी क्लिष्टता और पौराणिक व्युत्पत्ति का स्पर्श न होने के कारण भी उनका वस्तु वर्णन हृदय संवेद्य है। उपमा और उत्प्रेक्षा की स्वाभाविक छटा पाठक को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। सूर्यास्त चन्द्रोदय आदि वर्णन में उनकी वर्णनशक्ति अपने सुन्दरतम रूप में प्रकृष्ट हुई है। वस्तु वर्णन में कवि ने प्रायः अभिधावृत्ति द्वारा वाच्यरूप में भाव व्यक्त किये हैं। यत्रतत्र व्यञ्जना वृत्ति का स्फुरण भी हुआ है। दर्शन के तत्त्वों से प्रभावित होने के कारण कवि का लक्ष्य दार्शनिक वस्तुओं का विश्लेषण करना ही अधिक रहा है किन्तु फिर भी कवि की अन्तःप्रवृत्ति प्राकृतिक छटा को देखने में रम गयी है। फलतः वस्तु वर्णन की अप्रतिम क्षमता उसके 'जयन्तविजयम्' महाकाव्य में परिलक्षित होती है।

षष्ठ अध्याय

'जयन्तविजय' महाकाव्य में रस निरूपण

रस विषयक विचार

प्रायः समस्त काव्य-प्रकारों का आत्म-तत्त्व रस है, यही कारण है कि प्राचीन काल से ही काव्य-मर्मज्ञों ने रस की व्यापकता एवं महत्ता को स्वीकार किया है। आचार्य आनन्दवर्धन के मतानुसार काव्य के शोभावर्द्धक तत्त्व, गुणालङ्कार-रीति एवं छन्द की योजना काव्य में अन्ततोगत्वा रसोत्कर्ष में सहायक सिद्ध होनी चाहिए, अन्यथा वे परिहार्य हैं।[1] महाकाव्य अथवा नाटक में सन्धि सन्ध्यंगों की योजना भी रसानुकूल होनी चाहिए, शास्त्र सम्पादन की इच्छा से नहीं।[2] ध्वन्यालोककार के उपर्युक्त मन्तव्य से स्पष्ट है कि काव्य का मुख्य तत्त्व रस है। अन्य तत्त्व रसाश्रित हैं।

भरत मुनि ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति बताई है।[3] लोक-व्यवहार में जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे ही जब नाट्य अथवा काव्य में रति आदि स्थायी भावों के होते हैं, तब उन्हें कारण, कार्य और सहकारी न कहकर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहा जाता है। उन विभाव आदि के द्वारा जो स्थायी भाव व्यक्त होता है वह रस कहलाता है।[4]

साहित्य दर्पणकार के अनुसार भी सहृदय-हृदय में वासनारूप से अवस्थित रत्यादि रूप स्थायी भाव जब (कवि वर्णित) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के द्वारा अभिव्यक्त हो उठते हैं तब वे रस कहे जाते हैं।[5]

'जयन्तविजय' में रस योजना

कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य का प्रधान रस वीर है। किन्तु रौद्र और भयानक रस वीर रस के परिपोष में सहायक सिद्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त यथास्थान अङ्ग रूप में वात्सल्य, शृङ्गार और शान्त रस भी विद्यमान है। महाकाव्यों में प्रधान रस के अतिरिक्त अन्य रसों को भी गौण रूप में रखने

---

१. ध्वन्यालोक २/१६, ३/१४। २. वही, ३/१२।

३. विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। —नाट्यशास्त्र, अध्याय ६।

४. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्य काव्ययोः॥
विभावानुभावस्तत् कथ्यते व्यभिचारिणः।
व्यक्तस्स तैर्विभावाद्यै स्थायी भावो रसः स्मृतः॥ —काव्यप्रकाश, ४/२७,२८।

५. विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभाव सचेतसाम्॥ —साहित्यदर्पण, ३/१।

का विधान किया गया है, क्योंकि मानवीय जीवन एक रस न होकर बहुभाव समन्वित है।[१] अतः महाकाव्य में अनेक रसों की उपलब्धि उचित तथा स्वाभाविक ही समझ पड़ती है।

शृंगार रस

संस्कृत के प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने 'शृङ्गार' का विवेचन सर्वप्रथम किया है। भोज ने तो शृङ्गार, वीर आदि दस रसों के स्थान पर रस की संज्ञा केवल 'शृङ्गार' को ही दी है।[२] आनन्दवर्धन भी इसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि 'शृङ्गार रस समस्त संसारी प्राणियों के अनुभव का विषय होने के कारण कमनीयता की दृष्टि से प्रमुख है।' अतः इसके वर्णन में कवि को अत्यन्त सावधान एवं प्रयत्नशील होना चाहिए।[३] इसी कारण संस्कृत साहित्य के महान् कवियों, आचार्यों तथा मनीषियों ने समस्त रसों में शृङ्गार रस को ही अधिक ग्राह्य और सार्वभौम मानकर इसी का ही अधिकाधिक विवेचन किया है।[४]

'शृङ्गार रस' शब्दार्थ की दृष्टि से कामोद्रेक अथवा कामवृद्धि का द्योतक है। शृङ्गार शब्द दो शब्दों के योग से बना है—शृङ्ग+आर। 'शृङ्ग' का अर्थ है कामोद्रेक अथवा काम की वृद्धि तथा 'आर' गत्यर्थक 'ऋ' धातु से बना है जिसका अर्थ है प्राप्ति। अतएव 'शृङ्गार' का अर्थ है 'काम वृद्धि की प्राप्ति'। 'शृङ्गार रस' रति नामक स्थायी भाव से उद्भूत होता है। इस रस के आलम्बन उत्तम प्रकृति के प्रेमीजन होते हैं। अनुराग शून्य वेश्या नायिका को छोड़कर अन्य प्रकार की नायिकाएँ तथा दक्षिण आदि प्रकार के नायक ही इसके उपयुक्त आलम्बन विभाव होते हैं।[५]

---

१. 'अङ्गानि सर्वे रसाः', साहित्यदर्पण, ६/३१७।

२. शृङ्गारवीरकरुणद्भुतरौद्रहास्य
   वीभत्सवत्सल भयानक शान्तनाम्नः।
   अम्नासिषु दशरसान सुधियो वयंतु
   शृङ्गारमेव रसनाद्रसमाम नामः॥ —शृङ्गार प्रकाश पृ० ४७०।

३. शृङ्गार रसो हि संसारिणां नियमेनानुभव विषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः। —ध्वन्यालोक, ३/३० कारिका।

४. Of all the rasas howevre sringar (or love) from the absorbing theme of sanskrit poetry and Drama in original and as this particular poetic sentiment has an almost universal appeal, these writers naturally work out this important ras in all its phases.
   S. K. De—'Studies in the history of Sanskrit poetics'. Page-333.

५. शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
   उत्तम प्रकृति प्रायो रसः शृङ्गार इष्यते॥
   परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चानुरागिणीम्।
   आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्चनायकाः॥ —साहित्यदर्पण।

चन्द्रमा, भ्रमर, एकान्त स्थान आदि इसके उद्दीपन विभाव होते हैं। अनुराग भ्रकुटि भङ्ग, कटाक्ष आदि उसके अनुभाव तथा उग्रता, मरण, आलस्य, जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य (सञ्चारी भाव) इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।[1]

'जयन्तविजय' महाकाव्य में शृङ्गार के संयोग-वियोग दोनों ही पक्षों का विवेचन हुआ है। इस महाकाव्य में विप्रलम्भ पक्ष प्रथम आया है, संभोग बाद में। विप्रलम्भ, शृङ्गार-पूर्वराग, मान, प्रवास एवं करुणात्मक राग से चार प्रकार का होता है। मिलन के पूर्व नायक और नायिका में मिलन की उत्कण्ठा के कारण उत्पन्न होने वाली व्याकुलता को पूर्वराग कहते हैं। पूर्वराग चार प्रकार से सम्भव है—चित्रदर्शन, गुण श्रवण, स्वप्न दर्शन एवं प्रत्यक्ष दर्शन। कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में गुण श्रवण नामक पूर्वराग का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया है। यथा—

यामिनीचरमयामचिरागे चक्रवाक इव संभृतरागः।
स प्रियां नृपतिवंशपताकां तां तदेक्षितुमभूदनिमेषः॥
आस्य सौरभमिलन्मधुपालिध्वानमांस लितनूपुर नादैः।
तत्र कांचन विभाव्य मृगाक्षीं सोऽपि कौतुकवशेन विवेश॥[2]

अर्थात् उस राजकुमारी के गुणों को सुनकर ही रात्रि के अन्तिम प्रहर के सुन्दर समय में चक्रवाक के समान बढ़े हुए अनुराग वाले वे नृपति जयन्त नृपतिवंश की पताका के समान प्रिया को देखने के लिए निर्निमेष हुए और मुख की सुगन्ध से मिले हुए पराग से एवं मार्ग में बजते हुए नूपुर नादों से वहाँ पर किसी मृगाक्षी को जानकर कुतूहलवश प्रवेश किया।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में रति स्थायीभाव है। आलम्बन कनकवती तथा आश्रय नृप जयन्त है। कनकवती का रूप तथा उसके गुण उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, मद, औत्सुक्य, चपलता आदि व्यभिचारी भाव हैं। भावातिरेक के कारण जयन्त का प्रस्थान करना अनुभाव है। हर्ष के कारण स्वेद, स्तम्भ आदि सात्विक भाव हैं।

गुण श्रवण की भाँति ही 'प्रत्यक्षदर्शन' नामक पूर्वराग का भी बहुत ही सुन्दर वर्णन कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में किया है क्योंकि विद्युत्

---

१. चन्द्रचन्द्रनरोलम्बस्तादयुद्दीपनं मतम्।
भ्रू विक्षेप कटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः॥
त्यक्त्वोग्रयमरणालस्य जुगप्साव्यभिचारिणः।
स्थायिभावो रतिः श्याम वर्णोऽयं विष्णुदैवतः॥ —साहित्यदर्पण, ३/१८५।

२. जयन्तविजय, १३/६,१०।

की कान्ति को जीतने वाली एवं अपने रूप से त्रिभुवन के नेत्रों को तृप्त करने वाली कनकवती को देखकर आश्चर्य से चकित होकर जयन्त सोचने लगते हैं कि क्या इस पर्वत पर पर्वत पुत्री पर्वत की सुन्दरता को देखने के लिये आई है ? या रति है ? अथवा रमा है ? अन्त में वे यह निश्चय कर लेते हैं कि निमेष लगने के कारण यह मृत्युलोक की ही ललना है। इसके चरणों की सौभाग्य लक्ष्मी के लाभ की लम्पटता के कारण पृथ्वी के भार को वहन करने के व्रत का पालन करते हुये कूर्म रसिक हो गये। वे कल्पना करते हैं कि इस सुन्दर भौंहों वाली के जुही के समान पैर रखने एवं सुवर्णमणि की नूपुर ध्वनियों से कामदेव राजा सदैव जागता रहता है। इसकी सुन्दर रोम रहित निरंकुश जंघाओं की रमणीयता को देखकर ऐक ललना ने पराभव के दुःख के कारण ही वनवास का आश्रय लिया। कवि की कल्पना उस समय चरम सीमा पर पहुँच जाती है जब युवराज जयन्त सोचने लगते हैं कि कुचों के गुरुतर भार से दबाये गये और विस्तृत जाँघों से रोके गये इसके उदर ने असह्य-तम वेदना से ही कृशता को प्राप्त किया है तथा इसकी सीधी ऊँची नासिका के बगल में फैले हुए दोनों नेत्र एक नाल में दो कमल के पुष्प के समान सुन्दर वैभव को धारण करते हुए से प्रतीत हो रहे हैं—

तां तडिद्द्युतिविजित्वरकान्तिं रूपर्तापितजगत्नयनेत्राम् ।
वीक्ष्यविस्मयतरङ्गितचेताः स व्यचिन्तयदिदं युवराजः ।।
पर्वते किमिह पर्वतपुत्री पर्वतश्रियमवेक्षितुमागात् ।
किं रतिः किमु रमाखलु नैव मर्त्यलोकललनैव निमेषात् ।।
एतदङ्घ्रि सुभगा कृति लक्ष्मीलाभलम्पटतयेव सदापि ।
क्षोणिभारवहनव्रतचर्यासेवनैव रसिकोऽजनि कूर्मः ।।
सुभ्रुवः क्रमपरिक्रमणेऽस्या जात्यहेममणिनूपुरनादैः ।
बोभवीति मकरध्वजभूभृन्निद्रया सततमेव दरिद्रः ।।
रामणीयकमनङ्कुशमस्या जङ्घयोरनघयोरवलोक्य ।
नूनमुद्गतपराभवदुःखा सत्तुरेणललना वनवासम् ।।
भारितं गुरुभरेण कुचाभ्यां विस्तृतेन जघनेन च रुद्धम् ।
इत्यसह्यतमवेदनयेन प्राप्तमेतदुदरं ननु कार्श्यम् ।।
एतदीय सरलोन्नतनासा वंशपार्श्वगतलोचनयुग्मम् ।
एकनालकमलद्वयशोभावैभवं दधदिव प्रतिभाति ।।[1]

यहाँ पर रति स्थायी भाव है। आलम्बन कनकवती तथा आश्रय युवराज जयन्त हैं। कनकवती का रूप उद्दीपन विभाव है। हर्ष, उन्माद, औत्सुक्य, चपलता

१. जयन्तविजय, १३/११, १२, १६, १७, १६, २४ तथा २६।

आदि व्यभिचारी भाव है। सुन्दरी के ग्रहणार्थ उत्सुकता-अनुभाव है जिसके द्वारा पूर्ण शृङ्गार की अभिव्यक्ति हो रही है।

मान—विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत मान का बड़ा ही सरल, स्वाभाविक एवं सजीव चित्रण महाकवियों के महाकाव्य में प्राप्त होता है। कवि अभयदेव ने भी 'जयन्तविजय' महाकाव्य में नायिका के मान का बड़ा ही सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है। कवि का कथन है कि विशेष वियोगी दिनों में चित्रित समस्त कानन पर ताप से तप्त मानिनी के मानस में मदन ने अति विस्तारिता को प्राप्त किया। इसीलिये तो मनस्विनी के स्पष्ट मान के खण्डन करने में निपुण विलासी जगत् के कामियों के उपकारी नववारिद के आने पर बहुमान परम्परा हुई अर्थात् वर्षा-ऋतु का विलासी जगत् ने स्वागत किया क्योंकि यह उनकी नायिकाओं के मान को खण्डित कर देता है—

> तत्र चित्रित समस्त काननेऽनेहसि क्षपितविप्रयोगिणि।
> प्राय तापकलितेषु मानिनीमानसेषु मदनोऽति विस्तृतिम् ॥[१]
> जगत विलाससमये ऽपि मनस्विनी स्फुरितमान विखण्डन पण्डिते।
> नवघने वहुमान परम्परा निशमभूदुपकारिणि कामिनाम् ॥[२]

मान खण्डन—संस्कृत कवियों ने मान वर्णन के पश्चात् मान खण्डन का भी ललित वर्णन प्रस्तुत किया है। 'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि उसी परम्परा का अनुसरण करते हुये मान खण्डन का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत करता है—'मृगनयनियों के मान खण्डन की विधि में वसन्त प्रिय कामदेव से कोमल सुन्दर निनाद करने वाली कोयल की पञ्चम ध्वनि को अस्त्र बनाया गया। इसीलिए पति के स्वयं नत होने पर भी मान की वृद्धि से सखियों पर कलुषित, दूतियों पर अत्यन्त क्रोध करने वाली जो स्त्रियाँ वक्रता को धारण किये हुए थीं, वे स्त्रियाँ प्रातः वायु की ध्वनि के बहाने उत्सुकतापूर्वक कामदेव की आज्ञा को पाकर प्रिय का आलिङ्गन करने लगीं—

> माधव प्रणयिना मनोभुवा मानखण्डन विधौ मृगीदृशाम्।
> कोमलोऽपि कलकण्ठकामिनी पञ्चमध्वनिरमीयतास्त्रताम् ॥[३]
> मानोत्तानतया सखीषु कलषाः प्रेङ्खोलरोषाश्चिरं
> ताः प्रातश्चरणायुधध्वनिमिभादाज्ञामिवाप्यस्मर-
> क्षोणीशस्य समुत्सुकाः प्रियपरीरम्भं स्त्रियस्तन्वते ॥[४]

---

१. जयन्तविजय, ७/३५।
२. वही, ८/३६
३. वही, ७/३१।
४. वही, ८/६८।

अपि च—

अथकर जलयन्त्रैर्वारिपूरं किरद्भिः
स्फुरति वियति वर्षाडम्बरेऽन्योन्यमुच्चैः ।
जलललितिषु तासां प्रीतिवल्लीविलासं
कलयति स च शोषं मानमुद्राजवासः ॥[1]

अर्थात् जलकेलि के प्रसङ्ग में कवि अभयदेव का कहना है, कि हाथरूपी पिचकारियों से एक दूसरे पर अत्यधिक मात्रा में जल को बिखेरने से आकाश में वर्षाडम्बर को प्रकट करती हुई जल की क्रीडाओं में उनके प्रेमरूपी लता का विलास तथा मानरूपी मुद्रा का ह्रास उत्पन्न हुआ ।

सम्भोग शृंगार—कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य में सम्भोग शृङ्गार का भी चरमोत्कर्ष प्रदर्शित किया गया है । अष्टम सर्ग में जयन्त अपनी प्रियाओं के साथ वन विहार, जल विहार आदि का रसास्वादन करते हैं । इस अवसर पर संभोग शृङ्गार का पूर्ण परिपाक प्राप्त होता है । संभोग शृङ्गार के समस्त भेदों—सन्दर्शन, स्पर्श, वस्त्रग्रहण, चुम्बन, आलिङ्गन, दोलान्दोलन, पुष्पावचय, जलकेलि आदि का यथोचित वर्णन 'जयन्तविजय' महाकाव्य में प्राप्त होता है ।

सन्दर्श का उदाहरण

व्यालिलेख मुहुरङ्घ्रिणा महीं सा चकर्ष भृश मंशुकाञ्चलम् ।
श्रीजयन्तयुवराजदर्शने कारिता किमु न पुष्पधन्वनः ॥[2]

प्रस्तुत उदाहरण में उस समय का वर्णन किया गया है जब रतिसुन्दरी जयन्त को देखती है । यहाँ रति स्थायी भाव है । आलम्बन विभाव जयन्त तथा आश्रय रतिसुन्दरी है । जयन्त का रूप तथा उनके गुण उद्दीपन विभाव हैं । हर्ष, क्रीडा, मद, जड़ता, चपलता, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं । भूमि को पैर के नखों से खोदना, अंशुकाञ्चल को खींचना आदि अनुभाव हैं । हर्ष के कारण स्वेद, स्तम्भ आदि सात्विक भाव हैं । यहाँ पर नायिका का संभोग अभिलाषत्व व्यंग्य हो रहा है । जयन्त को देखते ही उसके हृदय में संभोगेच्छा बलवती हो जाती है जिसके फलस्वरूप वह अपने अंशुकाञ्चल को बार-बार खींच रही है ।

इसी प्रकार त्रयोदश सर्ग में जयन्त और कनकवती के परस्पर सन्दर्शन का उदाहरण भी कवि अभयदेव ने प्रस्तुत किया है—

यत्परस्परसमर्पितचि साचि संचरितनेत्रयुगं तत् ।
यन्मनोभवमनोरथपात्रं तत्तयोरजनि दर्शनमत्र ॥

१. जयन्तविजय, ८/३७ । २. वही, १६/३७ ।

रूपकौतुकविलोकनलोलं लोचनाम्बुजयुगं च मिथस्तौ ।
हर्षविन्दुभिरिवार्थयतः स्म स्वाभिवाञ्छितकरः खलु पूज्यः ॥
तौ मिथोऽप्रतिमकौतुक रूपं श्री विलोकन विमोहित नेत्रौ ।
तत्क्षणाद मृत सिन्धुतरङ्गस्नापिताविव तदा समभूताम् ॥[1]

प्रस्तुत प्रसंग में स्थायी भाव रति है । जयन्त कनकवती की हृदयस्थ रति का आलम्बन तथा रति सुन्दरी जयन्त की हृदयास्थ रति का आलम्बन विभाव है । परस्पर एक दूसरे का रूप तथा गुण उद्दीपन विभाव हैं । हर्ष, मद, जड़ता, औत्सुक्य, चपलता, मोह आदि व्यभिचारी भाव हैं । नेत्र निमीलन, वस्त्र का भीग जाना आदि अनुभाव है । हर्ष के कारण स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्विक भाव है ।

स्पर्श का उदाहरण

क्वचन जघनविम्बे क्वापि तुङ्गस्तनान्ते
क्वचिदपि मुखपद्मे क्वापि कण्ठेऽम्बुपूरम् ।
प्रगुणितकरयन्त्रैरक्षिपत्प्रेयसीनां
करकमलमिवायं कामकेलौ विलासी ॥[2]

यहाँ नायक जयन्त कामकेलि के प्रसंग में कहीं जघन स्थल पर, कहीं ऊँचे उरोजों पर, कहीं मुखकमल पर और कहीं कण्ठ पर भरे हुए पानी के चुल्लू को करतल के सदृश फेंक रहे हैं । रति स्थायी भाव है । आलम्बन विभाव नायिका और आश्रय नायक है । सरोवर की शोभा तथा नायिका के अंगों की सुन्दरता उद्दीपन विभाव हैं । नेत्र निमीलन, मुस्कुराहट एवं नत मुख आदि अनुभाव आक्षिप्त हैं । स्तम्भ, रोमाञ्च आदि सात्विक भावों के द्वारा शृंगार रस की अभिव्यक्ति हुई है ।

वस्त्राहरण का उदाहरण

पयसि लघु निलीनः कौतुकेनापकर्ष-
त्परिहितसि (च) यान्तं दक्षयालक्षिकान्तः ।
तदनु च स तयोक्तः कोऽपि चौरोऽमेवं
सरसविधि बबन्धे बाहुपाशेन सद्यः ॥[3]

प्रस्तुत प्रसंग में जयन्त अपनी प्रिया के साथ सरोवर में जलक्रीडा कर रहे हैं । शीघ्रतापूर्वक डुबकी लगाये हुए तथा कुतूहलवश वस्त्र खींचते हुए उन्हें किसी दक्ष स्त्री के द्वारा पकड़ लिया गया तथा 'यह कोई चोर है' इस तरह से कहते हुए

---

१. जयन्तविजय, १३/९८-१०० ।
२. वही, ८/४२ ।
३. वही, ८/४१ ।

बाहुपाश में पकड़ लिया गया। यहाँ रति स्थायी भाव है। परस्पर आलम्बन विभाव जयन्त व उनकी प्रिया है। सरोवर की सुन्दरता उद्दीपन विभाव है। हर्ष, उन्माद, औत्सुक्य, चपलता आदि व्यभिचारी भाव हैं। वस्त्र ग्रहणार्थ उत्सुकता तथा अनुनय-विनय अनुभाव है, जिससे पूर्ण शृंगार की अभिव्यक्ति हो रही है।

चुम्बन का उदाहरण

कुवलयदलनेत्रां पक्वनारंगनव्य-
त्वगुदितरसधाराक्षेपतो व्याकुलाक्षीम्।
विदधदथ जयन्तोऽन्यां चुचुम्बे तदग्रे
गुरुरिह चतुरत्वे कामदेवोऽस्य नूनम् ॥[1]

प्रस्तुत उद्धरण में जयन्त वसन्त ऋतु में अपनी प्रियाओं के साथ विहार कर रहे हैं। नाना प्रकार की उनकी क्रीडाओं को देखकर वह प्रेमातुर हो उठते हैं परन्तु उन समस्त नायिकाओं के समक्ष चुम्बन करने में लज्जा का अनुभव करते हैं। अतः किसी नायिका के सामने पकी हुई नारंगी के वल्कल से निकले हुए रस के गिराने से उसे व्याकुल नेत्र वाली करते हुए जयन्त ने कमल दल के समान नेत्र वाली दूसरी नायिका का चुम्बन किया। वस्तुतः उसकी इस क्रीडा में कामदेव ही उसका गुरु ठहरा। यहाँ रति स्थायी भाव है। जयन्त और उनकी प्रिया परस्पर आलम्बन विभाव है। उपवन, वन विहार तथा नायिकाओं की क्रीडायें उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद, चपलता, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। आलिंगन और चुम्बन अनुभाव हैं। रोमाञ्च, स्वेदादि सात्विक भाव आक्षिप्त है। जिनके सहयोग से संयोग शृंगार आस्वादित हो रहा है।

आलिङ्गन का उदाहरण

मुद्रितेक्षणयुगः सुखनिद्रामुद्रया नववधूपरिरम्भात्।
उत्तरंगरतिसागरमग्नस्तत्क्षणं क्षणमिवैष निनाय ॥[2]

प्रस्तुत प्रसंग में कवि अभयदेव कुमार जयन्त तथा नवपरिणीता कनकवती के परस्पर आलिंगन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'राज कुमार ने दोनों नेत्र बन्द कर नववधू के परिरम्भन से सुख की निद्रा से उत्कर्ष तरंग वाले रति के सागर में निमग्न होते हुए उन क्षणों को एक क्षण के समान बिताया। यहाँ स्थायी भाव रति है। जयन्त और कनकवती परस्पर आलम्बन विभाव हैं। महल की रमणीयता एवं शय्या की सजावट उद्दीपन विभाव है। हर्ष, उन्माद, चपलता, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। रोमाञ्च स्वेदादि सात्विक भाव हैं। इनके सहयोग से सम्भोग शृंगार अभिव्यक्त हो रहा है।

---

१. जयन्तविजय, ८/२१।
२. वही, १३/१०१।

पुष्पावचय, जलकेलि आदि के उदाहरण वर्णन प्रसंग वाले अध्याय में किये जा चुके हैं।

वीर रस

'उत्साह' रूप स्थायी भाव का आस्वाद ही वीर रस कहा जाता है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के वीर होते हैं। इसका वर्ण गौर है, तथा इसके देवता महेन्द्र हैं। महेन्द्र को सभी का वीराधिपतित्व प्राप्त है। वीर रस का स्थायीभाव 'उत्साह' है। उत्साह का अर्थ स्पष्ट करते हए शारदातनय ने 'भावप्रकाश' में कहा है कि किसी भी कार्य-विशेष को करने के लिए हमारे मानस में एक विशेष प्रकार की सत्वर क्रिया सजग रहती है। इसी क्रिया के द्वारा हम किसी भी कार्य को करने की प्रबल इच्छा रखते हैं। यही 'उत्साह' है।[1] जिस व्यक्ति में शक्ति या बल नहीं होता उसमें उत्साह भी नहीं होता। भानुदत्त के अनुसार पूर्णतया परिपुष्ट 'उत्साह' अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियों का प्रहर्ष ही वीर रस है।[2] इसके आलम्बन विभाव जितेव्य शत्रु आदि होते हैं। इन जितेव्य शत्रु आदि की चेष्टायें इसके उद्दीपन विभाव हैं। युद्धादि की सामग्री अथवा अन्यान्य सहायक साधनों का अन्वेषण इसका अनुभाव है। धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क रोमाञ्च आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।[3]

जयन्तविजय' महाकाव्य का अङ्गी रस वीर है। वीर चार प्रकार के माने गये हैं—दानवीर, धर्मवीर, दयावीर तथा युद्धवीर। वीरता के यह चारों गुण पुरुष में प्रदर्शित किये गये हैं। कवि अभयदेव के जयन्तविजय महाकाव्य में दानवीर, धर्मवीर एवं दयावीर का साङ्गोपाङ्ग चित्रण हुआ है। किन्तु युद्धवीरता का चित्रण किञ्चित विस्तार के साथ किया गया है—

युद्ध वीर—युद्धवीर का पूर्ण परिपाक चतुर्थ, नवम, दशम, एकादश तथा त्रयोदश सर्ग में प्राप्त होता है। इस प्रसङ्ग में कुछ उद्धरणों को देख लेना न्याय-संगत होगा—

---

१. उत्साह सर्वकृत्येषु सत्त्वरा मानसी क्रिया। —भावप्रकाश पृ० ३३।

२. रस सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, पृ० ३५९ पर उद्धृत।

३. उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साह स्थायिभावकः।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः॥
आलम्बन विभावास्तु विजेत व्यादयोमताः।
विजेतव्यादिचेष्टा द्यास्तस्योद्दीपन रूपिणः।
अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः।
सञ्चारिणास्तु धृतिमति गर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः॥
सच दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धास्यात्॥
—साहित्यदर्पण, ३/२३२-२३४।

स विक्रमक्षोणिधवान्वयाम्बर प्रभाकरः प्रीणितबन्धुपङ्कजः ।
असीमतेजः शमितारिकौशिकस्ततः प्रतस्थे चतुरङ्गसेनया ॥[1]

प्रस्तुत स्थल पर पिता विक्रमसिंह की आज्ञा से युद्ध के लिए जाते हुए युवराज जयन्त का वर्णन किया गया है। 'उत्साह' स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव सिंहलराज तथा प्रश्रय जयन्त हैं। हरिराज की सेना उद्दीपन है। जयन्त के पास इनके गर्वोक्तिपूर्ण सन्देश अनुभाव हैं। गर्व, आवेग, अमर्ष आदि स्थायी भाव है जिनके सहयोग से वीर रस आस्वादित हो रहा है।

पुनश्च—

अथविक्रमभूभर्तुः पुत्रः प्राज्यपराक्रमः ।
प्रताप इव पिण्डस्थः प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥
श्री जयन्त स्ततः पूर्वं पूर्वस्यामचलद्दिशि ।
चतुरङ्गचमूश्चक्रे चलयन्नचलामपि ॥
ततश्चीर खुरक्षुण्णक्ष्मापीठप्रभवैर्भृशम् ।
रजोभिरभवन्वन्ध्यावापारास्तरणेस्त्विषः ॥
तस्मिंश्चलतिभूपालमौलिलालित शासने ।
अहितानामवर्धन्तत्रास श्वासमहोर्मयः ॥[2]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में युवराज जयन्त के दिग्विजय के लिए प्रस्थान का वर्णन किया गया है। यहाँ 'उत्साह' स्थायी भाव है। विपक्षी राज आलम्बन एवं आश्रय जयन्त हैं। दिग्विजय की अभिलाषा उद्दीपन विभाव है। विपक्षी राजाओं को युद्ध के लिए आमन्त्रित करना एवं गर्वोक्ति अनुभाव है। गर्व, औत्सुक्य, मद तथा असूया आदि व्यभिचारी भाव हैं जिनसे 'उत्साह' परिपोष्य प्राप्त कर युद्ध वीर में आस्वादित हो रहा है।

युद्ध के लिए प्रस्थान करते हुए सैनिकों में वीर रस का सुन्दर निर्वाह करते हुए कवि अभयदेव कहते हैं कि शीघ्र होने वाले संग्राम के उत्साही वीर समूहों के मन में दर्प व्याप्त हो गया और हर्षातिरिक के कारण रोमाञ्च शरीर में उत्पन्न हो गया जिसके परिणामस्वरूप उनके शरीर में कवच बड़ी कठिनाई से आ रहा हैं। 'मुझ नवीन विजयश्री का तुम्हारी बल्लभा से आज सपत्न हो' इस प्रकार गद्-गद् वाणी से प्रिय आशीर्वाद को प्राप्त कर कोई वीर रण में अत्यन्त हर्षित हो रहा है—

आसन्नसंग्रामसमुत्सहिष्णोर्वीरव्रजस्यानशिरे मनांसि ।
हर्षं प्रकर्षैः समुदञ्चदुच्च रोमाञ्चचक्रैश्च चिरं वपूंषि ॥

---

१. जयन्तविजय, ६/६८ ।
२. वही, ११/१-२, ४-५।

रणोत्सवोत्साह समुद्भ विष्णु रोमाञ्चचञ्चत्कवचान्तरस्य ।
एकस्य कस्यापि महाभटस्य भातिस्मकृच्छ्रेणतनौतनुत्रम् ।
सापत्न्यमप्यस्तु जयश्रियामे नवीनया वल्लभया तवाद्य ।
प्रियाशिषं गद्‌गदया गिरेति श्रुत्वा ययौ कोऽपि रणेऽतिहर्षितः ॥[1]

यहाँ वीरों के हृदय में 'उत्साह' स्थायीभाव है। वैरी हरिराज आलम्बन तथा जयन्त आश्रय हैं। हरिराज का सीमा पर आ जाना तथा जयन्त द्वारा युद्ध की आज्ञा देना उद्दीपन विभाव है। वीरों का कवच धारण करना, निर्भय होकर युद्ध के लिए प्रस्थान करना, शरीर का रोमाञ्चित होना अनुभाव है। गर्व, आवेग, औत्सुक्य, हर्ष आदि सञ्चारी भाव है। इस प्रकार युद्ध प्रयाण जनित उत्साह की भव्य निदर्शना यहाँ प्रस्तुत की गयी है।

युद्ध क्षेत्र में एकत्रित होने वाली सेनाओं के अप्रतिम 'उत्साह' का वर्णन करने में कवि को विशेष सफलता मिली है। यथा—

तदाग्रसैन्ये रणतूर्यनादैः सहाच्छलद्भिस्तुमलोल्बणास्यैः ।
शितास्त्रशस्त्रैर्ववृषेऽतिमात्रं वर्षाम्बुवाहैरिव वारिवारैः ॥
योधे प्रसिद्धैर्युयुधेरिसौ (रो) धैः सहाश्ववारैः सममश्ववारैः ।
रथिप्रवीरै रथकैश्च सार्धं समानकक्षैर्जयबद्ध लक्षैः ॥
विनश्वरैरप्यसुभिः स्वकीयैरनश्वरं जन्ययशोऽर्थयद्भिः ।
राजन्यकैस्तत्र चिरं..........चक्रेऽहंपूर्विकापूर्वकमाजिकेलिः ॥
भटस्यकस्यापि बभौ शितासिभिन्नेभकुम्भोच्छलिता पतन्ती ।
मुक्तावली मूर्द्धनिपुष्पवृष्टिर्मुक्तेव देवैरवदानतोषात् ॥
मा कांदिशीकत्वमिहाश्रयध्वंयशश्चिनुध्वं निजपूर्वजानाम् ।
अदृष्टपूर्वं भवतां हि पृष्टं संख्येष्वयि.... ...वैरिवीरैः ॥
कोलाहलः सिंहलराजसैन्ये जितं जितं नः प्रभुणेत्युदस्थात् ॥
मूर्च्छावसाने च स भीमसेनोऽप्यथात्मसैन्यप्रमदेन सार्धम् ।
नीरन्ध्रवाणान्तरितान्तरिक्षं न्याक्ककारनादैर्बधिरी कृताशम् ॥
रणे तयोः स्फूर्जितमूर्जितं तद्भूव वा गोचरमेति यत्र ॥[2]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में जयन्त और हरिराज दोनों की सेना में वर्षाकालीन मेघों से जल की भाँति रण के तूर्यनाद के साथ अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा कर रही है। युद्ध स्थल में प्रसिद्ध शत्रुओं के साथ शत्रु, असवारों के साथ असवार और रथी के साथ रथी जय के लक्ष्य को बाँधते हुए डटे हुए हैं। राजागण अपने प्राणों के मोह को छोड़-

---

१. जयन्तविजय, १०/२७,२६,३२ ।
२. वही, १०/३६-४२, ४६, ५५, ५७ ।

कर अविनाशी यश की प्रथम प्राप्ति की आकुलता से युद्ध कर रहे हैं। किसी वीर के शिर पर तीक्ष्ण तलवार से काटे गये गजमस्तक से उछल कर गिरी हुई मुक्तावली दान से तुष्ट देवताओं के द्वारा छोड़ी गयी पुष्पवृष्टि के समान सुशोभित हो रही है। ऐसे घमासान युद्ध में सैनिकों का उत्साह प्रशंसनीय है। उनका कहना है कि किसी दिशा को मत जाओ, यहीं पर रहो, अपने पूर्वजों के यश को एकत्रित करो, क्योंकि युद्धस्थली में आपकी पीठ शत्रुओं ने कभी नहीं देखी है। तदनन्तर 'हमारे प्रभु ने जीत लिया, जीत लिया' इस तरह से कोलाहल सिंहलराज की सेना में उठ खड़ा हुआ और मूर्छा की समाप्ति में वह वीर भीमसेन भी अपनी सेना की प्रसन्नता के साथ उठ खड़ा हुआ। वहाँ पर अत्यधिक वाणों के गिरने से आकाश नीरन्ध्र हो गया। नगाड़ों की आवाज से दिशाएँ बहरी हो गयीं। उन दोनों के बढ़े हुए ऊर्जित तेज के युद्ध में जो हुआ वह दृष्टिपथ पर नहीं आया।

कवि आगे कहता है कि ये दोनों अत्यन्त बलशाली, परिश्रमी और अस्त्र चलाने में समान हैं इनकी इस वीरता को देखकर इन दोनों में से कौन विजयी होगा। इस तरह से विधाता को भी सन्देह हुआ। तलवार का तलवार से, बाण का बाण से जवाब देने वाले युद्ध को करते हुए एवं अपार कुतूहल रस को दृष्टि के सामने फैलाते हुए उन दोनों के युद्ध के गुण के उत्कर्ष और अपकर्ष के क्षण में विमुग्ध विजयश्री से किसके पास जाऊँ ? इस तरह से परेशान होकर विचारा गया—

एतावुभावप्यनिवार्यवीर्यौ कृतश्रमौ द्वावपि चास्त्रशस्त्रौ।
युद्धे सदृक्षावथ वीक्ष्य वीर जेतानयोः कः समशेरतेत्थम्॥
खङ्ग खङ्गिशराशरप्रभृतिभिर्युद्धप्रकारै र्युधं
कारंकारमपार कौतुकरसं विस्तारयन्तौ दृशाम्।
प्रत्येकं विजयश्रिया रणगुणोत्कर्षापकर्षक्षणे
कं यामीति विमुग्धया प्रतिकलं तौ खिन्नया॥[1]

वीर रस का जहाँ अन्तिम उत्कर्ष है ऐसी युद्ध की भीषणता का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उस युद्धस्थल में कटे हुए हाथियों के कुम्भस्थल से गिरे हुए मोती के दाने कुमार के शौर्य की अद्भुत क्रिया से रणक्षेत्र के हास्य के आलस्य की तरह सुशोभित हुए—

रराज तत्र क्षतकुम्भि कुम्भस्थलीगलन्मौक्तिकचक्रवालम्।
कुमार शौर्याद्भुतरञ्जिताया रणक्षमाया इव हास्यलास्यम्॥[2]

इस प्रकार प्रस्तुत स्थल में 'उत्साह' स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव हरिराज तथा आश्रय जयन्त हैं। युद्धस्थल में बजायी गई भेरी, वीरों की ललकार,

---

१. जयन्तविजय, १०/५८, ७१। २. वही, १०/६४।

अस्त्र-शस्त्रों की आवाज उद्दीपन विभाव है। जयन्त के द्वारा वाणों की वृष्टि अनुभाव है। मति, धृति, औत्सुक्य, मद आदि व्यभिचारी भाव हैं जिनके योग से वीर रस स्पष्ट हो रहा है।

दिग्विजय प्रसङ्ग में युद्ध की भीषणता का वर्णन करते हुए कवि अभयदेव एकादश सर्ग में भी कहते हैं कि स्वर्ग में तीक्ष्ण शस्त्रों से उत्पन्न देदीप्यमान सम्पूर्ण आतपत्रों (छत्रों) से दिन में भी चन्द्र ग्रहण की शङ्का हो गयी। हाथियों से स्वतन्त्रतापूर्वक फेंके गये वीरों से महावत मानो यमराज को प्रसन्न करने के लिए भेंट चढ़ा रहे हैं। आपस में शस्त्रों के संघर्षण से उत्पन्न होने वाली अग्नि स्फुलिङ्ग को मानो विजय लक्ष्मी ने वीरों को देखने के लिए दीपक की भाँति जलाया है—

सोमग्रहणशङ्काभूदातपत्रैः समस्तकैः।
दिवापि दिवि दीव्यद्भिः शितशस्त्रसमुद्धृतैः॥
गजेन्द्रात्क्षेपितैर्वीरैः स्वैरमाधोरणाबभुः।
प्रीतये प्रेतनाथस्य प्रस्तुतोपायना इव॥
परस्परास्त्रसंघट्टाद्रेक्षुरग्निस्फुलिङ्गकाः।
वीरैर्विलोकनायेवकृता दीपा जयश्रियः॥[1]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में वीरों का उत्साह स्थायी भाव है। विपक्षियों की सेना तथा नृप परस्पर आलम्बन एवं आश्रय है। युद्धस्थल में शस्त्रों के संघर्षण एवं वीर उद्दीपन विभाव है, दिग्विजय की अभिलाषा अनुभाव है। गर्व, औत्सुक्य, मद तथा असूया आदि व्यभिचारी भावों से वीर रस आस्वादित हो रहा है।

दानवीर—कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में दानवीरता के सुन्दर उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। पाणिग्रहण संस्कार के अवसर पर कवि अभयदेव पवनगति की दानवीरता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उस कन्यादान के अवसर पर पवनगति ने सुवर्ण, घोड़े, हस्तिनी की घटाओं और रत्नकिन्नरों से याचक समाज को श्री पति विष्णु की भाँति कर दिया—

तत्र दानसमये खचरेन्द्रः प्राज्यवाजिकरटीन्द्रघटाभिः।
स्वर्णरत्ननिकरैश्च स चक्रे श्रीपतिं हरिमिवार्थिसमाजम्॥[2]

प्रस्तुत उदाहरण में 'उत्साह' स्थायीभाव है। आलम्बन विभाव याचक तथा आश्रय पवनगति है। दान के द्वारा राजा का यशोलाभ उद्दीपन विभाव है। याचकों को दान देने के साथ ही सम्मान देना अनुभाव है। हर्ष, गर्व, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव है। जिनके परिणामस्वरूप दानवीर अनुभवजन्य हैं।

१. जयन्तविजय, ११/६८, ६९, ७०।
२. वही, १३/६४।

विक्रमसिंह की दानवीरता की प्रशंसा करते हुए कवि अभयदेव की कल्पना चरम सीमा पर पहुँच जाती है । वह कहता है कि उनके द्वारा भूरिदान सलिल से कीर्तिलता को इतना अधिक सींचा गया जिससे कि वह विश्वमण्डप के नीचे तारा रूपी कुसुम के समान पृथ्वी में न समा सकी—

तेन कीर्तिलतिका तथाधिकं भूरिदानसलिलैरसिच्यते ।
तारकाकुसुमशालिनी यथा विश्वमण्डपतलेऽपि न ममौ ॥[1]

दानवीरता का गुण पुरुष में ही पाया जाता है किन्तु कवि अभयदेव ने प्रकृति के द्वारा प्राणियों को दान दिलाकर अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है । कवि का कथन है, कि जहाँ पर अनेक तरुवर बड़े-बड़े पल्लवरूपी हाथों से शरीधधारियों को खाने के लिए अपनी फलरूपी सम्पत्ति का दान देते हुए कुटुम्बी की भाँति स्थित हैं—

हस्तैरिवोच्चैस्तरवः पलाशैश्छायाः दधानां फलसंपदा च ।
पथ्यङ्गिनां पथ्यदनाय यत्र स्वबन्धुबुद्धेव भवन्ति भूयः ॥[2]

धर्मवीर—धर्मवीरता का सुन्दर चित्रण भी कवि अभयदेव के 'जयन्तविजय' महाकाव्य में प्राप्त होता है । महाकाव्य का नायक जयन्त युद्धवीर होने के साथ ही साथ धर्मवीर भी है । शत्रु की क्षय की इच्छा रखने वाला वह हरिराज की सीमा पर पहुँचकर भी एकाएक आक्रमण नहीं करता है । अपितु उसके देश की रक्षा ही करता है क्योंकि स्वभाव से वैरी नकुल सर्प के गृह में प्रविष्ट होकर उसे नहीं मारता—

ररक्षदेशं स्वमिवाप्यशत्रोः क्षयं स तस्यैव यतश्चिकीर्षुः ।
स्वभाववैरान्नकुलो हि सर्पं निहन्ति नो तत्सदनं प्रविष्टः ॥[3]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में स्थायी भाव 'उत्साह' है । आश्रय स्वयं राजा जयन्त है । राजा के शत्रु आलम्बन हैं । शत्रु के प्रति राजा का व्यवहार उद्दीपन है । राजा की गम्भीरता अनुभाव तथा धर्मयुक्त मति, तर्क आदि संचारी भावों के सहयोग से धर्मवीरता की सिद्धि हो रही है ।

दयावीर—वीर रस के प्रभेदों में 'दयावीर' का भी प्रमुख स्थान है । कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य में अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग किया गया है । रक्षणीय उस राजा के राज्याभिषेक को सुनकर उसके पास नतमस्तक

१. जयन्तविजय, ७/१९ ।
२. वही, १/३१ ।
३. वही, १०/१८ ।

समस्त भूमिपालों ने आकर प्रणाम करके उसकी सेवा की। फलतः उस राजा ने अपनी कृपा से राजाओं को आनन्दित किया। बे लोग भी उस राजा के अनन्यगुणों से अपने अन्तःकरण को प्रमुदित करते हुए अपने-अपने राज्य को चले गये—

श्रुताभिषेकं जनकस्य राज्ये तमेत्य भूगोचरखेचरेन्द्राः।
नत्वोपढौक्योऽङ्घ्र्‌ तढोकनानि सिषेविरेनम्रशिरः किरीटाः॥
प्रमोदितास्तेन महाप्रसादैर्निजं निजं राज्यमयुर्विसृष्टाः।
महीपतेस्तस्य गुणैरनन्यैः संदानितान्तः करणस्ततस्ते॥[1]

यहाँ पर 'उत्साह' स्थायी भाव है। राजा जयन्त आश्रय है। आत्मरक्षा करने वाले भूमिपाल जो दयनीय परिस्थिति के प्राणी हैं, आलम्बन विभाव है। शत्रुओं को पीड़ा पहुँचाकर विजय प्राप्त करना उद्दीपन विभाव है। परन्तु शत्रु द्वारा नतमस्तक होना अनुभाव है। हार मान लेने पर राजा को हर्ष की प्राप्ति होती है। हर्ष संचारी भाव है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से यहाँ पर दानवीर प्रस्फुटित हो रहा है।

रौद्ररस

रौद्ररस का वर्णन 'जयन्तविजय' महाकाव्य के नवम् एवं चतुर्दश सर्ग में प्राप्त होता है। रौद्ररस का स्थायी भाव 'क्रोध' है। इसका वर्ण रक्त है। इसके देवता रुद्र माने जाते हैं। इसके आलम्बन रूप में शत्रु का वर्णन किया जाता है और शत्रु की चेष्टाये उद्दीपन विभाव का कार्य करती हैं। इसकी विशेष उद्दीप्त मुष्टिप्रहार, भूपातन, भयंकर मार-काट, शरीर विदारण, कठोर वचन, द्रोह संग्राम, संभ्रम आदि में हुआ करती है।[1] भ्रकुटि-भङ्ग, दाँत तथा ओंठ चबाना, भुजायें फड़काना, ललकरना, आरक्त नेत्र, स्वीकृत वीर कर्म वर्णन, शस्त्रोत्क्षेपण, उग्रता, आवेग, रोमाञ्च, स्वेद, कम्प, मद, आक्षेप, क्रूरदृष्टि आदि इसके अनुभाव हैं। मोह, अमर्ष आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।[2]

---

१. जयन्तविजय, १६/४२-४३।

२. रौद्र क्रोधस्थायीभावो रक्तो रूद्राधिर्दैवतः।
आलम्बनमरिस्तस्य तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्॥
मुष्टिप्रहार पातन विकृतच्छेदावदारणोश्चैव।
संग्रामसंभ्रमाधैरस्योद्दीप्तिर्भवेत् प्रौढा॥ —साहित्यदर्पण–३/२२७-२८।

३. भ्रू वि भङ्गौष्ठनिर्दश बाहुस्फोटनतर्जनाः।
आत्मावदनकथनमायुधोत्क्षेपणानि च॥
अनुभावास्तथाक्षेप क्रूर संदर्शनादयः।
उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवोमदः॥
मोहामर्षादयस्तत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः॥ —साहित्यदर्पण–३/२२९-३०।

नवम सर्ग में विक्रमसिंह अपनी सभा में आये हुए सिंहलेश्वर के गज को बन्दी बना लेते हैं। कुछ समय के बाद सिंहलेश्वर का दूत उसे लेने के लिए सभा में आ पहुँचता है। परन्तु विक्रमसिंह गज लौटाने से स्पष्ट इन्कार कर देते हैं। दूत राजा से अपने पराक्रम के विषय में बताना चाहता है। परन्तु नृपनन्दन जयन्त उसके स्वामी के लिए कटु वचनों का प्रयोग करते हैं। जयन्त के उन वचनों को सुनकर दूत के क्रोधित होने में रौद्ररस की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है—

निशम्य निन्दामथ भर्तुरात्मनः परिस्फुरत्कोपभरारुणेक्षणः ।
जगाद दूतः क्षितिनाथनन्दनं प्रकम्पसंपल्ववलितोत्तराधरः ।।
निपीड्य दोर्दण्डबलेन तत्प्रभुद्विपाधिराजं सह राज्य संपदा ।
न यावदादास्यतितावदस्य ते प्रभोः प्रतीतिर्न भविष्यति ध्रुवम् ।।[1]

अर्थात् अपने स्वामी की निन्दा को सुनकर क्रोधयुक्त लाल-लाल नेत्र, वाले फड़कते हुए रक्तिम अधर वाले एवं काँपते हुए उस दूत ने राजा के पुत्र (जयन्त) से कहा कि हे नृपनन्दन ! जबतक अपनी भुजाओं के द्वारा राजसम्पत्ति के साथ आपके राज्य तथा गज को जीतकर मेरे प्रभु न ले लेंगे तब तक उनके पराक्रम से आपको निश्चय ही विश्वास न होगा। यहाँ पर क्रोध स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव भूपति विक्रमसिंह एवं उनके पुत्र जयन्त विक्रमसिंह तथा आश्रय दूत है। विक्रमसिंह द्वारा आत्मश्लाघा एवं हरिराज की निन्दा करना उद्दीपन है। नेत्र का रक्त होना, ललाट पर भ्रकुटि पड़ना, काँपना आदि अनुभाव है। गर्व, आवेग, अमर्ष, तिरस्कार आदि संचारी भाव है। इन सबके सहयोग से दूत का क्रोध रौद्ररस में आस्वादित हो रहा है।

अपिच —

अथेति दूतादवगम्य सम्यग्विद्याधराणामधिपः प्रवृत्तिम् ।
कराल कोपस्फुरदोष्ठ पृष्टः क्षणादभूद्भ्रू कुटिभीषणास्यः ।।
जयश्रियं संयति लब्धुमिच्छोस्तस्याबभुः स्वेदलवाः शरीरे ।
सापत्न्यसंभावनया विमुक्ता बाष्पाम्बुलेशा इव राजलक्ष्म्याः ।।
दोष्णः कृपाणे च रुषाभिताम्रातस्याघदृष्टिः शुशुभे पतन्ती ।
संग्रामकालस्य जयाय पूजानिमित्तमम्भोरुहमालिकेव ।।
रराजगुञ्जारूणनेत्र कान्ति करम्बिता तस्य कृपाणलेखा ।
समस्तवैर क्षितिपालशौर्य सूर्यास्त संध्येव परिस्फुरन्ती ।।
करीन्द्र कुम्भाहतिकर्कशेन स ताडयन्नंसतटं करेण ।
चिराय वैरिव्ययतः प्रसुप्तं प्रबोधयञ्शौर्यमिव व्यराजत् ।।[2]

---

१. जयन्तविजय, ६/३८,३६ ।
२. वही, १४/१-२,४-६ ।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में महेन्द्र अपने पुत्र के लिए पवनगति से उनकी कनकवती कन्या को माँगता है। परन्तु पवनगति जयन्त के साथ पहले ही उस कन्या का पाणिग्रहण संस्कार कर देते हैं। अत. महेन्द्र के दूत से उस कन्या को देने से इन्कार कर देते हैं। फलत भूपति महेन्द्र दूत के मुख से समाचार पाकर क्रुद्ध होता है। यहाँ पर 'क्रोध' स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव पवनगति एवं आश्रय महेन्द्र है। पवनगति के जामाता जयन्त द्वारा महेन्द्र की निन्दा एवं उसके दूत का अपमान उद्दीपन विभाव है। आँखों का लाल होना, काँपना, ओठों का फड़फड़ाना आदि अनुभाव है। गर्व, आवेग, अमर्ष, तिरस्कार आदि संचारी भाव है विद्याधर अधिय महेन्द्र का जयन्त पर सहज उत्पन्न होने वाला क्रोध रौद्ररस में आस्वादित हो रहा है।

भयानक रस—संस्कृत महाकवियों ने अपने महाकाव्यों में भयानक रस को गौण रूप में स्वीकार किया है। कवि अभयदेव भी इसी परिपाटी का अनुसरण करते हैं। इसका आलम्बन भयोत्पादक दृश्य होते हैं। इसका वर्ण कृष्ण है और इसके देवता काल हैं। भयोत्पादक मनुष्यों की भीषण चेष्टायें इसके उद्दीपन विभाव हैं। विवर्णता, गद्गद भाषण, प्रलय, स्वेद, रोमाञ्च, कम्प, इतस्ततः, अवलोकन आदि इसके अनुभाव हैं। जुगुप्सा, आवेग, सम्मोह, संत्रास, ग्लानि, दीनता, शंका, अपस्मार संभ्रम, मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।[1]

कवि अभयदेव के 'जयन्तविजय' महाकाव्य में यत्र-तत्र भयानक रस के उदाहरण प्राप्त होते हैं। एकादश सर्ग में दिग्विजय के लिए जयन्त के प्रस्थान करने पर उनके आक्रमण के भय से रात में गुफा के अन्दर छिपे हुए उसके वैरीगण उसके जाज्वल्यमान प्रताप से जलती हुई महौषधियों के लिए ईर्ष्या करते हैं—

तदा पातभयान्नक्तं निलीनाः कन्दरोदरे ।
असूयन्ति महौषध्ये ज्वलन्त्यस्तस्य वैरिणः ॥[2]

---

१. भयानकौ भय स्थायिभावो भूताधिदैवतः ।
स्त्रीनीच प्रकृतिः कृष्णो मतस्तव विशारदैः ॥
यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम् ।
चेष्टा घोरतरास्तस्य भटेदुद्दीपनं पुनः ॥
अनुभावोऽत्र वैवर्ण्य गद्गद स्वर भाषणम् ।
प्रलयस्वेद रोमाञ्चकम्पादि वप्रेक्षणादयः ॥
जुगुप्सावेगसंमोह संत्रासग्लानिदीनताः ।
शङ्कापस्मार सभ्रान्ति मृत्य्वाद्या व्यभिचारिणः ॥
—साहित्यदर्पण, ३/२३५-३८ ।

२. जयन्तविजय, ११/८७ ।

यहाँ पर शत्रुओं के मन में आक्रमण की शङ्का होने से 'भय' स्थायी भाव है। जयन्त आलम्बन तथा उसके वैरीगण आश्रय हैं। नृप के प्रताप एवं औषधियों का जलना उद्दीपन विभाव है। शत्रुओं का गुफा में छिपना अनुभाव है। विषाद, दैन्य, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव हैं। इस प्रकार विभावादि के सहयोग से 'भय' स्थायी भाव चर्वणा के योग्य हो गया है।

पुनश्च —

विलोलकर्णा निलवीचि शीतलैः सदाभिषिञ्चन्तिकराग्रशीकरैः।
विमूर्च्छितान्यस्य भयेन दिग्गजान्स्वजातिवात्सल्यधियेव हस्तिनः ॥[1]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में विक्रमसिंह के व्यवहार से असन्तुष्ट सिंहलभूप हरिराज द्वारा जयन्ती पर आक्रमण करने के समय उसकी सेना के हाथियों का वर्णन किया गया है। उसके हाथी भय से अपनी जाति की वत्सलता के कारण चञ्चल कर्णों की वायु के झोंकों से शीतल शुण्डों से गिरे हुए जलविन्दुओं से मूर्छित दिग्गजों का निरन्तर अभिषेक कर रहे हैं। यहाँ पर स्थायी भाव 'भय' है। आलम्बन विक्रमसिंह की सेना एवं हरिराज के हाथी आश्रय हैं। विपक्षी सेना की भीषणता उद्दीपन विभाव है। हरिराज के हाथियों का फेन डालना उद्दीपन विभाव है। विषाद, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव हैं। इस प्रकार इन सबके सहयोग से भय स्थायी भाव परिपुष्ट हो रहा है।

युद्ध की भीषणता का वर्णन करते हुए भी कवि अभयदेव कहते हैं कि उस समय धनुष से वादल की भाँति बाणों की झड़ी लगा देने पर कीर्तिकंदलित राजकुमारों से आकाशगमन सा प्रतीत होने लगा। इस समय कृतान्त को भी कँपा देने वाले, भय को भी भयंकर लगने वाले तथा वैरीकुल को समाप्त करने वाले युद्ध को जयन्त ने किया—

तस्मिन्पर्जन्यवत्तत्र शरासारं विमुञ्चति।
राजहंसैः समुड्डीनमुद्भूतं कीर्तिकन्दलैः॥
भयंकरं भयस्यापि कृतान्तस्यापि कम्पकृत।
चकार वैक्रिमिर्वैरिकुलान्तः करणं रणम् ॥[2]

यहाँ पर घमासान युद्ध का प्रसङ्ग होने से 'भय' स्थायी भाव होकर भयानक रस का आस्वाद करा रहा है।

वीभत्स रस—घृणित वस्तु को देखकर मानव मन में जो घृणा की भावना उदित होती है, वही वीभत्स रस का स्थायी भाव है। 'जुगुप्सा' स्थायी भाव का

१. जयन्तविजय, ६/५३।
२. वही, ११/७३-७४।

अभिव्यञ्जन ही 'वीभत्स रस' है। उसका वर्ण नील है। इसके देवता महाकाल हैं। इसके आलम्बन दुर्गन्धमय मांस, रक्त, मेदा (चर्बी) आदि हैं। दुर्गन्धमय मांसादि में कीड़े पड़ना इसका उद्दीपन विभाव है। थूँकना, मुँह फेरना, नेत्र बन्द करना आदि इसके अनुभाव हैं और मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि तथा मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।[1]

वीभत्स रस शृंगार, करुण आदि की भाँति आह्लादकारी न होने के कारण कवियों को विशेष प्रिय नहीं रहा है। महाकाव्यों में उसका वर्णन स्फुटरूप में प्राप्त होता है। कवि अभयदेव के काव्य में भी वीभत्स रस निम्न स्थल में दर्शनीय है—

मृतकोटिकरालकलेवर प्रचुरदुःसहगन्ध भरावहे।
अभिमुखागत गन्धवहैर्मुहुर्यदतिदूर विवर्त्यपि सूच्यते॥
मिलिद संख्य शिवाकृत फेत्कृतैर्यद सुकम्पकृद्द्वितमूर्द्धजम्।
अधिक घूकघनार्तिदघूत्कृतैः स्खलितकातरजन्तुगतागति॥
भृतदिगन्तरदुः श्रवहुं कृतै विकृतवेषवपुर्मुखनर्तनैः।
प्रचुरराक्षस भूत पिशाचकैर्भय कुलैरि दुर्गपथं नृणाम्॥
विपुल मांसवसामदिरोन्मदं वितत मुत्कलकेशमवस्त्रभृत्।
भ्रमति यत्र सताण्ड व डाकिनी कुलमकाल मृतेरिव सादरम्॥
निशि च यत्र निशाचर निर्मितामति भयंकरकेलिविलोकनम्।
छलयति स्म विधैर्यघनं जनं यमगृहा तिथितां नयते च ताम्॥
किमिह भूरिवचोभिरुदीरितैस्तदपरं भुवि काल निकेतनम्।
निजगृहं स्थिर धैर्यवतां पुनः पितृवनं स ददर्श नृपस्ततः॥[2]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में श्मशान के दृश्य का वर्णन किया गया है। यहाँ पर आश्रय, पाठक अथवा कवि के हृदय में विद्यमान जुगुप्सा स्थायी भाव है। आलम्बन श्मशान है जहाँ अनेक जीव मरे हुये पड़े हैं। शृगालियों की आवाज एवं मांस, वसा और मदिरा आदि से उन्मत्त डाकिनियों का नर्तन उद्दीपन है। आक्षेप से रोमाञ्च एवं दृष्टि संकोच को अनुभाव माना जा सकता है। ग्लानि एवं जड़ता संचारी भाव

---

१. जुगुप्सा स्थायिभावास्तु वीभत्सः कथ्यते रसः।
नीलवर्णो महाकालदेवतोऽयमुदाहृतः॥
दुर्गन्धमांसरुधिर मेदास्यालम्बनं मतम्।
तत्रैव कृमिपातद्य मुद्दीपनमुदाहृतम्॥
निष्ठीवनास्यवलननेत्र संकोचनादयः।
अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः।
मोहोऽपस्मार आवेगोव्याधिश्च मरणादयः॥ —साहित्यदर्पण, ३/२३९-४१।

२. जयन्तविजय, ४/९-१४।

है। इन सभी विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव के संयोग से 'वीभत्स रस' की पुष्टि हुई है।

अद्भुतरस किसी भी अद्भुत वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना को देखकर अथवा पढ़कर गुमसुम हो जाना, नेत्रों का स्तब्ध रह जाना स्वाभाविक है। 'विस्मय' नामक स्थायी भाव का अभिव्यञ्जन ही अद्भुत रस है। इसका वर्ण पीत है। इसके देवता गन्धर्व हैं। इसका आलम्बन अलौकिक वस्तु है। अलौकिक वस्तु का गुण कीर्तन इसका उद्दीपन है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद स्वर, संभ्रम, हर्ष, नेत्र विकास आदि इसके अनुभाव हैं। वितर्क, आवेग, संभ्रम, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव माने गये हैं।[1]

संस्कृत महाकाव्यों में अद्भुत रस गौण रूप में प्राप्त होता है। कवि अभयदेव का महाकाव्य भी इससे अछूता नहीं है। कवि का एक स्थल दर्शनीय है- विद्युत की द्युति को जीतने योग्य कान्ति वाली, अपने रूप से त्रिलोक के नेत्रों को तृप्त रखने वाली उस कनकवती को देखकर चकित होते हुए युवराज जयन्त सोचने लगते हैं कि क्या यहाँ इस पर्वत पर पर्वतपुत्री सुन्दरता को देखने के लिए आई है ? या रति है ? अथवा रमा है ? परन्तु जब वे उसे ध्यानपूर्वक देखते हैं तो उनका आश्चर्य दूर हो जाता है और निमेष के कारण उसे मृत्युलोक की ललना समझते हैं—

तां तडिद्द्युतिविजित्वरकान्तिं रूपतर्पितजगत्त्रयनेत्राम्।
वीक्ष्य विस्मयतरङ्गित चेताः स व्यचिन्तयदिदं युवराजः ॥
पर्वते किमिह पर्वतपुत्री पर्वतश्रियमवेक्षितुमागात्।
किं रतिः किमु रमा खलु नैव मर्त्यलोकललनैव निमेषात् ॥[2]

प्रस्तुत वर्णन में युवराज जयन्त को कनकवती के रूप-सौन्दर्य के प्रति आश्चर्य होता है। यहाँ पर जयन्त आश्रय तथा कनकवती विषयालम्बन है। कनकवती का अद्भुत सौन्दर्य ही उद्दीपन है। अद्वितीय सौन्दर्य को देखकर जयन्त का आश्चर्य से स्तब्ध रह जाना एवं संभ्रम में पड़ जाना ही अनुभाव है। वितर्क सञ्चारी भाव है। इस प्रकार इन सबसे पुष्ट होकर विस्मय स्थायी भाव अद्भुत रस के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है।

---

१. अद्भुतो विस्मयस्थायीभावो गन्धर्वदैवतः।
पीतवर्णोवस्तु लोकाति गमालम्बनं मतम् ॥
गुणानां तस्य महिमा भवे दुद्दीपनं पुनः।
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्च गद्गद् स्वरसंभ्रमाः ॥
तथा नेत्र विकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।
वितर्क वेग संभ्रान्ति हर्षाद्या व्यभिचारिणः ॥ —साहित्यदर्पण, ३/२४२-२४४।
२. जयन्तविजय, १३/११-१२।

अपि च –

लोचनैरिव विकस्वरपुष्पैः पल्लवैः करतलैरिवशौणैः ।
उत्कुचैरिव फलैर्वन लक्ष्म्यास्तत्र विस्मयमतीव सा भजे ॥[1]

यहाँ पर वन की शोभा का वर्णन किया गया है । जिस शोभा को देखकर युवराज चकित हो जाते हैं । कवि का कथन है कि उस वन में वनलक्ष्मी के नेत्र के समान खिले हुए पुष्पों से, करतल के समान रक्तिम पल्लवों से और उन्नत कुचों के समान फलों से वहाँ पर विस्मय प्रादुर्भूत हुआ । इस प्रकार 'विस्मय' स्थायी भाव के द्वारा अद्भुत रस की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो रही है ।

शान्त रस—कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में शान्त रस का भी वर्णन प्रस्तुत किया है । 'नाट्य-शास्त्र' में शान्त रस का स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण शान्त रस के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित हो गये हैं । कुछ आचार्यों ने तो शान्त नामक रस को स्वीकार ही नहीं किया है, कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जिन्होंने काव्य में शान्त रस को स्वीकार किया है किन्तु नाट्य में उसका होना असम्भव बताते हैं ।[2]

विश्वनाथ कविराज शान्त रस के समर्थक काव्याचार्यों में हैं । आचार्य मम्मट ने भी शान्त रस का समर्थन किया है, किन्तु शान्त रस के स्थायी भाव के सम्बन्ध में दोनों आचार्यों में मतभेद है । आचार्य मम्मट के अनुसार शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है ।[3] परन्तु विश्वनाथ कविराज ने शान्त रस का स्थायी भाव 'शम' को माना है ।[4] विश्वनाथ के अनुसार शान्त रस वह है जिससे 'शम' रूप स्थायी भाव का आस्वाद होता है । इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति होते हैं । इसका वर्ण कुन्द स्वेत अथवा इन्द्र स्वेत है । इसके देवता नारायण हैं । अनित्यता अथवा दुःखमयता के कारण समस्त सांसारिक विषयों की निःसारता का ज्ञान अथवा साक्षात् परमात्मस्वरूप का ज्ञान ही इसका आलम्बन है । पवित्र आश्रम, भगवान की लीला मर्तियाँ, तीर्थ स्थान, रम्य कानन, साधु सन्तों का सत्सङ्ग आदि इसके उद्दीपन हैं । रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं और निर्वेद, हर्ष, स्मृति आदि व्यभिचारी भाव हैं ।[5]

---

१. जयन्तविजय, १३/५ ।
२. शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य । —दशरूपक, ४/३५ ।
३. निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः । —काव्यप्रकाश, ४/४७ ।
४. शान्तः शम स्थायिभावः उत्तम प्रकृतिर्मतः । —साहित्यदर्पण, ३/२४५ ।
५. कुन्देन्दुसुन्दरुच्छाया श्री नारायण दैवतः ।
अनित्यत्वादिनाऽशेष वस्तुनिःसारतातु या ।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में शान्त रस के उद्धरण भी प्राप्त हैं, क्योंकि जिस प्रकार आनन्द की सम्प्राप्ति के लिए श्रृङ्गार की परम उपादेयता है उसी प्रकार परममोक्ष की आध्यात्मिक सुखानुभूति के लिये शान्त रस की अपेक्षा है। लौकिक जगत् में किसी विशेष घटना द्वारा मन पर प्रभाव पड़ने से जब समस्त संसार असार, क्षणभंगुर तथा दु:खमय प्रतीत होता है और सांसारिक भोगों से वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है तो ऐसी स्थिति को ही 'निर्वेद' कहते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग हमें 'जयन्तविजय' महाकाव्य के अष्टादश सर्ग में प्राप्त होता है। राजा विक्रमसिंह के हृदय में संसार की अनित्यता को देखकर विरक्ति की भावना उत्पन्न हो जाती है। वे विचारने लगते हैं यह शरीर जो पहले सुख का साधन था वह भी रोग और वृद्धावस्था से ग्रस्त हो जाता है। अत: यहाँ पर कौन सा इष्ट फल को उत्पन्न करने वाला वन है जो कि दावाग्नि की शिखा की भाँति क्षणभंगुर न हो? अर्थात् यहाँ सब कुछ क्षणभंगुर ही है। शरद् कालीन बादल के सगे भाई की भाँति संसार में उत्पन्न होने वाला सुख है। अभिप्राय यह है, कि वह भी कुछ समय के पश्चात् नष्ट हो जाता है तथा परिणाम में नीरस एवं मुख में मधुर विषतरु की भाँति मनुष्य पके हुए फल के समान है। अर्थात् जिस प्रकार पका हुआ फल किसी समय गिर सकता है, उसी प्रकार मनुष्य भी किसी समय शरीर का त्याग कर सकता है, क्योंकि संसार में नित्य सब को अनित्यता का कवल बनाते हुए खेल सा हो रहा है इसीलिए शीघ्रातिशीघ्र अनन्त सनातन अतुलनीय कल्याण वाले व्रत का आधान करना चाहिए—

वपुरिदं प्रथमं सुख साधनं तदपि रोगजरादिभिरस्थिरम्।
किमिह मिष्टफलं प्रभवं वनं वनजवह्निशिखाभिरभंगुरम्॥
भवति शारदनीरदसोदरं सकलमेव भवप्रभवं सुखम्।
परिणतौ विरसं मधुरं मुखे विषतरोरिव पक्वफलं नृणाम्॥
त्रिभुवनेष्वपि नित्यमानित्यताकवलितं निखिलंखलु खेलति।
तदविलम्बमनन्तसनातनानुपमशर्मकरं व्रतमादधे॥[1]

यहाँ पर राजा विक्रमसिंह के जरावस्थाजन्य संसार की नश्वरता को देखकर हृदय में उत्पन्न विरक्ति का वर्णन किया गया है। अत: विक्रमसिंह 'आश्रय' हैं।

परमात्म स्वरूपं वा तस्यलम्बन मिष्यते।
पुण्याश्रम हरिक्षेत्र तीर्थं रम्यवनादय:॥
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिण:।
रोमाञ्चाद्यानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिण:॥
निर्वेदहर्षस्मरणयति भूतदयादय:। —साहित्यदर्पण, ३/२४५-४८।

1. जयन्तविजय, १८/५०,५५-५६।

संसार की अनित्यता 'विषय' है। शरद्कालीन बादल एवं पका हुआ फल उद्दीपन है। 'निर्वेद' संचारी भाव है। इस प्रकार 'शम' स्थायीभाव शान्त रस की पुष्टि कर रहा है।

वात्सल्य रस—कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य में 'वात्सल्य रस' भी दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि अभिनवगुप्त, रुद्रट, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने वात्सल्य को रस के रूप में स्वीकार नहीं किया है।[1] क्योंकि उन्होंने इसे स्नेह का ही नामान्तर माना है तथा इसका अन्तर्भाव 'भाव' में ही कर लिया है किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य रस में चमत्कार होने के कारण स्वतन्त्र रूप से उसकी प्रतिष्ठा स्थापित की उनके अनुसार इसका स्थायी भाव 'वात्सल्य प्रेम' है। पुत्र आदि इसके आलम्बन विभाव हैं। पुत्रादि चेष्टाओं में उनकी विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। आलिङ्गन, अङ्ग स्पर्श, शिशु चुम्बन, सस्नेह वीक्षण, रोमाञ्च, आनन्द से अश्रुओं का निकलना आदि इसके अनुभाव हैं। हर्ष, गर्व आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।[2]

'जयन्तविजय' में अपने शिशु जयन्त को देखकर राजा विक्रमसिंह का हृदय पुत्र प्रेम से भर जाता है जो कि वात्सल्य रस का सुन्दर उदाहरण है। कवि के शब्दों में—

ससंभ्रमाथ प्रतिपत्तिपूर्वमुर्वीपतेरासनमाश्रितस्य।
ततोऽनुजन्मानमिव स्मरस्य सादर्शयन्नन्दनमिन्दुकान्तम्॥
तमङ्कमारोप्य निरूप्य सम्यक्सल्लक्षणैर्लक्षितकाययष्टिम्।
अमन्यत क्षोणिपतिर्धरित्रीभारं समुत्तीर्णमिव स्वदोष्णः॥[3]

अर्थात् सम्भ्रम से उस रानी ने आसन पर बैठे हुए राजा को कामदेव के अनुज के समान इन्दुकान्त नन्दन को दिखाया तथा राजा ने उस बालक को गोदी

---

१. अभिनवभारती, अध्याय ६, पृ० ६४०, रुद्रट काव्यालंकार, १२/३ तथा काव्यानुशासन, अध्याय २, पृ० ६७।

२. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं चरसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥
उद्दीपनादि तच्चेष्टा विद्याशौर्य दयादयः।
आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्श शिरश्चुम्बनमीक्षणम्॥
पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
संचारिणोऽनिष्ट शङ्काहर्षगर्वादयो मताः॥ —साहित्यदर्पण, ३/२५१-५३।

३. जयन्तविजय, ६/६६-६७।

में बैठाकर अच्छे लक्षणों से युक्त उस पुत्र के शरीर को देखकर अपनी भुजाओं से सम्पूर्ण पृथ्वी के भार को उत्तीर्ण की भाँति समझा। अर्थात् अपने को धन्य माना।

यहाँ पर राजा विक्रमसिंह की पुत्र-विषयक रति स्थायी भाव है। पुत्र जयन्त उनका आलम्बन हैं। जयन्त का मनोहारी कामदेव के समान रूप और बाल चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव हैं। पुत्र को गोद में लेना तथा उसके शरीर को एकटक दृष्टि से देखना अनुभाव है। हर्ष, औत्सुक्य, उत्साह आदि संचारीभाव हैं। इन सबसे परिपुष्ट होता हुआ वात्सल्य रस अत्यन्त चमत्कारी व आनन्ददायक है।

इसी प्रकार निम्नलिखित श्लोक भी पिता के शिशुप्रेम को प्रकट करता हुआ वात्सल्य रस को अत्यन्त पुष्ट कर रहा है—

कान्तकूर्चकचकर्षणैरसौ स्पर्शतश्चपलकोमलाङ्गजैः।
मन्मनैश्च वचनैर्ददे पितुर्वागगोचर सुखोदयां दशाम् ॥[1]

अर्थात् मनोहर दाढ़ी और सुन्दर कच के रगड़ने से, चञ्चल कोमल अङ्गों के स्पर्श से एवं मनोहर वचनों से इस बालक (जयन्त) ने पिता को अगोचर सुख को पैदा करने वाली दशा को प्राप्त कराया।

यहाँ पर कुमार की दाढ़ी, कच, कोमल अंग एवं मनोहर वचन उद्दीपन विभाव हैं। 'देखना' अनुभाव तथा 'हर्ष' संचारी भाव है।

इस प्रकार कवि अभयदेव ने अपने जयन्तविजय महाकाव्य में अन्य रसों की भाँति वात्सल्य रस की योजना भी की है।

जयन्तविजय महाकाव्य में भाव योजना

रस वर्णन के साथ ही भाव योजना भी प्रस्तुत महाकाव्य में वर्णनीय है, क्योंकि रस की भाँति भाव भी सामाजिक चर्वणा का विषय बन जाते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ रसाभास, भावाभास भावोदय इत्यादि को आस्वाद का विषय बताते हुए उनमें उपचार में 'रस' शब्द के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।[2] इस प्रकार स्पष्ट है, कि काव्य में रस के समान ही भाव योजना का भी महत्त्व है।

आचार्य मम्मट ने भी अपने 'काव्यप्रकाश' में भाव योजना के महत्त्व को स्वीकार किया है। उनका कथन है—

रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः।[3]

---

१. जयन्तविजय, ८/१०

२. रसभावो तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वोऽपि रसनाद्रसाः ॥ —साहित्यदर्पण, ३/२५९-६०।

३. काव्यप्रकाश, ४/३५, सूत्र ४८।

अर्थात् देवादि विषयक रति (आदि स्थायी भाव तथा व्यंग्य व्यभिचारी भाव) भाव कहलाते हैं।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार—

सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ।
उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥[१]

अर्थात् प्रधान रूप से प्रतीयमान व्यभिचारी भाव तथा देवता गुरु आदि के विषय में अनुराग एवं सामग्री के अभाव में रस रूप को प्राप्त न हो सकने वाले उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव भाव के अन्तर्गत आते हैं।

महाकवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य में अनेक स्थलों पर भाव योजना के उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा देव-विषयक रति का उदाहरण—

श्रेयांसि विश्राणयतादजस्रं नाभेयदेवस्य पदाम्बुजं वः ।
समस्तसंपन्मधुबद्धरागा यत्र त्रिलोकी भ्रमरीव भाति ॥[२]

अर्थात् नाभेयदेव का चरणकमल आप लोगों को निरन्तर कल्याण प्रदान करता रहे। जिस चरणकमल में त्रिलोकी सम्पूर्ण सम्पत्तिरूपी मधु में अनुराग लगाये हुए भ्रमरी की भाँति सुशोभित होता है।

यहाँ पर कवि का इष्टदेव 'नाभेयदेव' के प्रति भक्तिपरक रतिभाव स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। अतः यह भाव का उदाहरण है। इसी प्रकार कवि वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के प्रति अपनी भावना को व्यक्त करते हुए कहता है—

निर्णिक्तमुक्तामणिमञ्जुकर्णताटंकयुग्मं विरराज यस्याः ।
आस्यश्रियं लुभ्यमिवोडुचारुचन्द्रद्वयं पातु सरस्वती सा ॥[३]

अर्थात् जिसके बनाये गये मुक्तामणि से सुन्दर कान में पहना हुआ ताटंक युग्म नक्षत्रयुक्त चन्द्रद्वय के समान सुन्दर मुख की शोभा का लोभी है। वह सरस्वती आप लोगों की रक्षा करे।

यहाँ पर देवी सरस्वती के प्रति कवि का भक्तिपरक रतिभाव परिलक्षित होता है। अतः यह भाव का उदाहरण है।

भाव का एक अन्य उदाहरण निम्नलिखित श्लोक में प्राप्त होता है जिसमें कवि की अपने गुरु के प्रति श्रद्धारूप भाव का चित्रण किया गया है—

प्रसृत्वरामोद गुणप्रबोधं दिशन्ति शिष्यप्रकराम्बुजानाम् ।
ये स्पर्धयेवाम्बुजिनीप्रियस्य जयन्तु ते मे गुरवो मुनीन्द्राः ॥[४]

---

१. साहित्यदर्पण, ३/२६०-६१ ।
२. जयन्तविजय, १/१ ।
३. वही, १/७ ।
४. वही, १/८ ।

अर्थात् जो कमलरूपी शिष्य समूह को शीघ्र गन्धरूपी गुणों से जगाने में सूर्य से स्पर्धा करते हैं। उन मेरे मुनीन्द्र गुरु की जय हो।

यहाँ पर कवि का अपने गुरु के प्रति अनुराग स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रहा है। इसी प्रकार कवि अभयदेव का उन सभी कवियों के प्रति श्रद्धारूप भाव व्यक्त हुआ है जिनकी सत्प्रेरणा के मन्द बुद्धि वाले कवि भी कविता में प्रवीण हो गये हैं—

जयन्ति ते सत्कवयो यदुक्त्या बाला अपि स्युः कविता प्रवीणाः।
श्री खण्डवासेन कृताधिवासाः श्रीखण्डतां यान्त्यपरेऽपि वृक्षाः॥
जयन्तु सर्वेऽपि कवीश्वरास्ते यदीयसत्काव्यसुधा प्रवाहः।
विकूणिताक्षेण सुहृज्जनेन निपीयमानोऽप्यति पुष्यतीव॥[1]

अर्थात् उन सत्कवियों की विजय हो जिनकी रचना से बाल (मन्द बुद्धि वाले) भी कविता में प्रवीण हो जाते हैं, क्योंकि मलयागिरि चन्दन के वास से अधिवासित हो जाने पर अन्य वृक्ष भी मलयगिरिता को प्राप्त होते हैं तथा वे सभी कवीश्वर, जिनके सत्काव्य के अमृत का प्रवाह विस्फारित नेत्रों वाले सुहृज्जनों के द्वारा पान किया जाता हुआ फलित होता है, जय को प्राप्त करें।

यहाँ पर कवि का अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रति अनुराग स्पष्टत है। अतः भाव का उदाहरण है।

राजा विषयक रति के उदाहरण भी 'जयन्तविजय' महाकाव्य में प्राप्त होते हैं। यथा—

एतत्प्रभावप्रथितं त्रिलोकीहृद्य त्रिवर्गानुपमप्रकर्षम्।
वीरव्रतालंकरणं चरित्रं श्रीमज्जयन्तस्य नृपस्य वक्ष्ये॥[2]

अर्थात् इस प्रकार के प्रभाव से विख्यात, त्रिभुवन के हृदयग्राही धर्म, अर्थ, काम की असीम विशेषता वाले, वीरव्रतधारियों के लिए अलंकरण, श्रीयुत जयन्तराज के चरित्र को कहता हूँ।

यहाँ पर जयन्त के प्रति कवि अभयदेव का स्तुति रूप भाव प्रकट हुआ है। अतः यह नृपविषयक रति का उदाहरण है।

इस प्रकार भाव के अन्तर्गत देव विषयक, गुरुविषयक तथा नृपविषयक रति के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु इसके अतिरिक्त जहाँ पर स्थायी भाव पोषक सामग्री के अभाव में रस रूप को नहीं प्राप्त कर पाता केवल उद्बुद्ध मात्र होकर रह जाता है। उसका विवेचन भी भाव के अन्तर्गत किया जाता है। यद्यपि

---

१. जयन्तविजय, १/१७-१८।
२. वही, १/२४।

सामान्यरूप से 'जयन्तविजय' में रस का पूर्ण परिपाक विद्यमान है किन्तु इस प्रकार के उद्‌बुद्ध मात्र स्थायीभाव के एकाध स्थल उदाहरणस्वरूप काव्य में मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ उद्‌बुद्ध मात्र रतिरूप स्थायीभाव का निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत है—

किं चावदत्कापि विलाससारा सारंगकान्ता कमनीयनेत्रा।
स्मरोऽङ्गलक्ष्म्या यमपूर्वरूपस्तत्पूजयैनं सखिनेत्रपुष्पैः॥[१]

अर्थात् किसी कमनीय नेत्र वाली मृगनयनी ने विलासपूर्ण होकर कहा—हे सखि! ये अङ्गलक्ष्मी के अनुपम रूप कामदेव हैं। अतः इनकी नेत्ररूपी पुष्पों से पूजा कीजिये।

यहाँ पर सुन्दरी के हृदय में जयन्त के लिए रतिरूप स्थायी भाव का चित्रण है, परन्तु आलम्बनादि सामग्री के अभाव में यह रस रूप को नहीं प्राप्त हो पाया है। अतः यह भाव का उदाहरण है।

इसके अतिरिक्त जहाँ पर व्यभिचारी भाव प्रधान रूप से व्यक्त हो रहे हों वहाँ पर भी भाव का स्थल समझना चाहिए। यद्यपि काव्य में रस प्रधान तत्त्व होता है तथा व्यभिचारी भाव उसकी पोषक सामग्री के रूप में होने के कारण उसकी तुलना में गौण रहते हैं तथापि किसी-किसी स्थल पर व्यभिचारी भाव भी प्रधानता को प्राप्त कर लेते हैं। मम्मट ने इसको भृत्य तथा राजा के उदाहरण से स्पष्ट करते हुए कहा है कि यद्यपि भृत्य की तुलना में राजा प्रधान होता है, किन्तु किसी भृत्य के विवाह के अवसर पर उपस्थित होते हुए राजा की तुलना में भृत्य प्रधान हो जाता है। उसी प्रकार रस के मुख्य होने पर भी कभी-कभी भावादि को भी प्रधानता प्राप्त हो जाती है।[२]

साहित्य दर्पणाकार आचार्य विश्वनाथ इसी भाव को दूसरे ढङ्ग से व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार प्रपानक रस की भाँति श्रृङ्गारादि रस में विभावादि का मिलाकर एक आस्वाद होता है। इस प्रकार यद्यपि संचारी भाव पृथक् नहीं रहता तथापि जिस प्रकार प्रपानक रस में मिर्च, खांड आदि का एकीकरण होने पर भी कभी-कभी (मिर्च आदि) की अधिकता हो जाती है उसी प्रकार संचारी भाव की कहीं-कहीं प्रधानता हो जाती है।[३]

---

१. जयन्तविजय, १६/२६।

२. मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन।
ते भाव शान्त्यादयः। अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्।
—काव्यप्रकाश, ४.३७ सूत्र ५१ तथा वृत्ति।

३. ननूक्तं प्रपानक रसवद्विभावादीनामेकोऽत्राभासो रस इति तत्र सञ्चारिणः। पार्थक्याभावात्कथं प्रधान्येनाभिव्यक्तिरित्युच्यते यथामरिचखण्डादेरेकीभावे प्रपानेक। उद्रेकः कस्यचिद्क्वापि तथा सञ्चारिणो रसे।—साहित्यदर्पण, ३/२६१-६२।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में अनेक स्थलों पर व्यभिचारी भाव के उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। जिनमें से कुछ निम्नवत् हैं—

असूया

मधुरसविभवेन स्पर्द्धते नो धराग्रै-
रुणिम सुकुमारत्वेन पाणिप्रवालैः ।
कमलवनमितीवासूययोत्पाटयन्ती-
रविशदथ जयन्तस्ताः पुरस्कृत्य तत्र ॥[1]

अर्थात् इसके पश्चात् वहाँ पर मधुरस के विभव के द्वारा अधरों से स्पर्धा करने वाले तथा अरुणिमा और सुकुमारता के द्वारा पाणिप्रवाल से स्पर्धा करने वाले उस कमलवन को अत्यन्त ईर्ष्या से उखाड़ती हुई उन स्त्रियों को आगे करके श्री जयन्त ने प्रवेश किया।

यहाँ पर कमलों के प्रति स्त्रियों की असूया अथवा ईर्ष्यारूप सञ्चारी भाव की स्पष्ट रूप से प्रतीति हो रही है। अतः यह भाव का उदाहरण है।

इसी प्रकार कवि ने प्रकृति में मानवीय भावनाओं का आरोप कर अनेक प्रकार के मानसिक विकार एवं भावों का विश्लेषण किया है --

मद्वल्लभां कैरविणीमुपेत्य चुम्बन्त्यमी रागवतेति राज्ञा ।
अमोचयत्यङ्कज गुप्तिनद्वान् मित्रः प्रभाते वसुभिर्द्विरेफान् ॥[2]

अर्थात् ये भ्रमर चन्द्रमा की प्रेयसी कुमुदिनी का रात्रि में चुम्बन करते हैं। अतः चन्द्रमा उन्हें कमलरूपी कारागार में बन्द कर देता है। किन्तु प्रातःकाल सूर्य उन्हें अपनी किरणों से कमलरूपी कारागार को खोलकर मुक्त कर देता है, जैसे कोई राजा अपनी प्रेयसी के कामुक व्यक्ति को कारागार में डाल देता है किन्तु प्रातः उसका विरोधी धन लेकर उसे मुक्त कर देता है।

यहाँ पर भ्रमरों के प्रति चन्द्रमा की असूया अथवा ईर्ष्या रूप संचारी भाव की स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति हुई है। अतः मानवीकरण के रूप में प्रकृति का यह प्रयोग कलात्मक होने के साथ-साथ भाव का उदाहरण भी बन गया है। इसी प्रकार—

तदापातभयान्नक्तं निलीनाः कन्दरोदरे ।
असूयन्ति महौषध्ये ज्वलन्त्यस्तस्य वैरिणः ॥[3]

अर्थात् उसके आक्रमण के भय से रात में गुफा के अन्दर छिपे हुए उसके

१. जयन्तविजय, ८/३५ ।
२. वही, ८/७१ ।
३. वही, ११/८७ ।

वैरीगण उसके जाज्वल्यमान प्रताप से जलती हुई महौषधियों के लिए ईर्ष्या करते हैं।

प्रस्तुत उदाहरण में रात्रि में जलने वाली महौषधियों के प्रति शत्रुओं की ईर्ष्या व्यक्त हो रही है। अतः भाव का उदाहरण है। और भी—

कीर्तनं विशतु मा स्म कन्यका कांक्षिणामपरभूभृतामिव।
अंगुलीकिसलयेन कश्चन श्रोत्रसंपुटमिति व्यघण्टयत्॥[1]

अर्थात् यह कन्या, चाहने वाले दूसरे राजाओं की वाणी में प्रविष्ट न हो। इसीलिए किसी राजा ने अंगुलिपल्लव से स्रोत सम्पुट को बन्द कर लिया।

यहाँ पर एक राजा की दूसरे राजा के प्रति असूया अथवा ईर्ष्या व्यक्त हुई है। अतः यह भी भाव का उदाहरण है।

लज्जा

यथा—

मधुकलसमनाभि स्फारसौरभ्यसारं
कुसुमनिवहमेतां यं गृहीतुं प्रयान्ति।
तदभिरुचितवासैस्ता अदृश्यन्तभृङ्गैः
परपरिभवकारी कः किल प्रीतिमेति॥[2]

अर्थात् मधु से सुशोभित मध्य भाग वाले, बढ़ती हुई सुगन्धसार वाले जिन पुष्प समुदाय को लेने के लिए स्त्रियाँ जाती हैं। उनमें रुचिकरवास वाले भौंरे ने उन्हें देखा, क्योंकि दूसरे का अनादर करने वाला कौन प्रसन्न होता है।

यहाँ पर स्त्रियों के पुष्पावचय का वर्णन किया गया है। किन्तु जब वे स्त्रियाँ पुष्पों तो तोड़ने के लिए जाती हैं तो उनमें बैठे हुए भौंरे उन्हें देखते हैं। अतः वे लज्जित होकर वापस चली आती हैं। इस प्रकार यहाँ लज्जा रूप व्यभिचारी भाव की प्रतीति हो रही है। इसी प्रकार—

अनवरतमखण्डं मण्डलं निष्कलङ्कः
प्रथयति कमलानां काममुन्निद्रतां च।
अयमिति परिभाव्य क्ष्मापतेर्विक्रमस्य
प्रविशति हिमरश्मिर्लज्जयेवाम्बुराशिम्॥[3]

अर्थात् इसका मण्डल निरन्तर अखण्डित एवं निष्कलंक है और कमलों की उन्निद्रता को यथेष्ट बिस्तृत करता है। इस प्रकार सूर्य के पराक्रम को जानकर चन्द्रमा लज्जा के वशीभूत होकर समुद्र में प्रवेश करता है।

१. जयन्तविजय, १६/४५। २. वही, ८/१८।
३. वही, ८/६५।

प्रस्तुत स्थल पर भी सूर्य के पराक्रम को जानकर चन्द्रमा की लज्जा के विस्तार का वर्णन किया गया है। अतः लज्जारूप व्यभिचारी भाव दृष्टिगोचर हो रहा है।

इसी प्रकार त्रयोदश सर्ग में भी कनकवती के जंघाओं की रमणीयता को देखकर ऐण ललना लज्जित होकर वनवास का आश्रय लेती है। कवि के शब्दों में –

रामणीयकमनंकुशमस्या जङ्घयोरनघयोरबलोक्य।
नूनमुद्गत पराभवदुःखा सस्तुरेणललना वनवासम् ॥[1]

अर्थात् इसकी सुन्दर रोमरहित निरंकुश जंघाओं की रमणीयता को देखकर ऐण ललना ने पराभव के दुःख के उत्पन्न होने के कारण वनवास का आश्रय लिया।

यहाँ पर भी लज्जारूप व्यभिचारी भाव की प्रतीति हो रही है।

इसी प्रकार—

सा विकासिवदनापि कुलीना लज्जया निगदितुं न शशाक।
किं तु कम्पपुलकाञ्चितगात्रैरेव तं वरतया प्रतिपेदे ॥[2]

अर्थात् विकसित वदन वाली वह कुलीन कन्या लज्जा से कुछ कहने में समर्थ नहीं हुई किन्तु पुलकित गात्रों में उसको वर बनाने के समान प्राप्त हुई।

यहाँ पर भी नारी-विषयक लज्जा का मनोहारी वर्णन किया गया है।

नारी-विषयक लज्जा का एक मनोहारी उद्धरण चतुर्दश सर्ग से प्रस्तुत है—

प्रहार मूर्छाप्रविलुप्तसंज्ञं वरार्थिनी कंचिदुपेत्य वीरम्।
पुनः प्रवृत्तं प्रधनाय दृष्ट्वा जगाम लज्जां विधुरासुरस्त्री ।[3]

अर्थात् वर को चाहने वाली, पतियों से हीन देवाङ्गनाएँ, प्रहार की मूर्छा से शून्य संज्ञा वाले किसी वीरवर के पास आकर फिर से उसको युद्ध के लिए प्रवृत्त देखकर बड़ी लज्जा को प्राप्त हुई।

यहाँ पर भी लज्जा रूप व्यभिचारी भाव का निरूपण हुआ है।

चिन्ता—

यथा—

इति प्रतिज्ञावचनादमुष्य सा मुमूर्छ वज्राभिहतेव तत्क्षणम्।
पपात च च्छिन्नलतेव भूतले किमद्भुतं प्रेमवतामिदं हि वा ॥[4]

१, जयन्तविजय, १३/१६।
२. वही, १३/४६।
३. वही, १४/६८।
४. वही, २/३२।

अर्थात् इस तरह से वह राजा के प्रतिज्ञा वचन से वज्राघात के समान उसी समय मूर्छित होकर भूतल पर छिन्न लता की भाँति गिर पड़ी, क्योंकि प्रेमी जनों के लिए इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

यहाँ पर रानी प्रीतिमती के चिन्ताविषयक व्यभिचारी भाव का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार

तव स्फूर्जच्छौर्यप्रभवयशसा चन्द्रमहसा
भृशं शुभ्रीभूतं खकचनिचयं वीक्षितवती।
पलिन्कीत्वभ्रान्त्या कुलितहृदयात्रौषधविधेः
शची पृच्छाक्लेशे निपतति मुहुः स्वर्गिभिषजोः ॥[1]

अर्थात् तुम्हारे बढ़े हुए शौर्य के प्रभाव के यशवाले चन्द्र से अत्यन्त शुभ्र होते हुए अपने कच निचय को देखती हुई, बाल के पकने की भ्रान्ति से व्याकुलहृदय वाली शची स्वर्गीय वैद्य अश्वनीकुमारों से बार-बार पूछने के क्लेश में पड़ गयी।

यहाँ पर कवि की कल्पना सराहनीय है, क्योंकि इन्द्राणी को भी यह चिन्ता उत्पन्न हो गयी, कि कहीं हमारे बाल तो नहीं पक गये हैं। अतः वह स्वर्गीय वैद्य अश्वनीकुमारों से बारम्बार व्याकुलता के साथ पूछ रही है। अतः यहाँ पर भी चिन्तारूप व्यभिचारीभाव की स्पष्ट प्रतीति हो रही है।

औत्सुक्य

यथा—

निशम्य भूभुजङ्गं तमुपायान्तं रसादथ।
साध्वसध्यासिता प्रापदक्षिणाकम्पसंपदम् ॥[2]

अर्थात् इसके पश्चात् उस राजा को आते हुए सुनकर रसवती दक्षिण दिशा कम्प को प्राप्त हुई।

यहाँ पर दिग्विजय के प्रसङ्ग का वर्णन हुआ है। जिस प्रकार कोई नायिका नायक के शुभागमन को सुनकर उससे मिलने की इच्छा से उत्सुक हो जाती है उसी प्रकार दक्षिण दिशारूपी नायिका के मन में राजा के शुभागमन को सुनकर उत्सुकता बढ़ गयी है। इसीलिए शरीर में रोमाञ्च उत्पन्न हो गया है। अतः यहाँ पर औत्सुक्य रूप व्यभिचारी भाव की स्पष्ट प्रतीति हो रही है।

इस प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य में रस भाव का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, कि प्रस्तुत काव्य में विभिन्न रसों तथा भावों का सन्निवेश कुशलतापूर्वक किया गया है किन्तु वीर रस के प्रयोग में कवि ने यथेष्ट सफलता प्राप्त की है।

---

१. जयन्तविजय, ६/७२। २. वही, ११/२४।

सप्तम अध्याय

आदान-प्रदान

'जयन्तविजय' महाकाव्य पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

कवि पर पूर्ववर्ती एवं सामयिक कवियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। राजशेखर ने इस प्रभाव को हरण की संज्ञा प्रदान की है। 'हरण' के औचित्य को अस्पष्ट करने के लिए उन्होंने प्राचीन आचार्यों के मत का उल्लेख किया है। यथा— 'पुराणकवि क्षुण्ये वर्त्मनि दुरापमस्पृष्ट वस्तु ततश्च तदेव संस्कर्तुं प्रयतेत इत्याचार्याः।' अर्थात् काव्य मार्ग का प्राचीन कवियों ने सम्यक् अभ्यास किया है अतः उनसे असम्पृष्ट वस्तु असम्भव है। कवियों का कर्तव्य है कि वे प्राचीन कवियों से अभ्यस्त वस्तु का ही संस्कार करें।[1] फलतः निज काव्यकृति के सर्जन के अवसर पर पूर्ववर्ती एवं समसामयिक कवियों के प्रभाव की उपेक्षा करना कवि के लिए असम्भव सा था। कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य के प्रारम्भ में जो श्लोक प्रस्तुत किये हैं, उनसे भी यह ज्ञात हो जाता है, कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं का सम्यक् अध्ययन किया था। कवि के शब्दों में—

जयन्ति ते सत्कवयो यदुक्त्या बाला अपिस्युः कविताप्रवीणाः।
श्रीखण्डवासेन कृताधिवासाः श्रीखण्डतां यान्त्यपरेऽपि वृक्षाः ॥[2]

अर्थात् वे सत्कवि जय को प्राप्त करें, जिनकी उक्तियों से बाल (मन्द बुद्धि वाले) भी कविता में प्रवीण हो जाते हैं क्योंकि चन्दन की सुगन्ध से सुगन्धित हो जाने पर अन्य वृक्ष भी चन्दन बन जाते हैं।

अतः स्पष्ट है, कि कवि ने चन्दन सदृश उन सत्कवियों के काव्य का अवलोकन अवश्य किया है। जयन्तविजय काव्य उनकी प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें उन्होंने प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्यों का उतना आश्रय नहीं लिया जितना पौराणिक एवं कालिदास प्रभृति भावपक्ष प्रधान कवियों के काव्यों का आश्रय लिया है। यही कारण है कि उनके काव्य पर जिनसेन के महापुराण तथा कालिदास, भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष आदि कवियों के काव्य का प्रभाव परिलक्षित होता है।

जिनसेन

संस्कृत कवियों ने अपने महाकाव्य का कथानक अधिकांशतः पुराणों से ग्रहण किया है। अतः बाद में होने वाले जैन कवियों पर भी इन्हीं कवियों का प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों का अनुकरण करके अपने महाकाव्य के कथानक

---

१. काव्य मीमांसा, अध्याय १२, पृ० १५८ (चौ० प्र०)।
२. जयन्तविजय, १/१७।

का आधार जैन महापुराण बनाये। किन्तु कवि अभयदेव की विचारधारा इन पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती कवियों से भिन्न रही है, क्योंकि उन्होंने अपने महाकाव्य का कथानक किसी भी पुराण से नहीं लिया है। हाँ इतना अवश्य है, कि उनके महाकाव्य पर जिनसेन के 'महापुराण' का प्रभाव परिलक्षित होता है।

जिनसेन ने अपने 'महापुराण' के अट्ठाइसवें पर्व से लेकर सैंतीसवें पर्व तक भरत की दिग्विजय का वर्णन किया है। भरत सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं और मार्ग में वेग से चलते हुए उनके घोड़ों के समूह के खुरों से उड़ी हुई पृथ्वी की धूल केवल शत्रुओं के तेज को ही नहीं अपितु सूर्य के तेज को भी रोक देती है। भरत के समीप पहुँचते ही शत्रु राजाओं का सब तेज नष्ट हो जाता है, उनके भारी-भारी श्वासोच्छ्वास चलने लगते हैं, वे अन्तःकरण में व्याकुल हो जाते हैं तथा उनका मरना ही केवल शेष रह जाता है—

प्राचीं दिशमथो जेतुम् आपयोधेस्तमुद्यतम् ॥
ततः प्रचलदश्वीयखुरोद्धूतं महीरजः ।
न केवलं द्विषां तेजो रुरोध द्युमणेरपि ॥
ध्वस्तोष्मप्रसरा गाढ्य उच्छ्वसन्तोऽन्तराकुलाः ।
प्राप्तेऽस्मिन् वैरिभूपालाः प्रापुर्मर्तव्यशेषताम् ॥[1]

इसी प्रकार कवि अभयदेव ने भी 'जयन्तविजय' महाकाव्य के एकादश सर्ग में जयन्त की दिग्विजय का वर्णन किया है। जयन्त भी अपनी सेना द्वारा पृथ्वी को चलायमान करते हुए सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं और उनके घोड़ों के खुरों से खोदी गयी पृथ्वी के पृष्ठ भाग से उड़ी हुई धूलि से सूर्य की किरणें ढक जाती हैं तथा समस्त भूमण्डल के राजाओं के द्वारा शिरोधार्य आदेश वाले उनके प्रस्थान करने पर विपरीत (शत्रु) राजाओं की भय के कारण स्वांस की तरङ्गें बढ़ जाती हैं—

श्रीजयन्तस्ततः पूर्वं पूर्वस्यामचलद्दिशि ।
चतुरङ्गचमूश्चक्रे चलयन्नचलामपि ॥
ततश्चीर खुरक्षुण्णक्ष्मापीठप्रभवैर्भृशम् ।
रजोभिरभवन्बन्ध्यावापारास्तरणेस्त्विषः ॥
तस्मिंश्चलति भूपालमौलिलालितशासने ।
अहितानामवर्धन्त त्रासश्वासमहोर्मयः ॥[2]

---

१. महापुराण, २८/५, ३०/६६ तथा २६/२० ।
२. जयन्तविजय, ११/२,४-५ ।

इस प्रकार यहाँ पर जिनसेन तथा कवि अभयदेव के भावों में साम्य है, जिसका एक प्रमुख कारण यह भी हो सकता है कि जिनसेन तथा कवि अभयदेव दोनों ही जैन धर्मावलम्बी हैं।

कवि अभयदेव जयन्त की दिग्विजय का वर्णन करते हुए आगे कहते हैं—कि मार्ग में कुछ राजा लोग अपना सर्वस्व दान देकर तथा कुछ लोग अपना अभिमान छोड़कर शरण देने वाले उन जयन्त की शरण लेकर उनके पीछे-पीछे चलने लगते हैं। जयन्त सर्वप्रथम पूर्व दिशा में भिल्लों को पराजित करते हैं तथा इसके पश्चात् सुह्मानों के तेज को नष्ट करते हैं। गौड़ राजा उन्हें हाथी भेंटकर अपनी अधीनता स्वीकार करते हैं। इसके पश्चात् वे समुद्र तट पर पहुँचते हैं—

सर्वस्वादानतः केचिन्मानभङ्गाच्च केचन ।
शरण्यं शरणीकृत्य मार्गभूपास्तमन्वयुः ।।
स पूर्वं पर्वतोत्सङ्गतरङ्गित महोत्सवान् ।
विजिग्ये तरसा भूरिभिल्लानुल्लङ्घितक्रमः ।।
ततः समुत्तरन्सुह्मानजिह्मितपराक्रमः ।
चकार चरणन्यस्तमस्तकानस्ततेजसः ।।
नागानुपायनीकृत्य तमेवोर्जितविक्रमम् ।
सिषेवे खर्वितं जानन्गौडः शौण्डीर्यमात्मनः ।।
स वैरिकैरवरविर्दृप्यद्दोर्दण्ड मण्डलः ।
प्रापत्तमालहिन्ताल श्यामलं कूलमम्बुधेः ।।[१]

यहाँ पर 'महापुराण' के श्लोकों का कवि अभयदेव पर प्रभाव स्पष्ट है क्योंकि जिनसेन ने भरत की दिग्विजय का वर्णन भी इसी प्रकार किया है—

महामुकुटबद्धानां सहस्राणि समन्ततः ।
तमनुप्रचलन्ति स्म सुराधिपमिवामराः ।।
प्रतिराष्ट्रमुपानीतप्राभृतान् विषयाधिपान् ।
सम्भावयन् प्रसादेन सोऽत्यगाद् विषयान् बहून् ।।
दृशं व्यापारयामास कुल्याबुद्ध्या महोदधौ ।।
व्रजन् मद्रांश्च कच्छांश्च चेदीन् वत्सान् ससुह्मकान् ।
पुण्ड्रानोण्ड्रांश्च गौडांश्च मतमश्रावयद् विभोः ।।
ददुरस्मै नृपाः प्राच्यकलिङ्गाङ्गारजान गजान् ।
गिरीनिव महोच्छ्रायान प्रश्चोतन्मदनिर्झरान् ।।
कालिन्दकालकूटौ च किरातविषयं तथा ।।[२]

---

१. जयन्तविजय, ११/७-११।
२. महापुराण, २८/१०,२९,६६, २९/४१,४३,४८ ।

अर्थात् जिस प्रकार देव लोग इन्द्र के पीछे-पीछे चलते हैं उसी प्रकार हजारों मुकुटबद्ध राजा लोग चारों ओर भरत के पीछे-पीछे चल पड़ते हैं। तथा भरत प्रत्येक देश में भेंट लेकर आये हुये वहाँ के राजाओं का बड़ी प्रसन्नता से आदर सत्कार करते हुये बहुत से देशों का अतिक्रमण कर आगे बढ़ जाते हैं। वे आगे चलकर नदी के समान समुद्र को देखते हैं। भरत का सेनापति मद्र, कच्छ, चेदि, वत्स, सुह्य, पुण्ड, औण्ड और गौड़ देशों में जाकर सब जगह भरत की आज्ञा सुनाता है तथा वहाँ के राजागण जिनसे मद के निर्झरने झर रहे हैं ऐसे पूर्व देश में उत्पन्न होने वाले तथा कलिंग और अंगार देश में उत्पन्न होने वाले, पर्वतों के समान ऊँचे-ऊँचे हाथी उन्हें भेट में देते हैं। इसके पश्चात् भरत का सेनापति कालिंद, कालकूट तथा भीलों के देश में भी पहुँचता है।

इस प्रकार जिनसेन के 'महापुराण' का कवि अभयदेव के जयन्त-दिग्विजय वर्णन पर स्पष्ट प्रभाव है।

भरत पूर्व दिशा के समस्त राजाओं को जीतकर दक्षिण दिशा के राजाओं को जीतने की इच्छा से दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं—

इत्थं स पृथिवीमध्यान पौरस्त्यान्निर्जयन्नृपान्।
प्रतस्थे दक्षिणामाशां दक्षिणात्यजिगीषया॥[१]

इसी प्रकार जयन्त भी पूर्व दिशा में राजाओं को परास्त करते हैं और जब राजाओं की रानियाँ अपने पुत्रों के लिए भिक्षा की याचना करती हैं तो वे उनके पुत्रों को राज्य पर अभिषिक्त कर दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं—

तस्यावरोधनैः पुत्रभिक्षामभ्यर्थितस्ततः।
निवेश्यतत्सुतं राज्ये प्रतस्थे दक्षिणां दिशम्॥[२]

इसके पश्चात् वे केरल की ओर जाते हैं और केरल निवासी इनके प्रताप रूपी सूर्य से व्याकुल होकर इनके पैर के नाखून की चन्द्र सदृश किरणों से अपने को शीतल करते हैं—

विश्रम्य विविधैस्तत्र विनोदैर्भूरिवासरान्।
प्रताप,ग्रेसरः सोऽथ प्रतस्थे केरलान्प्रति॥
प्रतापतपनेनास्य केरलैराकुलीकृतैः।
आत्मा निर्वापितः पादनखचन्द्रमरीचिभिः॥[३]

कवि अभयदेव के इन श्लोकों पर भी 'महापुराण' के अग्रलिखित श्लोकों का प्रभाव है—

१. महापुराण, २६/७७।
२. जयन्तविजय, ११/२३।
३. जयन्तविजय, ११/३२, ३६।

त्रिकलिङ्गाधिपानोद्रान् कच्छान्ध्रविषयाधिपान् ।
प्रातरान् केरलांश्चोलान् पुन्नागांश्च व्यजेष्ट सः ॥
नृपानेतान् विजित्याशु प्रणमय्य स्वपादयोः ।
हृत्वा तत्साररत्नानि प्रभुः प्रापत् परां मुदम् ॥[1]

अर्थात् दक्षिण में भरत ने त्रिकलिङ्ग, औद्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नाग देशों के सब राजाओं को जीता तथा इन सब राजाओं को शीघ्र ही जीतकर उनसे अपने चरणों में प्रणाम कराया तथा उनके सारभूत रत्न लेकर परम आनन्द को प्राप्त किया ।

भरत का सेनापति महेन्द्र पर्वत का उल्लंघन कर विन्ध्याचल के समीपवर्ती प्रदेशों को जीतता हुआ नागपर्वत पर चढ़कर मलयपर्वत पर पहुँचता है—

महेन्द्राद्रिं समाक्रामन् विन्ध्योपान्तं च निर्जयन् ।
नागपर्वतमध्यास्य प्रययौ मलयाचलम् ॥[2]

इसी प्रकार जयन्त भी राजाओं से सम्मानित होते हुए मलयाचल की ओर प्रस्थान करते हैं—

अथ स्मर शिशु क्रीडा साक्षिभिर्दक्षिणानिलैः ।
सूचितोऽनाध्वना भूपः प्रतस्थे मलयं प्रति ॥[3]

अर्थात् इसके पश्चात् काम शिशु की क्रीडा के साक्षी दक्षिण वायु से सूचित होकर बिना मार्ग के ही राजा जयन्त मलयाचल की ओर चल पड़े ।

जयन्त मार्ग में पर्वतीयों को जीतकर उनसे भेंट स्वीकार करते हैं । इसके पश्चात् वे पाण्डु देश को जीतने के लिए प्रस्थान करते हैं और युद्ध में पाण्डु देश के राजा को जीत लेते हैं—

वैक्रमिर्विक्रमेणाथ पार्वतीयान्विजित्य सः ।
तेभ्यः सारमिवास्याद्रेरुपायनमुपाददे ॥
चमूचक्ररजः पुञ्जैः शोषयन्दक्षिणोदधिम् ।
जयन्तः पर्वतात्तस्माज्जेतुं पाण्ड्यांश्चचाल सः ॥
तस्मिन्पाण्ड्यमहीभर्तुः समूलोन्मूलनोद्यते ।
भङ्गभीतेश्च तल्लक्ष्मीर्भेजेऽस्य भुजपञ्जरम् ॥[4]

---

१. महापुराण, २६/७६, ८१ ।
२. वही, २६/८८ ।
३. जयन्तविजय, ११/३७ ।
४. वही, ११/४२, ४४, ४६ ।

अर्थात् जयन्त ने अपने पराक्रम से पर्वतीयों को जीतकर उनसे पर्वत के सार की भाँति उपायन को स्वीकार किया और अपनी सेना के समूह के रजपुञ्जों से दक्षिण समुद्र का शोषण करते हुए उस पर्वत से पाण्डु देश को जीतने के लिए प्रस्थान किया तथा उस पाण्डु राजा के समूल उन्मूलन के लिए तत्पर उनके भुज पञ्जर में लक्ष्मी टूटने के भय से स्वयं आ गयी।

यहाँ पर कवि अभयदेव के वर्णन में नायक के अद्भुत पराक्रम का संकेत मिलता है। इसी प्रकार भरत के पराक्रम का संकेत भी किया गया है—

प्रसाध्य दक्षिणामाशां विभुस्त्रैराज्य पालकान्।
समं प्रणमयामास विजित्य जय साधनैः॥
कृतावासश्च तत्रैनं ददृशुस्तद्वनाधिपाः।
वन्यैरूपायनैः श्लाघ्यैः अगदैश्च महौषधैः॥[1]

अर्थात् भरत ने अपनी विजयी सेना के द्वारा दक्षिण दिशा को वश में करके चोल, केरल और पाण्ड्य इन तीन राजाओं को एक साथ जीत लिया और एक ही साथ उनसे प्रणाम कराया तथा विन्ध्याचल के वनों के राजाओं ने वनों में उत्पन्न हुई रोग दूर करने वाली और प्रशंसनीय बड़ी-बड़ी औषधियाँ भेंटकर वहाँ पर निवास करने वाले राजा भरत के दर्शन किये।

यहाँ पर 'महापुराण' में वर्णित भरत 'जयन्तविजय' में वर्णित जयन्त की अपेक्षा अत्यन्त पराक्रमी हैं क्योंकि जयन्त पर्वतीयों को जीतकर उनसे उपायन प्राप्त करते हैं जबकि भरत को आया हुआ जानकर विन्ध्याचल के वनों के राजा स्वयं जाकर उन्हें उपायन देते हुए उनके दर्शन करते हैं। इसी प्रकार जयन्त पाण्डु राजा को अकेले युद्ध में जीतते हैं जब कि भरत एक साथ ही चोल, केरल तथा पाड्ण्य इन तीनों राजाओं को जीतकर उन्हें अपने अधीन बनाते हैं। यहाँ कवि अभयदेव तथा जिनसेन के वर्णन का क्रम उल्टा है। परन्तु भावों में साम्य है।

इसी प्रकार दक्षिण दिशा को जीतने के पश्चात् पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं और पश्चिमी राजाओं को जीतते हैं। कवि जिनसेन के शब्दों में—

पतन्यत्र पतङ्गोऽपि तेजसा याति मन्दताम्।
दिदीपे तत्र तेजोऽस्य प्रतीच्यां जयतो नृपान्॥[2]

अर्थात् जिस दिशा में जाकर सूर्य भी अपने तेज की अपेक्षा मन्द (फीका)

१. महापुराण, ३०/३५, ६२।
२. वही, ३०/११६।

हो जाता है उसी दिशा में पश्चिमी राजाओं को जीतते हुए चक्रवर्ती भरत का तेज अतिशय देदीप्यमान हो रहा था ।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में भी दिग्विजय का यही क्रम वर्णित है, क्योंकि जयन्त भी दक्षिण दिशा को जीतने के बाद पश्चिम दिशा की ओर मुड़ जाते हैं—

सैन्धवीनां कपोलेषु लुम्पन्पत्नलताङ्कुरान् ।
रजोभिः सैन्यसंभूतैः प्रतस्थे पश्चिमामथ ।।[१]

अर्थात् सैन्धव देश की कामनियों के गालों पर बने हुए पत्नलताङ्कुर को सेना से उत्पन्न धूलि से दूर करते हुए उन्होंने पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया ।

जयन्त का भी पश्चिमी राजाओं से युद्ध होता है और वे उन राजाओं पर विजय प्राप्त करते हैं । कवि अभयदेव के शब्दों में—

इतिनिर्जित्य पाश्चात्यभूपतीनवनीपतिः ।
स्वविक्रमकथोद्‌घोषे चक्रे वैतालिकं न कम् ।।[२]

अर्थात् इस प्रकार पाश्चात्य भूपतियों को जीतकर राजा जयन्त ने अपने पराक्रम की कथा के उद्‌घोष में किसको वैतालिक नहीं बनाया । अर्थात् जयन्त के पराक्रम की सभी ने प्रशंसा की ।

भरत पश्चिम दिशा को जीतने के बाद उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं—

कौबेरीमथ निर्जेतुम् आशामभ्युद्यतो विभुः ।
प्रतस्थे वाजिभूयिष्ठैः साधनैः स्थगयन दिशः ।।[३]

अर्थात् इसके पश्चात् उत्तर दिशा को जीतने के लिए उद्यत हुए भरत अनेक घोड़ों से युक्त सेनाओं से दिशाओं को व्याप्त करते हुए निकल पड़े ।

इसी प्रकार जयन्त भी पश्चिम दिशा को जीतने के बाद उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं—

अथ मानवतां मूर्ध्नि पदमुद्दाम विक्रमा ।
कुर्वन्नुर्वीपतिर्भेजे धनदाधिष्ठितां दिशम् ।।[४]

---

१. जयन्तविजय, ११/१२ ।
२. वही, ११/७७ ।
३. महापुराण, ३१/१ ।
४. जयन्तविजय, ११/७८ ।

अर्थात् इसके पश्चात् प्रचण्ड विक्रम वाले उन जयन्त ने घमण्डियों के शिर पर पैर रखते हुए धनदाधिष्ठित (उत्तर) दिशा की ओर प्रस्थान किया ।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य के एकादश सर्ग में जयन्त की दिग्विजय का वर्णन जिनसेन के 'महापुराण' के आधार पर किया है । कवि ने यत्र-तत्र कल्पना का आश्रय लिया है किन्तु भाव 'महापुराण' के ही हैं । यही कारण है, कि कवि के वर्णन में विशेष नवीनता परिलक्षित नहीं होती है ।

दिग्विजय के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी कवि ने 'महापुराण' के भावों को ग्रहण किया है ।

उदाहरणार्थ सैनिकों के प्रयाण काल में बजने वाले नगाड़े के शब्द का वर्णन करते हुए जिनसेन कहते हैं—

अन्योन्यस्येति सञ्जल्पैः सम्प्रास्थिषत सैनिकाः ।
प्रयाणभेरीप्रध्वानः तदोद्यन् द्या मधिध्वनत् ॥[1]

अर्थात् परस्पर वार्तालाप करते हुए भरत के सैनिकों ने प्रस्थान किया तथा उस समय प्रयाणकाल में बजने वाले नगाड़ों के उठे हुए शब्द ने आकाश को शब्दायमान कर दिया ।

'जयन्तविजय' में भी सैनिकों के प्रयाण के वर्णन में कवि ने कुछ इसी प्रकार भाव व्यक्त किये हैं—

असीमसामन्तमहर्द्धिडम्बरः प्रयाणभेरीरवपूरिताम्बरः ॥[2]

अर्थात् असीम राज्य मण्डल की समृद्धि को सूचित करने वाले प्रस्थान कालीन भेरी रव ने अम्बर को भरपूर कर दिया ।

इस प्रकार कवि अभयदेव के 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर जिनसेन के 'महापुराण' का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । जिसका प्रमुख कारण यह है, कि जिनसेन तथा कवि अभयदेव दोनों ही जैन धर्मावलम्बी हैं । अतः जैन कवि होने के कारण अभयदेव ने जैन महापुराण के भावों को लेकर अपने महाकाव्य की रचना की ।

कालिदास

कविकुलगुरु कालिदास की रचनाओं का जितना अधिक अनुकरण परवर्ती कवियों ने किया है उतना किसी अन्य कवि का नहीं हुआ है । कवि अभयदेव भी

---

१. महापुराण, २८/१५ ।
२. जयन्तविजय, ६/५६ ।

उनके असंख्य भक्तों में से एक हैं। यद्यपि उन्होंने किसी का नाम लेकर प्रशंसा नहीं की किन्तु उनका कथन कालिदास सरीखे कवियों के लिए ही है—

जयन्तु सर्वेऽपि कवीश्वरास्ते यदीयसत्काव्यसुधाप्रवाहः ।
विकूणिताक्षेण सुहृज्जनेन निपीयमानोऽप्यतिपुष्यतीव ॥[१]

अर्थात् वे सभी कवीश्वर, जिनके सत्काव्य के अमृत का प्रवाह विस्फारित नेत्रों वाले सुहृज्जनों के द्वारा पान किया जाता हुआ अत्यन्त फलित होता है, जय को प्राप्त करें।

यहाँ पर कवि अभयदेव के कथन से स्पष्ट है कि वे अपने पूर्ववर्ती कवियों की इसीलिए प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उनके काव्य का परवर्ती कवियों द्वारा अनुकरण किया जाता है। अतः उन्होंने कालिदास सरीखे कवियों को अपना उपजीव्य अथवा गुरु स्वीकार किया है। इसीलिए उनके 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर इनका प्रभाव होना स्वाभाविक है।

कालिदास ने 'रघुवंश' महाकाव्य में रघु के जन्म के अवसर पर कल्याणमय वातावरण का इस प्रकार वर्णन किया है—

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे ।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥[२]

अर्थात् बालक (रघु) के जन्म के समय चारों दिशाएँ निर्मल हो गयीं। शीतल मन्द सुगन्ध वायु बहने लगी। अग्नि दक्षिण दिशा की ओर घूमकर हवन की सामग्री ग्रहण करने लगा। इस प्रकार सभी शकुन अच्छे-अच्छे हो रहे थे। यह उचित ही है क्योंकि ऐसे महापुरुषों का जन्म संसार के हित के लिए ही होता है।

'रघुवंश' के इसी भाव को कवि अभयदेव ने जयन्त के जन्म के अवसर पर निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त किया है—

दिशः प्रसन्नाः शरदीव नद्यो वातास्तदामोदभृतो जनाश्च ।
बभूवुरभ्रे सुरदुन्दुभीनां पयोदनादप्रतिमा निनादाः ॥[३]

अर्थात् दिशाएँ निर्मल हो गयीं। शरद् ऋतु के समान नदी निर्मल हुई, शुद्ध वायु प्रवाहित होने लगी तथा लोग आनन्दित हुए और देवताओं के नगाड़े का शब्द मेघों के शब्द के समान होने लगा।

इसी प्रकार पुत्र जन्म से हर्षित दिलीप और विक्रमसिंह के वर्णनों में भी समानता है। उदाहरणार्थ—-

१. जयन्तविजय, १/१८।
२. रघुवंश, ३/१४।
३. जयन्तविजय, ६/८०।

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसंमिताक्षरम् ।
अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे ॥[१]

अर्थात् अमृत के समान अक्षरों वाले पुत्रजन्म के समाचार को सुनाने वाले अन्तःपुर के सेवक को राजा दिलीप ने राजचिह्न, छत्र और चामर को छोड़कर शेष सभी आभूषण दे डाले अथवा सब कुछ देने को तैयार हो गये ।

इसी भाव को कवि अभयदेव ने लगभग समान रूप में व्यक्त किया है—

पीत्वेति वाचं श्रुतिशुक्तिकाभ्यां सुधामिवासां विदधे प्रसादम् ।
स स्वर्णवस्त्रैर्मणिभूषणैश्च कन्दैरिवैश्वर्य महाद्रुमस्य ॥[२]

अर्थात् राजा विक्रमसिंह ने अपनी कर्ण सुक्तिकाओं से सेवकों की अमृतमयी वाणी को सुनकर अत्यन्त हर्षित होते हुए ऐश्वर्य महाद्रुम के कन्द (सार) की भाँति स्वर्ण, वस्त्र, मणि तथा आभूषणों से उन लोगों को प्रसन्न किया ।

यहाँ पर कवि अभयदेव का वर्णन अधिक उदात्त बन पड़ा है क्योंकि दिलीप के लिए तीन वस्तुएँ अदेय हैं किन्तु विक्रमसिंह के लिए उन वस्तुओं का उल्लेख न करके कवि ने अपनी प्रतिभा-चातुरी का परिचय दिया है ।

जयन्त का वर्णन भी अनेक स्थलों पर रघु के वर्णन से प्रभावित है । उदाहरणार्थ रघु के शैशव वर्णन का यह श्लोक दृष्टव्य है—

पितुः प्रयत्नात्स समग्रसंपदः शुभैः शरीरावयवैर्दिनेदिने ।
पुपोष वृद्धिर्हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥[३]

अर्थात् जैसे शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा का चन्द्रमा सूर्य की किरणें पाकर दिन-दिन बढ़ने लगता है वैसे ही बालक रघु के अंग भी सम्पत्तिशाली पिता की देखरेख में बढ़ने लगे ।

जयन्त के शैशव वर्णन में कवि अभयदेव ने भी इसी प्रकार के भावों को व्यक्त किया है—

शुक्लपक्ष इव चन्द्रमाः क्रमाद्वृद्धिमाप सुदृशोः सुधाञ्जनम् ॥[४]

अर्थात् स्त्रियों के सुनेत्रों के लिए सुधाञ्जन के समान वह बालक (जयन्त) शुक्लपक्ष की चन्द्रमा की भाँति वृद्धि को प्राप्त हुआ ।

---

१. रघुवंश, ३/१६ ।
२. जयन्तविजय, ६/८५ ।
३. रघुवंश, ३/२२ ।
४. जयन्तविजय, ७/८ ।

अपि च—

तेन नीरधिरिवेन्दुना ततश्चन्द्र मौलिरिव शक्तिपाणिना ।
स्वर्गिणामिव पतिर्जयेन स श्रीजयन्ततनुजन्मना बभौ ।।[१]

अर्थात् इन्दु के द्वारा समुद्र की भाँति, कार्तिकेय के द्वारा चन्द्रमौलि की भाँति, जयन्त के द्वारा इन्द्र की भाँति उस श्री जयन्त नाम के पुत्र से वह विक्रमसिंह अत्यन्त सुशोभित हुए ।

यहाँ पर 'रघुवंश' के निम्नलिखित श्लोक के भावों को कवि ने ग्रहण किया है—

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरंदरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ।।[२]

अर्थात् जैसे कार्तिकेय के समान पुत्र को पाकर शंकर और पार्वती को अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी और जयन्त जैसे पुत्र को पाकर इन्द्र और शची प्रसन्न हुए थे, वैसे ही राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा भी उन दोनों के समान ही तेजस्वी पुत्र को पाकर प्रसन्न हुए ।

'रघुवंश' में रघु के गुणों का वर्णन करते हुए कवि कालिदास कहते हैं—

मद्नद्रोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ ।
फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ।।[३]

अर्थात् जैसे आम के सुन्दर फल को देखकर लोग उसके बौर को भूल जाते हैं वैसे ही रघु में राजा दिलीप से अधिक गुण देखकर लोग दिलीप को भूल गये थे।

इसी प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य में जब जयन्त को हस्तिनापुर का राज्य मिलता है तो वे कुछ ही समय में अपने गुणों के कारण लोकप्रिय हो जाते हैं और प्रजा हस्तिनापुर के राजा वैरिसिंह को भूल जाती है

अत्यन्त विस्मारितवैरिसिंहक्ष्माधिराजः स्वगुणैः प्रजानाम् ।।[४]

इसी प्रकार 'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघु की दिग्विजय से 'जयन्त-विजय' महाकाव्य के एकादश सर्ग में वर्णित जयन्त की दिग्विजय भी प्रभावित है । रघु सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं ।

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनवर्हिषा ।
अहितानंनिलोद्धूतैस्तर्जयन्निब केतुभिः ।।[५]

अर्थात् इन्द्र के समान पराक्रमी राजा रघु सर्वप्रथम दिग्विजय के लिए पूर्व

१. जयन्तविजय, ७/१३ ।
२. रघुवंश, ३/२३ ।
३. रघुवंश, ४/६ ।
४. जयन्तविजय, १६/१ ।
५. रघुवंश, ४/२८ ।

की ओर चले । वायु लगने से सेना की जो झंडियाँ फहरा रही थीं वे मानो शत्रुओं को अँगुली उठा-उठाकर डाँट रही थी ।

रघु की भाँति ही जयन्त भी सर्वप्रथम दिग्विजय के लिए पूर्व दिशा की ओर जाते हैं । कवि अभयदेव के शब्दों में—

श्रीजयन्तस्ततः पूर्वं पूर्वस्यामचलद्दिशि ।
चतुरङ्गचमूश्चक्रे चलयन्नचलामपि ॥[1]

अर्थात् इसके पश्चात् श्री जयन्त सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर चल पड़े और चतुरंग चमू के द्वारा अचला को भी चलायमान कर दिया ।

यहाँ पर कालिदास तथा अभयदेव के भावों में पर्याप्त साम्य है क्योंकि यदि रघु की सेना में फहराने वाली झण्डियाँ मानो अँगुली उठाकर शत्रुओं को डाँट रही हैं तो जयन्त भी अपनी सेना के द्वारा पृथ्वी को चलायमान कर रहे हैं ।

रघु पूर्व से विजय करते हुए कलिङ्ग की ओर जाते हैं और यहाँ पहुँचकर कपिशा नदी पर पुल बनाकर उसे पार करते हैं । कलिङ्ग में वे महेन्द्र पर्वत पर अपना शिविर स्थापित करते हैं । कलिंग नरेश हाथियों की सेना लेकर रघु का सामना करता है किन्तु युद्ध में विजयलक्ष्मी रघु को प्राप्त होती है—

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः ।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥
स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णंन्यवेशयत् ।
अंकुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥
प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः ।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ॥
द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम् ।
सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥[2]

'जयन्तविजय' महाकाव्य में भी दिग्विजय का यही क्रम वर्णित है—

प्रतापतपनेनोच्चैः शोषयन्कपिशां नदीम् ।
सममुत्कलकान्तानां कस्तूरीपत्रवल्लिभिः ॥
सैन्यकोलाहलैर्दूरं पूरयन्रोदसीमथ ।
चचाल नर शार्दूलः कलिङ्गाधिपतिं प्रति ॥
अखण्डैः खण्डितारातिभुजदर्पः प्रयाणकैः ।
महेन्द्रविक्रमः प्राप महेन्द्राद्रेरुपत्यकाम् ॥

१. जयन्तविजय, ११/२ ।
२. रघुवंश, ४/३८-४१ ।

परस्परास्त्र संघट्ट स्फुरदग्निस्फुलिङ्गकम् ।
कलिङ्गपतिना सार्धमभवद्युद्धमद्भुतम् ॥
विलोड्याथ क्षणेनैव विपक्षबलसागरम् ।
कुमारः कैटभारातिरिवोद्दध्रेजयश्रियम् ॥[१]

यहाँ पर कवि अभयदेव ने कालिदास के भावों को उसी रूप में प्रस्तुत कर दिया है। किन्तु कवि के वर्णन द्वारा यह ज्ञात होता है कि जयन्त रघु से अधिक पराक्रमी हैं, क्योंकि रघु कपिशा नदी पर पुल बनाकर उसे पार करते हैं जबकि जयन्त कपिशा नदी को अपने प्रताप के सन्ताप से ही सुखा देते हैं।

रघु पूर्व दिशा को जीतकर दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं—

ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना ।
अगस्त्याचारितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥[२]

रघु की भाँति जयन्त भी पूर्व दिशा को जीतने के पश्चात् दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं—

तस्यावरोधनैः पुत्रभिक्षामभ्यर्थितस्ततः ।
निवेश्य तत्सुतं राज्ये प्रतस्थे दक्षिणां दिशम् ॥[३]

कावेरी में स्नानकर रघु की सेना मलयाचल की ओर जाती है—

स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना ।
कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥
बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः ।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥[४]

जयन्त भी रेवानदी के तट पर होते हुए मलयाचल की ओर प्रस्थान करते हैं। कवि अभयदेव के शब्दों में—

शीकरैः पवनोद्धूतैः प्ररूढपुलकामिव ।
अथ रेवां स हेवाकमवलोकयति स्म सः ॥
स तत्तीरतरुप्रान्त विश्रान्तैः किंनरीगणैः ।
कर्पूर गौरमाश्रौषीद्गीयमानं निजं यशः ॥
अथ स्मरशिशुक्रीडा साक्षिभिर्दक्षिणानिलैः ।
सूचितोऽनाध्वना भूपः प्रतस्थे मलयं प्रति ॥[५]

---

१. जयन्तविजय, ११/१७-१९,२१-२२ ।
२. रघुवंश, ४/४४ ।
३. जयन्तविजय, ११/२३ ।
४. रघुवंश, ४/४५-४६ ।
५. जयन्तविजय, ११/२८,२९,३७ ।

रघु मलयाचल पर्वत पर सर्पों से लिपटे हुए चन्दन वृक्षों को देखते हैं और उन चन्दन वृक्षों को पारकर पाण्ड्यनरेश से उनका युद्ध होता है तथा युद्ध में पराजित होकर पाण्ड्य नरेश उन्हें मोती भेंट करते हैं—

भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।
नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीछेदिनामपि ।।
दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ।।
ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः ।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम् ।।[1]

रघु की भाँति जयन्त भी मलयाचल पर्वत पर सर्पों से घिरे हुए चन्दन वृक्षों का सेवन करते हैं तथा वहाँ से पाण्ड्य नरेश को जीतने के लिए चल पड़ते हैं और युद्ध में पाण्डय नरेश को जीत लेते हैं—

निवेश्य भूभृतो भूभृत्कटके कटकं ततः ।
अध्यास्ताध्यासितान्भोगी भोगिमिश्चन्दनद्रुमान ।।
चमूचक्ररजः पुञ्जैः शोषयन्दक्षिणोदधिम् ।
जयन्तः पर्वतात्तस्माज्जेतुं पाण्ड्यांश्चचाल सः ।।
तस्मिन्पाण्ड्यमहीभर्तुः समूलोन्मूलनोद्यते ।
भङ्गभीतेश्च तल्लक्ष्मी र्भेजेऽस्य भुजपञ्जरम् ।।[2]

रघु आगे चलकर हूणों को अपने अधीन बनाते हैं—

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोल पाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ।।[3]

'जयन्तविजय' महाकाव्य में भी हूणों पर जयन्त की विजय का वर्णन प्राप्त होता है—

संजाते संमुखे तस्मिन्दैवे च विपराङ्मुखे ।
मनो हूणनरेन्द्राणां दध्रेदेशश्च शून्यताम् ।।
हूणाः सोढुमपर्याप्ताः सत्प्रतापं रणाङ्गणे ।
इतीव व्योमवाहिन्याः पयः पूरमशिश्रयन् ।।[4]

इस प्रकार स्पष्ट है, कि 'जयन्तविजय' महाकाव्य के एकादश सर्ग में वर्णित

---

१. रघुवंश, ४/४८-५० ।
२. जयन्तविजय, ११/३८,४४,४६ ।
३. रघुवंश, ४/६८ ।
४. जयन्तविजय, ११/८२-८३ ।

जयन्त की दिग्विजय जिनसेन के महापुराण के साथ ही 'रघुवंश' महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघु की दिग्विजय से भी प्रभावित है। इसके साथ ही कवि अभयदेव ने 'रघुवंश' महाकाव्य के आधार पर ही जयन्त की दिग्विजय का वर्णन अनुष्टुप छन्द में किया है। अतः दोनों कवियों के भाव में साम्य होने के साथ ही साथ वर्णन के छन्द में भी साम्य है।

कवि अभयदेव ने दिग्विजय की भाँति ही 'जयन्तविजय' महाकाव्य के षोडश सर्ग में वर्णित हस्तिनापुर नरेश वैरिसिंह की पुत्री रतिसुन्दरी के स्वयंवर का आधार भी कालिदास द्वारा वर्णित 'रघुवंश' महाकाव्य के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती का स्वयंवर बनाया है। इन्दुमती के स्वयंवर में भोज द्वारा आमन्त्रित अज आते हैं और उनके द्वारा निर्दिष्ट सिंहासन पर बैठते हैं—

वैदर्भनिर्दिष्टमसौकुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम्।
शिलाविभंगैर्मृगराजाशावस्तुंगं नगोत्संगमिवारुरोह ॥
परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥[1]

अर्थात् जैसे सिंह का बच्चा एक-एक शिला पर पैर रखता हुआ पहाड़ पर चढ़ जाता है वैसे ही राजकुमार अज भी सुन्दर सीढ़ी पर चढ़कर भोज द्वारा बताये हुए मंच पर जाकर बैठ गये तथा जिस सिंहासन पर वे जाकर बैठे, वह सोने का बना हुआ था, उसमें रत्न जड़े थे और उस पर रंग-बिरंगे वस्त्र बिछे हुए थे। उस पर बैठे हुए वे ऐसे सुन्दर लग रहे थे मानो स्वयं कार्तिकेय ही अपने मोर पर चढ़ कर बैठे हों।

'जयन्तविजय' में जयन्त के वर्णन में कवि अभयदेव ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं—

तत्र चित्ररचनामनोहरं काञ्चनोपचितमञ्चमुच्चकै।
आरुरोह स नरेन्द्रदर्शितं तुंगभूधरमिवाशु केसरी ॥
विस्फुरत्यथ स दणिणेक्षणे पाणिपीडनविधानशंसिनि।
पूर्वभूधरतटीमिवार्यमा हेमविष्टरमलंचकार च ॥[2]

अर्थात् वहाँ पर विचित्र रचना से मनोहर स्वर्ण से निर्मित कान्तिमान उच्च मञ्च पर वे ऊँचे पर्वत पर सिंह की भाँति नरेन्द्र (वैरिसिंह) द्वारा दिखाये जाने पर बैठ गये तथा विवाह के विधान को सूचित करने वाले दाहिने नेत्र के फड़कने पर उन्होंने पूर्व पर्वत की तटी पर स्थित सूर्य की भाँति हेम के विस्तर से अलंकृत स्थान को सुशोभित किया।

१. रघुवंश, ६/३-४।　　२. जयन्तविजय, १६/२३-२४।

यहाँ पर स्पष्ट है, कि दोनों कवियों के वर्णन में पर्याप्त साम्य है क्योंकि रघु भोज द्वारा निर्दिष्ट आसन पर बैठते हैं तो जयन्त वैरिसिंह द्वारा निर्दिष्ट आसन पर विराजमान होते हैं। रघु तथा अज दोनों के लिए सिंह को उपमान बनाया गया है। इसी प्रकार दोनों के मञ्च स्वर्णिम हैं। रघु के मञ्च पर रंग-बिरंगे वस्त्र बिछे हुए हैं अत कवि ने उन्हें साक्षात् मयूर पर बैठे हुए कार्तिकेय के सदृश बताया है। किन्तु अभयदेव ने स्वर्णिम विस्तर पर बैठे हुए जयन्त की उपमा सूर्य से देकर अपनी मौलिकता की रक्षा की है।

इसी प्रकार इन्दुमती के स्वयंवर में अन्य राजागण अज को देखकर इन्दुमती को पाने की अभिलाषा छोड़ देते हैं। कवि के शब्दों में—

रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम्॥[1]

अर्थात् जब दूसरे राजाओं ने अज को देखा तब उन्होंने इन्दुमती को पाने की सब आशाएँ छोड़ दीं क्योंकि अज ऐसे लग रहे थे मानो साक्षात् कामदेव हों जिसे शिव जी ने रति की प्रार्थना पर फिर से जीवित कर दिया हो।

'जयन्तविजय' में निम्नलिखित श्लोक इसी की प्रतिच्छाया है—

भासयत्युरु सभा नभोऽङ्गणं तां जयन्तयुवराजभास्करे।
चेतसापि विजहुः क्षितीश्वरा वासरश्रियमिवांशुतारकाः॥[2]

अर्थात् युवराज जयन्तरूपी भास्कर के उस सभारूपी नभाङ्गण में भासित होने पर आंशुतारिका रूपी राजागणों ने दिन की शोभा की भाँति उसे हृदय से छोड़ दिया।

यहाँ पर कवि अभयदेव के वर्णन में विशेष चमत्कार है क्योंकि कालिदास ने अपने भावों को सरल ढंग के व्यक्त किया है और उन्होंने अज को कामदेव के सदृश सौन्दर्यशाली बताया है। इसीलिए अन्य राजाओं ने इन्दुमती को प्राप्त करने की अभिलाषा छोड़ दी है। जबकि कवि अभयदेव ने जयन्त को सूर्य के समान तेजस्वी बताया है और इसीलिए आंशुतारिकारूपी राजागणों ने उनके तेज से दिन के समान तिरस्कृत होकर रतिसुन्दरी को प्राप्त करने की अभिलाषा अपने मन से निकाल दी है।

इन्दुमती को स्वयंवर में आयी हुई देखकर राजागण अपनी अनेक प्रकार से शृङ्गारिक चेष्टाएँ व्यक्त करते हैं—

---

१. रघुवंश, ६/२।
२. जयन्तविजय, १६/३६।

तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टाविविधा बभूवुः ॥[1]

अर्थात् राजाओं ने अपना प्रेम जताने के लिए जो वृक्षों के पत्तों के समान अनेक प्रकार से भौंह आदि चलाकर शृङ्गार चेष्टाएँ व्यक्त कीं वे मानो उनके प्रेम को इन्दुमती तक पहुँचाने वाली दूतियाँ थीं ।

इसी प्रकार का वर्णन 'जयन्तविजय' महाकाव्य में भी हुआ है -

एतदीयवदनेन्दुदर्शनादुत्तरङ्गगुरुराग सागराः ।
चेष्टितानि विदधुर्वसुंधराधीश्वराः सदसि ते स्मरोद्धतम् ॥[2]

अर्थात् रतिसुन्दरी के चन्द्र तुल्य दर्शन से तरंगित परिपूर्ण राग वाले सागर के समान वे भूपगण सभा में काम से उद्धत चेष्टाओं को करने लगे ।

अपि च—

तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीव ॥[3]

अर्थात् जैसे वायु से उठी हुई लहर के सहारे मानसरोवर की राजहंसिनी एक कमल से दूसरे कमल तक पहुँच जाती है, उसी प्रकार वेत्रधारी सुनन्दा भी राजकुमारी इन्दुमती को दूसरे राजा के पास पहुँचाकर खड़ी हो गयी ।

'रघुवंश' के इस श्लोक की छाया 'जयन्तविजय' महाकाव्य के निम्नलिखित श्लोक पर परिलक्षित होती है—

संमुखं सपदि वेत्रधारिणा तामथान्यनृपतेर्निनाय सा ।
हंसिकामिव तरङ्गपद्धतिः पङ्कजादपरपङ्कजं क्षणात् ।[4]

अर्थात् वेत्रधारी द्वारा उस स्त्री को शीघ्र अन्य राजा के सामने उसी प्रकार ले जाया गया जिस प्रकार तरङ्ग पद्धति से हंसिनी को एक कमल से दूसरे कमल पर ले जाया जाता है ।

इन्दुमती स्वयंवर में आये हुए राजाओं को छोड़कर जब आगे बढ़ती है तो उस स्थिति का निरूपण करते हुए कवि कालिदास लिखते हैं—

संचारिणी दीप शिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥[5]

अर्थात् रात्रि में जब हम दीपक लेकर चलते हैं तब जो-जो राजमार्ग के

---

१. रघुवंश, ६/१२ ।
२. जयन्तविजय, १६/३८ ।
३. रघुवंश, ६/२६ ।
४. जयन्तविजय, १६/५८ ।
५. रघुवंश ६/६७ ।

भवन पीछे छूटते हैं वे अँधेरे में पड़कर धुँधले पड़ते जाते हैं, वैसे ही जिन-जिन राजाओं को छोड़कर इन्दुमती आगे बढ़ गयी उनका मुँह उदास पड़ गया।

महाकवि कालिदास द्वारा प्रस्तुत इन्हीं भावों को कवि अभयदेव ने भी बड़े ही मनोरम ढंग से व्यक्त किया है—

यानपास्य नृपतीन्पतिंवरा सा जगाम गुरुकामविह्वलान्।
ते तयाञ्जनघनैर्विलोचनैः श्यामतां दधुरिवाक्षमेक्षिताः ॥[१]

अर्थात् वह पतिम्बरा जिन गुरुतर काम से विह्वल राजाओं को छोड़कर गयी वे राजागण उसके अञ्जन से युक्त नेत्रों द्वारा देखे गये श्यामता को प्राप्त हुए।

यहाँ पर कवि अभयदेव के वर्णन में विशेष चमत्कार है, क्योंकि स्वयंवर में आए हुए राजागण वरण न करने के कारण रतिसुन्दरी के अञ्जन युक्त नेत्रों से देखने पर श्यामता को प्राप्त हो रहे हैं जबकि कालिदास ने इसी भाव को व्यक्त करने के लिए अलग से दीपशिखा को उपमान बनाया है। उनके अनुसार जिस प्रकार दीपक की शिखा आगे बढ़ने पर राजमार्ग के भवनों को अँधेरे में छोड़ जाती है। उसी प्रकार इन्दुमती भी स्वयंवर में आये हुए राजाओं को छोड़कर जब आगे बढ़ती है तो वे राजागण राजमार्ग के भवनों की भाँति श्यामता को प्राप्त होते हैं। अतः प्रस्तुत वर्णन में कवि अभयदेव की कल्पना विशेष सराहनीय है।

इन्दुमती जब सर्वाङ्गसुन्दर राजा अज को देखती है तो वहीं पर रुक जाती है और फिर किसी राजा के सामने नहीं जाती क्योंकि जब भौरों का झुण्ड आम्र के वृक्ष पर पहुँच जाता है तब उन्हें दूसरे वृक्षों के पास जाने की चाह नहीं रहती। सुनन्दा चन्द्रमा के समान मुखवाली इन्दुमती को अज पर अनुरक्त देखकर बहुत बढ़ा-चढ़ा कर अज की प्रशंसा करती है—

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यवर्त्ततान्योपगमात्कुमारी।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षटपदाली॥
तस्मिन्समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।
प्रचक्रमे वक्तमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा॥[२]

'रघुवंश' के इन्हीं भावों को 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

सा विहाय नृपतीनथाजनि श्रीजयन्तमभि भूपतेः सुता।
नाकिनोऽनुपमरूपसंपदः श्रीर्मुकुन्दमिव मन्थनेऽम्बुधेः॥

---

१. जयन्तविजय, १६/७२।
२. रघुवंश, ६/६६-७०।

तत्र चित्रितजगत्त्रयाधिकं सानुरागमनसं विशंक्य ताम् ।
वेत्रभृत्तदनु ताममुच्चकैरभ्यधत्त मधुराक्षरामिति ।।[1]

अर्थात् वह राजपुत्री अन्य राजाओं को छोड़कर श्री जयन्त के सम्बन्ध में, समुद्रमन्थन में अनुपम रूप सम्पत्तिवाले देवताओं को छोड़कर, लक्ष्मी से विष्णु की भाँति समुत्सुक हुई तथा वेत्रधारी ने वहाँ पर चित्रित त्रिभुवन में अधिक अनुराग मन वाली उसको समझकर मधुर अक्षरों से युक्त वाणी बोली अर्थात् जयन्त की खूब बढ़ा-चढ़ा कर प्रशंसा की ।

यहाँ पर भी दोनों कवियों के भावों में पर्याप्त साम्य है क्योंकि कालिदास ने इन्दुमती के लिए 'भ्रमरावली' को उपमान के रूप में चित्रित किया है तथा कवि अभयदेव ने रतिसुन्दरी के लिए 'लक्ष्मी' को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है । 'रघुवंश' में यदि वेत्रधारी सुनन्दा इन्दुमती को अज में अनुरक्त देखकर अज की प्रशंसा करती है तो 'जयन्तविजय' में वेत्रधारी भी रतिसुन्दरी को जयन्त में अनुरक्त देखकर जयन्त की प्रशंसा करती है ।

'रघुवंश' में सुनन्दा अज के गुणों की प्रशंसा करते हुए कहती है कि ये (अज) कुल, रूप, यौवन और नम्रता आदि गुणों में तुम्हारे जैसे ही हैं अतः इनसे विवाह अवश्य करो क्योंकि जिससे रत्न और सोने का ठीक-ठीक मेल हो जाय । वेत्रधारी की इस प्रकार की बातों को सुनकर लाज के मारे इन्दुमती अपने प्रेम की बात को अज से कह तो न सकी पर उस प्रेम के कारण उसे रोमांच हो आया और घुँघराले बालों वाली इन्दुमती के हृदय का वह प्रेम छिपाने पर भी न छिप सका, मानो खड़े हुए रोंगटों के रूप में वह प्रेम शरीर फोड़कर निकल आया हो । इसके पश्चात् हाथी के सूँड़ के समान जंघाओं वाली इन्दुमती ने सुनन्दा के हाथों रघु के पुत्र अज के गले में वह स्वयंवर की माला पहना दी जिसके डोरे में लगी हुई रोली साक्षात् अनुराग के समान ही शोभा दे रही थी -

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्यनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ।।
सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम् ।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्वानिराक्रामदरालकेश्याः ।।
सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरुः ।
आसज्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्त्तमिवानुरागम् ।।[2]

'जयन्तविजय' महाकाव्य में भी इसी प्रकार वेत्रधारी रतिसुन्दरी के समक्ष

---

१. जयन्तविजय, १६/७३-७४ ।
२. रघुवंश, ६/७९,८१,८३ ।

जयन्त की प्रशंसा करती है तथा जयन्त के गले में जयमाल डालने के लिए प्रोत्साहित करती है। रतिसुन्दरी भी जयन्त के गले में हार पहनाती है । कवि अभयदेव के शब्दों में—

कौशलेन कलया कुलेन च त्वं तमेनमनुरूपमात्मनः ।
एहि मुग्ध हृदये वृणु द्रुतं रोहिणीव हरिणाङ्कमुत्सुका ॥
आकर्ण्य कर्णमधुरामिति वाचमुच्चैः
किंचित्त्रपामरमपास्य नरेन्द्रपुत्री ।
मालां स्वयंवर महोत्सवसाक्षिणीं तां
श्रीमज्जयन्तनृपतेः क्षिपतिस्मकण्ठे ॥[1]

अर्थात् हे मुग्धे ! तुम कुशलता, कलय तथा कुल से इनके अनुरूप हो। इसीलिए तुम इनका चन्द्रमा के लिए उत्सुक रोहिणी की भाँति शीघ्र वरण करो। इस प्रकार वह नरेन्द्र पुत्री कर्ण को मधुर लगने वाली ऊँची वाणी को सुनकर कुछ लज्जा के भार को दूर कर स्वयंवर महोत्सव की साक्षिणी उस माला को जयन्त के गले में डाल दिया।

इस प्रकार यहाँ पर भी दोनों कवियों के भावों में साम्य है । इसी प्रकार युद्धवर्णन में भी जयन्तविजय के कतिपय स्थलों में रघुवंश की छाया प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ—रघुवंश के सप्तम सर्ग में अज तथा प्रतिपक्षी राजाओं के मध्य युद्ध वर्णन में निम्नलिखित श्लोक आया है—

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम् ।
यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूवयुद्धम् ॥[2]

अर्थात् (युद्ध प्रारम्भ होने पर) पैदल पैदलों से लड़े, रथवाले रथारोहियों से और घुड़सवार घुड़सवारों से भिड़ गये, इस प्रकार बराबर के योद्धाओं का युद्ध हुआ।

'जयन्तविजय' में निम्नलिखित श्लोक इसी की प्रतिच्छाया है—

योधेप्रसिद्धैर्युयुधेरिसौ(रो)धैः सहाश्ववारैः सममश्ववारैः ।
रथि प्रवीरैरथिकैश्च सार्धं समानकक्षैर्जयबद्धलक्षैः ॥[3]

अर्थात् प्रसिद्ध शत्रुओं के साथ शत्रु, असवारों के साथ असवार और रथी के साथ रथी समान कक्ष में जय के लक्ष्य को बाँधते हुए युद्ध में डट गये।

'रघुवंश' के अतिरिक्त 'मेघदूत' के अनेक श्लोकों का प्रभाव भी 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर परिलक्षित होता है । उदाहरणार्थ—मेघदूत के आरम्भ में

१. जयन्तविजय' १६/८६-८७।
२. रघुवंश, ७/३७।
३. जयन्तविजय, १०/४०।

आता है कि कामपीड़ित व्यक्ति का विवेक समाप्त हो जाता है । अतः उस जड़-चेतन का भेद प्रतीत नहीं होता—

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।[1]

'मेघदूत के इस भाव को 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इस प्रकार व्यक्त किया गया है

कामान्धास्त्यक्तमर्यादाः किं किं पापं न कुर्वते ।[2]

अर्थात् मर्यादा को छोड़ने वाले कामान्ध लोग कौन-कौन सा पाप नहीं करते ।

महाकवि कालिदास 'मेघदूत' में लिखते हैं कि यदि सच्चे मन से बड़ों का उपकार किया जाय तो वे अपने ऊपर भलाई करने वाले का आदर करने में विलम्ब नहीं करते—

सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपचारो महत्सु ।[3]

यही भाव कवि अभयदेव के 'जयन्तविजय' महाकाव्य में भी दृष्टव्य है—

फलति सहृदयेषु क्षिप्रमेवोपकारः ।[4]

अर्थात् सहृदयों में उपकार शीघ्र ही फलीभूत होता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि अभयदेव की शैली पर भी कालिदास का प्रभाव है । कालिदास वैदर्भी के मान्य आचार्य हैं । कवि अभयदेव ने भी अपना काव्य वैदर्भी रीति में लिखा है । उसमें सरलता अर्थात् प्रसाद गुण सर्वत्र विद्यमान है तथा उसके साथ ओज और माधुर्य गुणों का यथावसर रुचिर मेल हुआ है । मध्यकाल में जबकि जैन कवियों के काव्य में पाण्डित्य प्रदर्शन का युग था तथा सहज सौन्दर्य के स्थान पर अलंकार मण्डित कृत्रिम सौन्दर्य का ही बोलबाला था; उस समय कवि अभयदेव के द्वारा वैदर्भी की सहज सुषमा से युक्त महाकाव्य की रचना निस्संदेह उनके ऊपर महाकवि कालिदास के प्रभाव की परिचायक है ।

भारवि

भारवि का प्रभाव कवि अभयदेव के 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर विशेषरूप से परिलक्षित होता है । भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है । इसी प्रकार कवि अभयदेव ने भी अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है । कवि अभयदेव द्वारा प्रयुक्त यह श्री शब्द भी भारवि द्वारा प्रयुक्त

१. मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक-५ ।
२. जयन्तविजय, ३/५१ ।
३. मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक १६ ।
४. जयन्तविजय, ८/२४ ।

'लक्ष्मी' शब्द का ही वाचक है। भारवि ने 'किरातार्जुनीय' काव्य में राजनीति की विभिन्न दशाओं का वर्णन किया है। उनके अनुसार ऐश्वर्य की कामना करने वाले व्यक्ति को शत्रु की शक्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए—

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः॥[१]

अर्थात् ऐश्वर्य की कामना करने वाले मेधावी पुरुष शत्रु के महान् अभ्युदय की जो क्रमशः अवनति को प्राप्त करने वाला है, उपेक्षा कर देते हैं, किन्तु यदि वह महान् अभ्युदय की ओर अग्रसर होता है, वर्तमान परिस्थिति में वह चाहे भले ही अवनति में पड़ा हो, कभी भी उपेक्ष्य नहीं है।

भारवि के इसी भाव को कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इस प्रकार व्यक्त किया है—

द्विषो न पोष्याः प्रणिपातमन्तरा निजैः पदार्थैरिति भूभृतां नयः।
न जातु तेषां तमपश्यतां भवेज्जनाद्विशेषः फणिदुग्धपायिनः॥[२]

अर्थात् शत्रु जब तक अधीनता स्वीकार न कर ले तब तक अपनी वस्तुओं से उसका पोषण नहीं करना चाहिए। यही राजनीति है क्योंकि बिना देखे हुए किसी वस्तु में कोई विशेषता नहीं बतलायी जा सकती, जिस प्रकार दूध पिलाने वाले सर्प में कोई विशेषता दिखलायी नहीं पड़ती।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ पर प्रस्तुत भारवि तथा कवि अभयदेव के भावों में पर्याप्त साम्य है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने शत्रु का उत्कर्ष नहीं देख सकता।

इसी प्रकार 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के प्रथम सर्ग में जिस किरात को युधिष्ठिर ने दुर्योधन की प्रजा के प्रति नीति को जानने के लिए हस्तिनापुर भेजा था वह किरात युधिष्ठिर के पास सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर आता है और युधिष्ठिर अप्रसन्न न हो जायँ अतः वह सर्वप्रथम क्षमायाचना के रूप में निवेदन करता है—

क्रियासु युक्तैर्नृप ! चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥[३]

अर्थात् हे राजन ! किसी कार्य को पूरा करने के लिए नियुक्त किये गये (राज) सेवकों का यह परम कर्तव्य है कि वे दूतों की आँखों से ही देखने वाले अपने स्वामी को (झूठी तथा प्रिय बातें बताकर) न ठगें। इसलिए मैं जो कुछ अप्रिय

१. किरातार्जुनीय, २/८।
२. जयन्तविजय, ६/३३।
३. किरातार्जुनीय' १/४।

अथवा प्रिय निवेदन करूँ उसे आप क्षमा करेंगे, क्योंकि सुनने में मधुर तथा परिणाम में कल्याण देने वाली वाणी दुर्लभ होती है।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में भी इसी भाव की छाया दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि सिंहलनरेश अपने जिस दूत को अपना हाथी वापस करने के लिए विक्रमसिंह की सभा में भेजता है, वह दूत वहाँ से वापस आकर इसी प्रकार कहता है –

रिपोःस्वरूपं विनिवेदयिष्यति स्फुटार्थमैतन्मयि मा रुषं कृथाः ।
महीभृतां सत्यगिरो हि सेवकाः प्रसाद पात्रं पुरतो हितैषिणम् ॥[1]

अर्थात् शत्रु के स्वरूप को स्पष्ट रूप से निवेदन करने वाले मेरे ऊपर आप क्रोध न करें क्योंकि सामने सच बोलने वाले सेवक राजाओं के हितैषी एवं प्रसन्नता के पात्र होते हैं।

'जयन्तविजय' में सिंहलेश्वर का दूत जाकर विक्रमसिंह को समझाता हुआ कहता है—

गजेन्द्ररत्ने गृहमागते स्वयं महीभुजः कस्य मनो न लुभ्यति ।
तथापि हेयः सबलीयसस्त्वया न सुन्दरः क्वाप्यसमान विग्रहः ॥[2]

अर्थात् हे राजन ! स्वयं घर में आये हुए गजेन्द्ररत्न पर किस राजा का मन लोभित नहीं होता है फिर भी आपके द्वारा वह बलवान हाथी त्याज्य है क्योंकि असमान विग्रह कभी भी सुन्दर नहीं होता।

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डल भुवः ।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥[3]

अर्थात् वह दुर्योधन (शत्रु) राजाओं के विनिष्ट हो जाने के कारण सुस्थिर भूमण्डल पर समुद्र पर्यन्त राज्य शासन करते हुए भी आपकी ओर से आने वाली विपदा के भय से चिन्तित रहता है, क्योंकि बलवान् के साथ का वैर-विरोध अमङ्गलकारी होता है।

इस प्रकार इन राजनैतिक स्थलों के अतिरिक्त भारवि ने अपने महाकाव्य में षड् ऋतुओं, प्राकृतिक उपादानों —यथा हिमालय वर्णन, इन्द्रकील पर्वत इत्यादि का वर्णन भी उपस्थित किया है। इसी के साथ ही उन्होंने जलक्रीडा, सायंकाल, चन्द्रोदय इत्यादि का वर्णन भी विपुलता से किया है। भारवि की भाँति कवि अभयदेव ने भी जयन्तविजय में ऋतुओं, जलक्रीडा, सन्ध्या, सूर्यास्त, चन्द्रोदय इत्यादि का हृदयग्राही वर्णन प्रस्तुत किया है किन्तु कवि अभयदेव के इस वर्णन को भारवि

१. जयन्तविजय, ६/४७।
२. वही, ६/१७।
३. किरातार्जुनीय, १/२३।

का प्रभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्राचीन काव्य परम्परा के अनुसार इस प्रकार के वर्णन महाकाव्य के लिए आवश्यक हैं। हाँ इन वर्णनों में यत्र-तत्र उक्ति साम्य अवश्य दृष्टि गोचर होता है जिसे भारवि का प्रभाव कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ किरातार्जुनीयम् में सायंकाल के समय कवि सूर्यास्त का वर्णन निम्नलिखित रूप से करता है—

वीक्ष्यरन्तुमनसः सुरनारीरात्तचित्तपरिधायविभूषाः ।
तत्प्रियार्थमिव यातुयथास्तं भानुमानुपपयोधि ललम्बे ॥[1]

अर्थात् (जलक्रीड़ा के) अनन्तर विविध वस्त्रों एवं आभूषणों से विभूषित एवं रमण की इच्छुक उन देवाङ्गनाओं को देखकर सूर्य मानो उनकी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए अस्त होने की इच्छा से (पश्चिम) समुद्र की ओर लम्बायमान हो गये।

कवि अभयदेव ने भी सन्ध्या के विषय में कुछ इसी प्रकार की उत्प्रेक्षा की है—

पितुरथ ललितैस्तैस्तोषपीयूषवर्षं
विदधति युवराजे तत्र सन्ध्याविरासीत् ।
प्रगुणयितुमिवोच्चैः स्फारशृङ्गारभङ्ग्या
कुवलयदलनेत्राः संगमायप्रियाणाम् ॥[2]

अर्थात् इसके पश्चात् उन सुन्दर जलक्रीडाओं से पिता के सन्तोष रूपी अमृत की वृष्टि का विधान कुमार के द्वारा किये जाने पर अधिक शृङ्गार की भङ्गिमा से बढ़ी हुई मानो प्रियतमाओं के संगम के लिए कमल के समान नेत्रों वाली वहाँ पर सन्ध्या प्रकट हुई।

इस प्रकार भारवि के श्लोक की भाँति ही कवि अभयदेव ने अपने भावों को व्यक्त किया है। दोनों कवियों की दृष्टि में सन्ध्या का आगमन प्रियतमाओं के संगम के लिए होता है। अतः भाव साम्य स्पष्ट है।

इस प्रकार इन वर्णनों के अतिरिक्त युद्ध वर्णन में भी 'जयन्तविजय' के कतिपय श्लोकों पर 'किरातार्जुनीय' का प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ 'किरातार्जुनीय' के षोडश सर्ग में आता है कि किरातवेषधारी भगवान् शङ्कर द्वारा अपने प्रस्वापन अस्त्र के विफल कर दिये जाने पर क्रोधित अर्जुन शत्रु की सेना पर सर्पास्त्र का प्रहार करते हैं—

---

१. किरातार्जुनीय, ९/१।   २. जयन्तविजय, ८/४५।

महास्त्र दुर्गे शिथिलप्रयत्न दिग्वारणेनेव परेण रुग्णे ।
भुजङ्गपाशान्भुजवीर्यशाली प्रबन्धनाय प्रजिषाय जिष्णुः ।।[1]

अर्थात् इसके पश्चात् परम बाहुबलशाली अर्जुन ने महान् दुर्ग की भाँति दुर्गम अपने प्रस्वापन अस्त्र के दिग्गजों के समान शत्रु द्वारा थोड़े ही प्रयास में व्यर्थ बना दिए जाने पर, सम्पूर्ण प्रमथ सैनिकों के लिए सर्परूपी पाशों का (सर्पास्त्र का) प्रहार किया ।

किन्तु किरात वेषधारी भगवान् शङ्कर ने गरुणास्त्र द्वारा अर्जुन के इस अस्त्र को निष्फल कर दिया—

तमाशु चक्षुःश्रवसां समूहं मन्त्रेण ताक्ष्योदयकारणेन ।
नेता नयेनेव परोपजापं निवारयामास पतिः पशूनाम् ।।[2]

अर्थात् तदनन्तर भगवान् शङ्कर ने उन सर्पों के समूह को गरुण को उत्पन्न करने वाले अपने मन्त्र के प्रभाव से इस प्रकार शीघ्र ही दूर कर दिया जिस प्रकार से जननेता अपने न्याययुक्त शासन द्वारा शत्रु के षड्यन्त्र को शीघ्र ही विफल कर देता है ।

कवि अभयदेव ने भी 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इन्हीं अस्त्रों का वर्णन किया है—

ततः प्रकोपप्रसरत्कदुष्ण श्वासानिलान्दोलितहारयष्टिः ।
विद्याधरेन्द्रः पवनाशनास्त्रं मुमोच तच्चापलदोषहारि ।।[3]

अर्थात् इसके पश्चात् क्रोध से फैले हुए ऊष्ण श्वाँस की वायु से हिलने वाली हृदय की हार लता वाला विद्याधरेन्द्र ने पवन का भोजन करने वाले और पवन की चञ्चलता के दोष का अपहरण करने वाले सर्पास्त्र का विमोचन किया ।

किन्तु भगवान् शङ्कर की भाँति ही यहाँ पर युवराज जयन्त ने गरुणास्त्र को छोड़कर उसके अस्त्र को विफल किया

भुजङ्गपूगग्रसनादजस्रं प्रभञ्जने भङ्गुरतां प्रयाते ।
प्रत्यस्त्र मुच्चैरमुचन्महीपो महीपतिः पत्त्ररथेन्द्रसज्ञम् ।[4]

अर्थात् सर्प समुदाय के ग्रसन से निरन्तर वायु प्रभञ्जन के छिन्न-भिन्न हो जाने पर महीपति ने रथेन्द्र संज्ञा (मोर) वाले अस्त्र को छोड़ा ।

---

१. किरातार्जुनीय, १६/३६ ।
२. वही, १६/४२ ।
३. जयन्तविजय, १४/६० ।
४. वही, १४/६२ ।

अपि च—

साफल्यमस्त्रे रिपुपौरुषस्य कृत्वा गते भाग्य इवापवर्गम्।
अनिन्धनस्य प्रसभं समन्युः समाददेऽस्त्रं ज्वलनस्य जिष्णुः ॥[१]

अर्थात् पूर्व जन्मार्जित पुण्य कर्म के समान शत्रु के पराक्रम को सफल बना कर अपने सर्पास्त्र के (प्रभाव के) समाप्त हो जाने पर क्रोध से युक्त अर्जुन ने ईंधनादि सामग्री के बिना ही प्रज्ज्वलित होने वाले अग्निबाण को तुरन्त ही ग्रहण किया।

किन्तु भगवान् शङ्कर ने अर्जुन के इस अग्निबाण को भी वरुणास्त्र के प्रयोग द्वारा विफल कर दिया—

लिलिक्षतीव क्षयकाल रौद्रे लोकं विलोलार्चिषि रोहिताश्वे।
पिनाकिना हूतमहाम्बुवाहमस्त्रं पुनः पाशभृतः प्रणिन्ये ॥[२]

अर्थात् प्रलयकाल के समान अत्यन्त भयंकर एवं अपनी लपलपाती हुई ज्वालाओं से मानो सम्पूर्ण लोक को चाट जाने के लिए इच्छुक अग्नि के चारों ओर फैल जाने पर पिनाकधारी शङ्कर ने पुनः बड़े-बड़े मेघों को बुलाने वाले वरुण अस्त्र का प्रयोग किया।

'किरातार्जुनीय' में वर्णित इन अग्नेयास्त्र तथा वरुणास्त्र का प्रयोग 'जयन्तविजय' महाकाव्य में भी परिलक्षित होता है—

तिरस्कृतान्वीक्ष्य विपक्षमुक्तैः सिंहानथासौ शरभैर्नृसिंहः।
अग्नेयमस्त्रं त्रिपुराय पूर्वं पु न्तकारीव मुमोच दृप्तम् ॥[३]

अर्थात् इसके बाद उस नृसिंह (जयन्त) ने शत्रुओं के द्वारा छोड़े गये शरभों से सिंहों को निरस्कृत होते हुये यह देखकर प्राचीनकाल में त्रिपुर के नाश करने के लिए त्रिपुरारी की भाँति उन्मत्त अग्नेयास्त्र का विमोचन किया—

किन्तु जयन्त द्वारा छोड़े गये इस अग्नेयास्त्र को खेचर चक्रवर्ती ने अपने पाथोधरास्त्र द्वारा विफल कर दिया—

भस्मीकृतान्खेचरचक्रवर्ती शिखिप्रपञ्चैः शरभानवेत्य।
ततस्तदाटोपहरं तपस्वी पाथोधरास्त्रं तरसा मुमोच ॥[४]

अर्थात् इसके पश्चात् खेचर चक्रवर्ती ने अग्नि प्रपञ्चों से सरभगण को भस्मीभूत मानकर उस आरोप को दूर करने वाले पाथोधरास्त्र का शीघ्र उन्मोचन किया।

इस प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य में वर्णित यह पाथोधरास्त्र 'किराता-

---

१. किरातार्जुनीय, १६/४६।
२. वही, १६/५४।
३. जयन्तविजय, १४/८४।
४. वही, १४/८६।

र्जुनीय' महाकाव्य में वर्णित वरुणास्त्र का ही रूप है। अतः स्पष्ट है, कि कवि अभयदेव ने 'किरातार्जुनीयम्' में वर्णित महाकवि भारवि के भावों को 'जयन्तविजय' महाकाव्य में अनेक स्थलों पर प्रस्तुत किया है।

माघ

भारवि द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य की शैली का उत्कर्ष माघ में परिलक्षित होता है, क्योंकि माघ को संस्कृत साहित्य में सर्वगुण सम्पन्न कवि के रूप में स्वीकार किया गया है — माघे सन्ति त्रयो गुणाः । अतः इनके 'शिशुपालवधम्' महाकाव्य का प्रभाव परवर्ती कवियों पर पड़ना स्वाभाविक ही है, क्योंकि कलापक्ष प्रधान महाकाव्यों में 'शिशुपालवध' का प्रमुख स्थान है। कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर भी इस 'शिशुपालवध' का प्रभाव अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है।

उदाहरणार्थ 'शिशुपालवध' में द्वारिकापुरी की रमणियों तथा स्वर्गीय अप्सराओं के भेद को स्पष्ट करते हुए महाकवि माघ लिखते हैं—

> यदङ्गनारूपसरूपतायाः कञ्चिद् गुणं भेदकमिच्छतीभिः ।
> आराधितोऽद्धा मनुरप्सरोभिश्चक्रे प्रजाः स्वाः सनिमेषचिह्नाः ॥[1]

अर्थात् जिस द्वारिकापुरी में स्त्रियों की सुन्दरता की समानता से किसी भेदकारक गुण को चाहने वाली अप्सराओं से प्रार्थित मनु ने अपनी प्रजाओं (द्वारिकापुरी में बसने वाली अङ्गनाओं) को निमेषयुक्त चिह्नवाली कर दिया। भाव यह है, कि द्वारिकापुरी में रहने वाली अङ्गनाओं एवं स्वर्गीय अप्सराओं में केवल यही भेद था कि इन अङ्गनाओं का निमेष (पलक गिरता) था तथा अप्सराओं का निमेष नहीं (पलक नहीं गिरता) था, शेष सौन्दर्यादि समस्त गुणों में द्वारिकापुरी में निवास करने वाली अङ्गनाएँ स्वर्ग की अप्सराओं के समान ही थीं।

'जयन्तविजय' में भी इसी प्रकार जयन्तीपुरी में निवास करने वाले पुरुषों तथा देवताओं के भेद को स्पष्ट किया गया है—

> सुरेशवेषाभरणाङ्गरागवरेण लावण्यतरङ्गिताङ्गः ।
> निमेषमात्रेण परं सुरेभ्यो विभिद्यते यत्रजनः समस्तः ॥[2]

अर्थात् देवताओं के वेष को धारण किये हुए अङ्गराग आदि लगाने से अत्यन्त सुन्दर शरीर वाले जिस जयन्तपुरी के लोग देवताओं से पलक मूंदने के ब्याज से ही भिन्न माने जाते हैं। भाव यह है, कि जयन्तपुरी में रहने वाले व्यक्ति तथा देवताओं में केवल यही भेद है कि देवताओं की पलकें नहीं लगती हैं तथा इस पुरी

---

१. शिशुपालवध, ३/४२ ।
२. जयन्तविजय, १/५४ ।

के रहने वाले व्यक्तियों की पलकें लगती हैं, शेष गुणों में जयन्तीपुरी के व्यक्ति देवताजों के सदृश ही हैं।

इस प्रकार दोनों ही स्थलों में भिन्नता का कारण एक ही बताया गया है। हाँ इतना अवश्य है, कि माघ में जो भेद अङ्गनाओं तथा अप्सराओं के मध्य में बताया है, कवि अभयदेव ने वही भेद पुरुषों तथा देवताओं के मध्य प्रतिपादित किया है।

इसी प्रकार वसन्त के आगमन के अवसर पर शिशुपालवध का एक श्लोक प्रस्तुत है—

अजगणान् गणशः प्रियमग्रतः प्रणतमप्यभिमानितया न याः।
सति मधावभवन्मदनव्यथा विधुरिता धुरिताः कुकुरस्त्रियः ॥[१]

अर्थात् जिन यादवाङ्गनाओं ने सामने अनेक बार प्रणत हुए भी प्रिय को अभिमानिनी होने से नहीं गिना—मान त्यागकर सम्भोगार्थ तैयार नहीं हुईं, बसन्त के आरम्भ होने पर काम पीड़ा से पीड़ित वे यादवाङ्गनाएँ आगे हुईं अर्थात् संभोगार्थ स्वयमेव पहले तैयार हो गयीं।

यहाँ पर मानिनी नायिका का वर्णन किया गया है। कवि अभयदेव भी 'जयन्तविजय' महाकाव्य में मानिनी नायिका के मान भंग की प्रक्रिया का इसी प्रकार वर्णन करते हैं—

मानोत्तानतया सखीषु कलुषाः प्रेङ्खोलरोषाश्चिरं
दूतीषु स्वयमानतेऽपि दयिते याश्चक्रिरे वक्रताम्।
ताः प्रातश्चरणायुधध्वनिमिभादाज्ञामिवाप्य स्मर-
क्षोणीशस्य समुत्सुकाः प्रियपरीरम्भं स्त्रियस्तन्वते ॥[२]

अर्थात् पति के स्वयं नत होने पर मान की वृद्धि से सखियों पर कलुषित, दूतियों पर बढ़े हुए रोष वाली जो स्त्रियाँ वक्रता को धारण किए हुए थीं, वे स्त्रियाँ प्रातः वायु की ध्वनि के बहाने उत्सुकतापूर्वक कामदेव की आज्ञा को पाकर अपने प्रियतमों का आलिङ्गन करने लगीं।

यहाँ पर दोनों ही स्थलों में भाव साम्य समान है, किन्तु वर्णन में किञ्चित भिन्नता है।

इसी प्रकार कवि अभयदेव के 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर समराङ्गण में छोड़े गये अस्त्रों पर भी 'शिशुपालवध' का प्रभाव परिलक्षित होता है क्योंकि जयन्त-

१. शिशुपालवध, ६/१५।
२. जयन्तविजय, ८/६८।

विजय के चतुर्दश सर्ग में छोड़े गये नागास्त्र[1], गरुणास्त्र[2], अग्नेयास्त्र[3] तथा मेघास्त्र[4] का वर्णन भी शिशुपालवध में प्राप्त होता है ।

श्रीहर्ष

बृहत्रयी के अन्तर्गत प्रतिपादित महाकाव्यों में श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरित' का प्रमुख स्थान है । इसमें राजा नल के जीवन की सम्पूर्ण कथा वर्णित है । 'जयन्त-विजय' महाकाव्य के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि कवि अभयदेव ने इस महाकाव्य का भी अध्ययन किया था, क्योंकि नैषध में राजा नल की कीर्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार वन्ध्या से पुत्र उत्पन्न होना, कच्छपी के दूध का होना, मूकों का गान करना एवं जन्मान्ध का देखना असम्भव है, उसी प्रकार इस राजा की अकीर्ति का होना सम्भव नहीं ।

यथा —

अस्य क्षोणिपतेः परर्द्धिपरया लक्षीकृताः संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तयः ।
गीयन्ते स्वरमष्टमङ्कलयता जातेन बन्ध्योदरात्
मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधेः रोधसि ।।[5]

जयन्तविजय में विक्रमसिंह की कीर्ति का चित्रण भी इसी प्रकार किया गया है—

यस्य क्षोणिपतेः प्रतापदहनज्वालावलीकेलिभिः
सप्ताप्यम्बुधयोऽम्बुबिन्दव इवाशोष्यन्त तेऽपिद्रुतम् ।
पूर्यन्ते स्म हतारिराजकवधूनेत्राम्बुपूरैः पुनः
स श्री प्रीतिमतीं प्रियामिव महाभोगामभुङ्क्तक्षमाम् ।।[6]

अर्थात् जिस राजा के प्रतापरूपी अग्नि की ज्वाला कणों की परम्परा से सप्तसागर भी जल की बूँद की तरह शीघ्र सूख जाते थे किन्तु वे समुद्र मारे गये शत्रु राजाओं की मृगनयनियों के अश्रुओं से पुनः भर जाते थे । इस प्रकार वह राजा प्रीतिमती प्रिया की भाँति महाभोगों से परिपूर्ण पृथ्वी का भोग करता था ।

यहाँ पर दोनों कवियों के वर्णन के भाव तथा पदावली में साम्य है किन्तु वर्णन के प्रकार में किंचित भिन्नता है ।

---

१. जयन्तविजय, १४/९० तथा शिशुपालवध, २०/४१ ।
२. वही, १४/९२ तथा वही, २०/५२ ।
३. वही, १४/८४ तथा वही, २०/५६ ।
४. वही, १४/८६ तथा वही, २०/६५ ।
५. नैषधीयचरित, १२/१०६ ।
६. जयन्तविजय, १/७२ ।

इसी प्रकार कवि अभयदेव जयन्तीनगरी स्थित वृक्षों का मानवीकरण करते हुए लिखते हैं—

हस्तैरिवोच्चैस्तरवः पलाशैश्छायां दधानाः फलसंपदां च ।
पथ्यङ्गिनां पथ्यदनाय यत्र स्वबन्धुबुद्धेव भवन्ति भूयः ।।[१]

अर्थात् जहाँ पर अनेक तरुवर बड़े-बड़े पल्लवरूपी हाथों से शरीरधारियों को खाने के लिए फल की सम्पत्ति तथा छाया को देते हुए मार्ग में अपने कुटुम्बी की बुद्धि से स्थित हैं ।

जयन्तविजय के इस श्लोक पर नैषधीयचरित के निम्नलिखित श्लोक की छाया परिलक्षित होती है—

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते ।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ।।[२]

अर्थात् पक्षियों के अत्यन्त उड़ने के कारण वायु से हिलते हुए पल्लवरूपी हाथ में फल-फूलों को लेकर स्थित, वन के वृक्षों ने मानो बूढ़े महर्षियों के समूह से उस (नल) के अतिथि-सत्कार को करने के लिए सीखा है ।

यहाँ पर दोनों कवियों के भावों में साम्य स्पष्ट ही है । इसी प्रकार नैषध के प्रथम सर्ग में नल के आराम भूमि की प्रति प्रयाण के अवसर पर नल के अश्वों का वर्णन किया गया है जिसका साम्य जयन्तविजय के दशम् सर्ग में रण प्रयाण के अवसर पर किये गये जयन्त के अश्व के वर्णन में दृष्टिगोचर होता है । उदाहरणार्थ नल के अश्वों का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ।।[३]

अर्थात् हम लोगों के चलने के लिए यह पृथ्वी कितने पैर (कितने कदम) होगी ? अर्थात् अत्यन्त थोड़ी होगी, इससे यह समुद्र भी स्थल बन जाय, मानो ऐसा विचार कर अपने वेग के अभिमानी घोड़ों ने समुद्र को पूरा करने (सुखाने) में समर्थ धूलि को उड़ाया ।

जयन्तविजय में निम्नलिखित श्लोक में कुछ इसी प्रकार का वर्णन है—

तुरङ्गमास्तस्य चतुः समुद्रीं रजः समाजैः स्थलतां नयन्ति ।
खुरोद्धतैर्दातुमिवावकाशमपारनासीर परं पराणाम् ।।[१]

अर्थात् मानो उन (जयन्त) के घोड़ों के खुरों से उड़ाई गयी धूलि से सेनाओं की परम्परा को अवकाश देने के लिए चारों समुद्रों को स्थल बना रहे हैं ।

१. नैषधीय चरित, १/७७ ।
२. जयन्तविजय, १/३१ ।
३. नैषधीय चरित, १/६९ ।
४. जयन्तविजय, १०/७ ।

कवि श्रीहर्ष नैषध में दमयन्ती के सौन्दर्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हैं। उनके अनुसार—

> भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः ।
> अपिजम्भरिषुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचशोभयेभराट ।।[1]

अर्थात् दमयन्ती के बालों से (पराजित होने के कारण) पूँछों के बालों की निन्दा करता हुआ मयूर षडानन (स्वामी कार्तिकेय) की सेवा करता है तथा स्तनों की शोभा से पराजित कुम्भ (मस्तकस्थ कुम्भाकार मांस-पिण्ड) वाला गज-राज (ऐरावत) इन्द्र की सेवा करता है।

इसी प्रकार कवि अभयदेव ने भी कनकवती का वर्णन किया है—

> रामणीयकमनंकुशमस्या जंघयोरनघयोरवलोक्य ।
> नूनमुद्गतपराभवदुःखा सस्तुरेणललना वनवासम् ।।[2]

अर्थात् इस (कनकवती) की सुन्दर रोमरहित निरंकुश जङ्घाओं की रमणीयता को देखकर ऐण ललना ने पराभव के दुःख के उत्पन्न होने के कारण वनवास का आश्रय लिया।

यहाँ पर दोनों कवियों के वर्णन में साम्य है, क्योंकि यदि दमयन्ती के केश तथा कुचों से पराजित होकर मयूर तथा गजराज ने स्वामी कार्तिकेय तथा इन्द्र का आश्रय लिया है तो कनकवती की रोमरहित जंघाओं से पराजित होकर हिरणी ने वनवास का आश्रय लिया है।

इसी प्रकार स्वयंवर में आयी हुई दमयन्ती को देखकर विभिन्न स्थानों से आये हुए राजा लोग कल्पना करते हैं—

> रसस्य शृङ्गार इति श्रुतस्य क्व नाम जागर्ति महानुदन्वान ।
> कस्मादुदस्थादियमन्यथा श्रीर्लावण्यवैदग्ध्यनिधिः पयोधेः ।।[3]

अर्थात् (नव रसों में) 'शृङ्गार' ऐसे नाम से सुने गये रस का विशाल समुद्र कहाँ है? (कहीं न कहीं अवश्य है), नहीं तो सौन्दर्य की चातुर्य के निधि यह (दमयन्तीरूपिणी) लक्ष्मी किस समुद्र से निकली है।

जयन्तविजय के त्रयोदश सर्ग में जयन्त भी कनकवती को देखकर इसी प्रकार कल्पना करते हैं--

> पर्वते किमिह पर्वतपुत्री पर्वतश्रियमवेक्षितुमागात् ।
> किं रतिः किमु रमा खलुनैव मर्त्यलोकललनैव निमेषात् ।।[4]

१, नैषधीय चरित, २/३३ ।
२. जयन्तविजय, १३/१६ ।
३. नैषधीयचरित, १०/११५ ।
४. जयन्तविजय, १३/१२ ।

अर्थात् क्या यहाँ इस पर्वत पर पर्वतपुत्री पर्वत की सुन्दरता को देखने के लिए आयी है, या रति है अथवा रमा है, नही निमेष के कारण यह मृत्युलोक की ललना है।

यहाँ पर भी दोनों कवियों के भाव में साम्य हैं, किन्तु दमयन्ती को देखकर राजागण उसे मृत्युलोक की रमणी नहीं मानते हैं जबकि जयन्त निमेष लगने के कारण कनकवती को मृत्युलोक की ललना है। ऐसा जान लेते हैं।

इस प्रकार कवि ने दमयन्ती के नेत्रों का वर्णन करते हुए लिखा है--

दृशौ किमस्याश्चपलस्वभावे न दूरमाक्रम्य मिथो मिलेताम्।
न चेत्कृतः स्यादनयोः प्रयाणे विघ्नः श्रवःकूपनिपातभीत्या॥[1]

अर्थात् इस दमयन्ती के चंचल स्वभाव वाले कर्णान्त विशाल) नेत्र दूर तक जाकर परस्पर में क्यों नहीं मिल जाते ? अर्थात् अवश्य मिल जाते। यदि इन नेत्रों के जाने में कान-कूप में गिरने का भय बाधक न होता।

जयन्तविजय में कवि अभयदेव ने भी इसी प्रकार कहा है

लंघितुं श्रवणयोश्चिरसीमां लोचने मृगदृशो विवदाते।
निर्विवादविषयेऽपि विवादः शश्वदश्रुतिमतां किमु चित्रम्॥[2]

अर्थात् कानों की बढ़ी हुई सीमा को लाँघने के लिए मृगनयनी (कनकवती) के दोनों नयन आपस में विवाद करते थे, क्योंकि निर्विवाद विषय में अश्रुतिमानों का निरन्तर विवाद होता है इसमें क्या विचित्र है अर्थात् कुछ भी नहीं।

यहाँ पर भी भाव साम्य स्पष्ट है किन्तु श्रीहर्ष की दृष्टि में नेत्रों को कर्ण-कूप में गिरने का भय है अतः वे आगे नहीं बढ़ सके हैं जबकि कवि अभयदेव की दृष्टि में कनकवती के नेत्र कर्ण-कूप को लाँघने का उपाय खोज रहे हैं।

वसन्त ऋतु में कोयल की आवाज विरहिणियों की कामभावना को और भी अधिक उद्दीप्त कर देती है, इसीलिए कामदेव उन्हें परेशान करने के लिए कोयल की आवाज को ही अपना बाण बनाता है। कवि श्रीहर्ष दमयन्ती को पीड़ित करने वाले इसी बाण का उल्लेख करते हैं—

सह तया स्मर ! भस्म झडित्यभूः पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीः।
ध्रुवमभूदधुना वितनोः शरस्तव पिकस्वर एव स पञ्चमः॥[3]

अर्थात् हे कामदेव ! शिवजी के प्रति तुमने जिस बाण को (मारने के लिए)

१. नैषधीयचरित, ७/३४।
२. जयन्तविजय, १३/३०।
३. नैषधीय चरित, ४/६४।

ग्रहण किया, वह तुम्हारे साथ ही शीघ्र भस्म हो गया। किन्तु शरीरहीन तुम्हारे वे ही पाँच बाण इस समय निश्चित ही कोयल के शब्द हो गये हैं।

जयन्तविजय' महाकाव्य में भी कवि द्वारा प्रतिपादित यही भाव दर्शनीय हैं—

माधवप्रणयिना मनोभुवा मानखण्डनविधौ मृगीदृशाम्।
कोमलोऽपि कलकण्ठकामिनी पञ्चमध्वनिरमीयतास्त्रताम् ॥[१]

अर्थात् मृगनयनियों के मानखण्डन की विधि में वसन्त प्रिय कामदेव से कोमल कल-कल निनाद करने वाली कोयल की पञ्चम ध्वनि को अस्त्र बनाया गया।

यहाँ पर भी भाव साम्य है, क्योंकि कोयल पञ्चम स्वर से बोलती है और यही उसका पंचम स्वर ही मानो कामदेव द्वारा विरहीजनों पर प्रहार किये जाने वाले पाँच बाण हैं।

इसी प्रकार अन्धकार में अभिसाराभिलाषी नायिकाओं की वेश-भूषा का वर्णन करते हुए कवि श्रीहर्ष लिखते हैं—

ध्वान्तैणनाभ्या शितिनाम्बरेण दिशः शरैः सूनशरस्य तारैः।
मन्दाक्षलक्ष्या निशि मामनिन्दौ सेर्ष्या भवायान्त्यभिसारिकाभा ॥[२]

अर्थात् (हे प्रिये दमयन्ती) अन्धकाररूपी कस्तूरी से युक्त, काले कपड़े से उपलक्षित, कामबाणों से पीड़ित, लज्जायुक्त अभिसाराभिलाषिणी दिशारूपिणी नायिकाएँ चन्द्ररहित अर्थात् अन्धकारयुक्त रात्रि में मेरे पास आ रही हैं अतएव तुम ईर्ष्यायुक्त होवो। भाव यह है कि जिस प्रकार कृष्णपक्ष की अँधेरी रात्रि में कस्तूरी से सुगन्धित, काला कपड़ा पहने हुए, कामपीड़ित लजाती हुई नायिका नायक के पास जाती है, तब नायक के समीप स्थित उसकी स्त्री उस अभिसार करने वाली स्त्री के प्रति ईर्ष्या करती है, उसी प्रकार ये दिशारूपी अभिसारिकाएँ मेरे पास आ रही हैं, अतएव तुम इनके प्रति ईर्ष्या करो।

महाकवि अभयदेव ने भी जयन्तविजय महाकाव्य में अभिसाराभिलाषिणी नायिकाओं की साज-सज्जा का इसी प्रकार वर्णन किया है—

अभिनव मृगनाभीपङ्कक्लृप्ताङ्गरागा
भ्रमररुचिदुकूलैर्वेषमुद्रां दधानाः।
मरकतकृतभूषाः पक्ष्मलाक्ष्यः सलीलं
रमणमभिसरन्ति स्वैरमिद्धेऽन्धकारे ॥[३]

---

१. जयन्तविजय, ७/३१।
२. नैषधीय चरित, २२/३२।
३. जयन्तविजय, ८/५२।

अर्थात् अभिनव कस्तूरी के पङ्क से अङ्गराग किये हुए, भ्रमर की कान्ति के समान साड़ियों से वेष मुद्रा को धारण किये हुए, मरकत मणि का आभूषण पहने हुए कमलनेत्रियाँ लीलापूर्वक बढ़े हुए अन्धकार में स्वेच्छापूर्वक रमणों (नायकों) का अभिसरण करती हैं।

यहाँ पर नायिकाओं की साज-सज्जा का दोनों कवियों ने एक ही समान वर्णन किया है।

इसी प्रकार दमयन्ती के विवाह में राजा भीम द्वारा नल को दिये गये दहेज का वर्णन करते हुए कवि श्रीहर्ष लिखते हैं—

त तेन वाहेषु विवाहदक्षिणीकृतेषु संख्यानुभवेऽभवत् क्षमः।
न शातकम्भेषु न मत्तकुम्भिषु प्रयत्नवान् कोऽपि न रत्नराशिषु ॥[1]

अर्थात् उन (राजा भीम) के द्वारा विवाह में दक्षिणा (दहेज) दिये गये घोड़ों, सुवर्णों, मतवाले हाथियों और रत्नों के ढेरों की गणना करने में प्रयत्नशील भी कोई व्यक्ति समर्थ नहीं हुआ।

जयन्तविजय में कवि अभयदेव भी पवनगति द्वारा अपनी पुत्री कनकवती के विवाह में याचकों को दिये गये दान का वर्णन भी इसी प्रकार करते हैं—

तत्र दानसमये खचरेन्द्रः प्राज्यवाजिकरटीन्द्रघटाभिः।
स्वर्णरत्ननिकरैश्च स चक्रे श्रीपतिं हरिमिवार्थिसमाजम् ॥॥[2]

अर्थात् उस कन्यादान के समय खचरेन्द्र (पवनगति) ने सुवर्ण, घोड़े, हस्तिनी की घटाओं और रत्न समूहों से याचक समाज को श्रीपति विष्णु की भाँति कर दिया।

यहाँ पर कवि अभयदेव के वर्णन में श्रीहर्ष की अपेक्षा विशेष उत्कर्ष है क्योंकि राजा भीम के द्वारा दमयन्ती के विवाह में नल को दिये गये दहेज की गणना करने में प्रयत्नशील व्यक्ति भी समर्थ नहीं हो सका है जबकि खचरेन्द्र पवनगति ने अपनी पुत्री कनकवती के दान के समय याचकों को इतना अधिक धन दिया है कि वे भगवान् विष्णु की भाँति लक्ष्मी से युक्त हो गये हैं तो उन्होंने अपने जामाता जयन्त को दहेज में कितना धन दिया होगा; इसका अनुमान लगाना ही कठिन है।

श्रीहर्ष नैषध काव्य में भवितव्यता के सम्बन्ध में अपने विचार करते हैं—

अवश्य भव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेनवात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥[3]

१. नैषधीय चरित, १६/३४।
२. जयन्तविजय, १३/६४।
३. नैषधीय चरित, १/१२०।

अर्थात् अवश्य होने वाले होनहार में निर्बाध ब्रह्मा की इच्छा जिस ओर दौड़ती है, मनुष्य का अत्यन्त पराधीन चित्त भी वायु-समूह से तृण के समान उसी दिशा को जाता है। अर्थात् होनहार को कोई टाल नहीं सकता है।

नैषध महाकाव्य के यही विचार जयन्तविजय महाकाव्य में दर्शनीय हैं—

तथाप्यवज्ञाय तदीयमन्त्रितं प्रयाणमाधत्त मदोद्धतस्ततः।
अरिष्ट संसूचित मृत्युरप्यसौ विलंघ्यते कैर्भवितव्यताथवा ॥[1]

अर्थात् इसके पश्चात् मदोद्धत राजा ने मन्त्रियों की मन्त्रणा की अवहेलना कर प्रस्थान किया यद्यपि अरिष्टों की सूचना से मृत्यु की सम्भावना हो रही थी। अथवा भवितव्यता को किसके द्वारा टाला जा सकता है।

इसी प्रकार कुछ अन्य स्थल भी विशेष दर्शनीय हैं। यथा नैषध में वर्णित—

१. स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता। (नैषधीय चारित, २/:१)
२. कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते। (नैषधीय चरित, ५/६)
३. दैवे विरुन्धति निबन्धनतां वहन्ति हन्त।
प्रयास परुषाणि न पौरुषाणि ॥ (नैषधीय चरित, ११/५५)

सूक्तियों का प्रभाव भी जयन्तविजय में वर्णित निम्नलिखित सूक्तियों पर परिलक्षित होता है—

१. सतामार्तपरित्राण प्रगुणाश्चित्तवृत्तयः। (जयन्तविजय, ३/५२)
२. सुखमसुखमिह स्यादात्मकर्मानुरूपम्। (जयन्तविजय, ८/६०)
३. सर्वं विधौ हि विमुखे विमुखं जनस्य। (जयन्तविजय, ५/५६)

इस प्रकार स्पष्ट है, कि कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य की रचना करने के पूर्व नैषध महाकाव्य का विधिवत् अध्ययन किया था। अतः उनकी रचना श्रीहर्ष के नैषधीय चरित से प्रभावित परिलक्षित होती है। हाँ इतना अवश्य है कि नैषध में कवि श्रीहर्ष ने दुरूह शैली का आश्रय लिया है जबकि कवि अभयदेव ने सरस शैली को अपना कर नैषध के भावों को जयन्तविजय महाकाव्य में यत्र-तत्र व्यक्त किया है।

विल्हण

ऐतिहासिक महाकाव्यों की परम्परा में विल्हण रचित 'विक्रमाङ्कदेव चरित' महाकाव्य का प्रमुख स्थान है। इसमें चालुक्यवंशीय राजा विक्रमादित्य (१०७५-११२६ ई०) के जीवन की घटनाओं का वर्णन किया गया है। महाकाव्य की शैली वैदर्भी है। कवि वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हुए लिखता है—

१. जयन्तविजय, ६/५२।

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वती विभ्रमजन्मभूमिः ।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूयदानम् ।।[1]

अर्थात् वैदर्भी रीति का आविर्भाव उत्कृष्ट और अच्छे काव्य की रचना करने में कुशल तथा पुण्यात्मा कवियों में ही होता है । यह वैदर्भी रीति श्रवण को आनन्द देने वाले अमृत की बिना मेघों की वृष्टि है । वाणी के विलास का जन्म स्थान है और पदों को कविता में यथोचित स्थान प्राप्त होकर उनके सौन्दर्य वृद्धि की जमानत करने वाली है ।

विक्रमाङ्कदेव चरित महाकाव्य की इसी वैदर्भी रीति का अनुकरण कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में किया है । अतः शैली के साथ ही कवि ने महाकाव्य के भावों को भी यत्र-तत्र उन्हीं रूपों में प्रस्तुत किया है ।

विक्रमाङ्कदेव चरित में कवि विल्हण विक्रमादित्य के गर्भ में आने पर आह्वमल्ल की महारानी का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

कृतावतारः क्षितिभारशान्तये न पीड्यमानां सहते महीमयम् ।
इतीव सा गर्भभरालसा शनैः पदानि चिक्षेप मृगायतेक्षणा ।।[2]

अर्थात् गर्भ के बोझ से धीरे-धीरे चलने वाली, मृग के समान बड़े-बड़े नेत्रों वाली रानी, मानो यह सोचकर कि पृथ्वी का बोझ कम करने के लिए शरीर धारण करने वाला मेरा गर्भस्थ कुमार, मुझसे पृथ्वी का बोझ द्वारा पीड़ित होना कैसे सहन करेगा, पृथ्वी पर धीरे-धीरे पैरों को रखती थी ।

जयन्तविजय में जयन्त के गर्भ में आने पर महारानी प्रीतिमती का वर्णन भी कवि अभयदेव ने इसी प्रकार किया है ।

वसुंधराभारधुरंधरस्य सुतस्य गर्भे समुपागतस्य ।
तदानुभावान्मणि कुट्टिमेऽपि चचालसामं वरपादपातम् ।।[3]

अर्थात् वसुन्धरा के भार को वहन करने वाले पुत्र के गर्भ में आने के कारण वह रानी प्रीतिमती गर्भ के प्रभाव से मणिजटित कुट्टियों पर भी गम्भीरता और शान्तपूर्वक पैर को रखती थी ।

विक्रमादित्य के जन्म के समय आकाश से भौंरों की गुंजार से युक्त नन्दन वन के फूलों की वृष्टि होने लगती है, देवराज इन्द्र का नगाड़ा बजने लगता है तथा उनके जन्म के साथ उत्पन्न उनके उज्ज्वल गुणों से दिशाएँ निर्मल हो जाती हैं—

---

१. विक्रमाङ्कदेव चरित, १/९ ।

२. वही, २/६९ ।

३. जयन्तविजय, ६/७१ ।

सुरप्रसूनान्यपतन्सषट्पदध्वनीनि दध्वान सुरेन्द्रदुन्दुभिः ।
परं प्रसादं ककुभः प्रपेदिरे गुणैः कुमारस्य सहोत्थितैरिव ॥[१]

जयन्तविजय महाकाव्य में जयन्त के जन्म के समय भी इसी प्रकार के माङ्गलिक वातावरण की छटा दर्शनीय है—

दिशः प्रसन्नाः शरदीव नद्यो वातास्तदामोदभृतो जनाश्च ।
बभूवुरभ्रे सुरदुन्दुभीनां पयोदनाद प्रतिमा निनादाः ॥[२]

अर्थात् दिशाएँ निर्मल हो गयीं, शरद् ऋतु के समान नदियाँ स्वच्छ हो गयीं, शुद्ध वायु प्रवाहित होने लगी, पुत्रजन्म से जन समुदाय प्रसन्न हुआ तथा आकाश से देवताओं के नगाड़े का शब्द मेघ के शब्द के समान हुआ।

विक्रमाङ्कदेव चरित में कवि विल्हण आह्वमल्ल की सेना की भीषणता का वर्णन करते हुए कहते हैं—

राशीकृतं विश्वमिवावलोक्य वेलावने यस्य चमूसमूहम् ।
अम्भोविभूतेरपरिक्षयेण क्षारत्वमब्धिर्बहुमन्यते स्म ॥[३]

अर्थात् सम्पूर्ण जगत एकत्रित हो गया है ऐसा दिखलायी पड़ने वाले जिस राजा के सेना समूह को अपने तट पर एकत्रित देखकर जल सम्पत्ति का जरा भी खर्च न होने से समुद्र, अपने जल के खारेपन की सराहना करने लगा। अर्थात् यदि जल नमकीन न होता तो उस राजा की सेना उसका सब जल पी जाती।

जयन्तविजय महाकाव्य में भी यही भाव दर्शनीय है—

उपस्थितोऽपि मशोषे पानाद्यैरस्य सैन्यतः ।
रक्षिका क्षारतैवेति तुष्टुस्तां तुष्टवेऽम्बुधिः ॥[४]

अर्थात् खारे जल का शोषण करने वाली इस सेना के सन्तुष्टतापूर्वक उपस्थित होने पर भी क्षारता ही इसकी रक्षिका है। इस तरह से समुद्र ने अपनी उस क्षारता की ही स्तुति की।

इसी प्रकार जयन्त की सेना के घोड़ों के खुरों से उड़ायी गयी धूलि जाकर समुद्र में गिरती है किन्तु कवि की दृष्टि में मानो वे घोड़े इस पृथ्वी पर सेना के न समाने के कारण समुद्र को भी स्थल बनाना चाहते हैं—

तुरङ्गमास्तस्य चतुःसमुद्रीं रजः समाजैः स्थलतां नयन्ति ।
खुरोद्धतैर्दातुमिवावकाशमपारना सीरपरंपराणाम् ॥[५]

---

१. विक्रमाङ्कदेव चरित, २/८६ ।
२. जयन्तविजय, ६/८० ।
३. विक्रमाङ्कदेवचरित, १/११० ।
४. जयन्तविजय, ११/१४ ।
५. जयन्तविजय, १८/७ ।

अर्थात् मानो उसके घोड़ों के खुरों से उड़ाई गयी धूलि से सेनाओं की परम्परा को अवकाश देने के लिए चारों समुद्रों को स्थल बना रहे हैं ।

जयन्तविजय के इस श्लोक पर विक्रमाङ्कदेव चरित के निम्नलिखित श्लोक की छाया दर्शनीय है—

अब्धिषु स्थलपथी कृतेषु नः पूर्यते जवविधौ कुतूहलम् ।
इत्यकुर्वत दिगन्तगोचरं नूनमस्य तुरगाः क्षमारजः ।।[1]

अर्थात् राजा विक्रमाङ्कदेव के घोड़ों ने, समुद्रों पर भी यदि जमीन पर का मार्ग बन जाता तो हम लोगों का वेग से चलने का हौसला पूरा हो जाता । इस प्रकार विचार कर उन्होंने निश्चयपूर्वक पृथ्वी की धूलि को दिगन्तर-व्यापी बना दिया ।

'विक्रमाङ्कदेव चरित' में वर्णित राजा विक्रमादित्य अत्यन्त पराक्रमी सम्राट हैं । इसीलिए उनके दिग्विजय के लिए प्रस्थान करने पर द्रविड़ देश की भूमि नायिका की भाँति काँपने लगती है । कवि विल्हण के शब्दों में—

तं विभाव्य रभसादुपागतं क्ष्माभुजङ्गमुपजातसाध्वसा ।
लोलवारिनिधिनीलकुण्डला द्राविडक्षितिपभूरकम्पत् ।।[2]

अर्थात् चंचल नीले रंग के पूर्व पश्चिम समुद्ररूपी नीले कुण्डल को धारण करने वाली द्रविड़ राजा की भूमिरूपी कामिनी वेग से आए हुए पृथ्वी के राजा या कामुक विक्रमादित्य को देखकर भय से या लज्जा से काँपने लगी ।

यहाँ पर नायक विक्रमादित्य पर एक कामुक व्यक्ति का आरोप किया गया है । अर्थात् जिस प्रकार नीलम के बने हुए कुण्डलों को धारण करने वाली कामिनी पूर्व परिचित कामुक को वेग से आया हुआ देखकर लज्जा से सात्विक भाव उत्पन्न होने के कारण रोमाञ्चित हो, काँपने लगती है, उसी प्रकार नीले पूर्व पश्चिम समुद्ररूपी नीले (नीलम के) कुण्डलों को धारण करने वाली द्रविड़ राजा की भूमि वेग से आये हुए पूर्व परिचित विक्रमाङ्कदेव को देखकर काँपने लगी ।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में दिग्विजय हेतु निकले हुए जयन्त के आगमन पर भी यही भाव दर्शनीय है—

सहसा संमुखे तस्मिन्रागिणि क्षितिपाङ्गजे ।
तस्तकाञ्चीदिवैशाथ (?) चकम्पेद्राविडक्षितिः ।।[3]

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरित, १४/६२ ।
२. वही, ५/२८ ।
३. जयन्तविजय, ११/५१ ।

अर्थात् उस राजा (जयन्त) के सहसा सन्मुख आने पर अनुराग के कारण काञ्ची से परिभूषित द्रविड़ देश की पृथ्वी कंपित हो उठी। भाव यह है कि जिस प्रकार अपने प्रियतम के आगमन पर नायिका की कमर फड़कने लगती है उसी प्रकार वह द्रविड़ देश की पृथ्वी भी अपने स्वामी (जयन्त) के आने पर काँप रही है।

यहाँ पर दोनों कवियों के वर्णन तथा भाव में साम्य स्पष्ट है।

'विक्रमाङ्कदेव चरित' में कवि विल्हण द्वारा वर्णित विक्रमादित्य एक आदर्श राजा हैं। इसीलिए उनके राज्य में मेघ समय से वृष्टि करते हैं—

पयोभिरस्मान्परिपूरयन्ति ये
पयोधयस्ते दधतेऽस्य वश्यताम्।
इतीव तत्सेवनवाञ्छया जलं
यथोपयोगं मुमुचुः पयोमुचः ॥[1]

अर्थात् जो समुद्र जल से हम मेघों को भर देते हैं वे समुद्र इसके वश में हैं, ऐसा विचार कर मानो मेघ इसकी सेवा करने की इच्छा से इसके राज्य में यथेच्छ वृष्टि करते थे। अर्थात् इसके राज्य में कभी भी अतिवृष्टि या अनावृष्टि नहीं होती थी।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में वर्णित जयन्त भी एक आदर्श राजा हैं। इसीलिए उनके राज्य में भी मेघ समय पर वर्षा करते हैं और जनता इति-भीति के भय से मुक्त दिखलायी पड़ती है—

तस्मिन्महीं पालयति क्रमाप्तां नयांचिते पंचमलोकपाले।
ववर्ष काले जलदः समस्तप्रशस्यसस्योद्गममूलबीजम् ॥[2]

अर्थात् उस राजा के क्रमशः पृथ्वी का पालन करने पर नीति से पाँचवे लोकपाल के समान समय पर जलद सब प्रकार के प्रशंसनीय धान्य को उत्पन्न करने के मूल बीज को अर्थात् जल को बरसाते थे।

'विक्रमाङ्कदेव चरित' में कवि विल्हण चन्द्रलेखा के स्वयंवर में आये हुए राजाओं की शृङ्गारिक चेष्टाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं

तदीयवक्त्रेन्दुविलोकनेन सान्द्रोल्लसद्रागपयोनिधीनाम्।
तत्रागतानां पृथिवीपतीनामासन्विचित्राणि विचेष्टितानि ॥
उत्कृष्यमाणं निजहारदाम समस्तभूपाल विभूषणेभ्यः।
वक्षः स्थलेनोन्नमितेन दूरं कश्चिन्नरेन्द्रः प्रकटीचकार ॥[3]

अर्थात् चन्द्रलेखा के मुख चन्द्र को देखकर वहाँ आये हुए, अत्यधिक बढ़े हुए

---

१. विक्रमाङ्कदेव चरित, १७/३।
२. जयन्तविजय, १९/७१।
३. विक्रमाङ्कदेव चरित, ९/७५-७६।

प्रेम सागर से युक्त, राजा लोग, विचित्र-विचित्र चेष्टाएँ दिखाने लगे। किसी राजा ने, अन्य सब राजाओं के आभूषणों से उत्कृष्ट अपने हार को अपना सीना आगे बढ़ाकर दिखाया। अर्थात् तुमको भी इसी तरह हृदय में धारण करूँगा, ऐसा संकेत किया।

राजाओं की इन्हीं शृङ्गारिक चेष्टाओं का वर्णन कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य के षोडश सर्ग में रतिसुन्दरी के स्वयंवर में भी हुआ है। कवि अभयदेव के शब्दों में—

एतदीय वदनेन्दुदर्शनादुत्तरङ्गगुरुराग सागराः।
चेष्टितानि विदधुर्वसुंधराधीश्वराः सदसि ते स्मरोद्धतम्॥
प्राप्तरेखमखिलेषु भूभुजां भूषणेषु निजहारमुज्ज्वलम्।
उन्नतेन हृदयेन सर्वतः कोऽप्यदर्शयदखर्वगर्वतः॥[१]

अर्थात् इस (रतिसुन्दरी) के चन्द्र तुल्य दर्शन से तरङ्गित परिपूर्ण राग वाले सागर के समान वे राजागण सभा (स्वयंवर) में काम से उद्धत चेष्टाओं को करने लगे तथा कोई राजा राजाओं के सम्पूर्ण आभूषणों पर रेखाङ्कित अपने उज्ज्वल हार को अपना सीना आगे बढ़ाकर बड़े गर्व से दिखाने लगा।

इसी प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य में वर्णित ऋतु वर्णन यद्यपि पारम्परिक है किन्तु उस पर भी 'विक्रमाङ्कदेव चरित' महाकाव्य की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। विक्रमाङ्कदेव चरित में कवि विल्हण ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

प्रतापमारोप्य परां समुन्नतिं यशः प्रदर्श्येव च दावभस्मभिः।
भजन्निदाघः कृतकृत्यतामिव स्वपौरुषाविष्करणान्न्यवर्तत॥[२]

अर्थात् ग्रीष्म ऋतु, अपने प्रताप को अर्थात् गर्मी को पराकाष्ठा तक पहुँचा कर दावानल से जले पेड़ों की सफेद राख से मानो अपना सफेद यश दिखाकर अथ त् फैलाकर कृतकृत्य होकर मानो अपने पुरुषार्थ को प्रकट करने से निवृत्त हो गया। अर्थात् अब ग्रीष्म की गर्मी कम होने लगी।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि अभयदेव भी इसी प्रकार कहते हैं—

गिरिदवानलदग्धवनोद्भवं भ्रमति भस्मसितं वितितीकृतम्।
जगति बन्दिजनैरिव वायुभिर्यश इवोष्ण ऋतोरवनीपतेः॥
न परमुग्रमयं रतिसुन्दरी प्रियतमः सहते निजशासनात्।
इति भयादिव कम्पित मानसस्त्वरितमुग्र ऋतुः प्रपलायत॥[३]

---

१. जयन्तविजय, १६/३८-३९।
२. विक्रमाङ्कदेव चरित, १३/१।
३. जयन्तविजय, १८/१३,१५।

अर्थात् संसार में वन्दियों से राजा के दीप्त यश की भाँति वायु द्वारा उड़ती हुई निदाघ ऋतु की ऊष्णता दावानल से जलाये गये वन से उत्पन्न फैली हुई श्वेत भस्म के समान प्रतीत हुई तथा अपने शासन के द्वारा यह रतिसुन्दरी का प्रियतम अत्यन्त उग्रता को नहीं सहन कर सकता इसीलिए भय से काँपता हुआ यह उग्र ऋतु शीघ्र भाग गया।

यहाँ पर प्रस्तुत दोनों स्थलों में भाव साम्य है किन्तु कवि अभयदेव द्वारा प्रस्तुत वर्णन में विशेष चमत्कार है क्योंकि विल्हण की दृष्टि में ग्रीष्म ऋतु स्वाभाविक रूप से अपना उत्कर्ष दिखला कर शान्त हो जाती है जब कि कवि अभयदेव की दृष्टि में ग्रीष्म ऋतु अपना उत्कर्ष तो प्रकट करती है किन्तु उसे यह भय है कि रतिसुन्दरी का प्रियतम जयन्त अपने राज्य में अधिक समय तक मेरी उग्रता सहन नहीं करेगा अतः भय के कारण भाग जाती है।

ग्रीष्म ऋतु में दिन बढने लगते हैं। यह एक लौकिक तथ्य है किन्तु कवि विल्हण दिनों की दीर्घता के हेतु की सुन्दर उत्प्रेक्षा प्रस्तुत करते हैं—

> खेः समस्त क्षितिमध्यगं रसं निपीय पीनत्वमतीव बिभ्रतः।
> भरेण वाजिष्विव मन्दगामिषु क्रमेण दैर्घ्यं दिवसाः प्रपेदिरे॥[1]

अर्थात् समस्त पृथ्वी के जल को पीकर अत्यन्त स्थूल हुए सूर्य के बोझ से मानो घोड़ों के धीरे-धीरे चलने से दिन धीरे-धीरे बड़े होने लगे।

कवि अभयदेव ने भी दिन के वृद्धि की यही कल्पना की है—

> बहुतृपेव रसारसपानतस्तरणिरेष महाभरदुर्वहः।
> अभवदस्य रथाश्वगतिः शनैर्ध्रुवमतो दिनवृद्धिरजायत॥[2]

अर्थात् अत्यन्त तृषाकुल की भाँति सारी पृथ्वी के रस के पान से यह सूर्य अत्यन्त भार से दुर्वह हो गया अतएव इसके रथ के अश्वों की गति धीमी हो गयी इसीलिए निश्चयरूप से दिन बढ़ने लगे।

यहाँ पर दोनों ही स्थलों पर एक ही भाव को व्यक्त किया गया है तथा दोनों ही स्थलों पर रमणीयता एवं कलात्मकता है।

इसी प्रकार वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए कवि विल्हण ने उसका मानवीकरण किया है—

> तृणानि भूभृत्कटकेषु निक्षिपन् न कैः स्फुरद्धीरमृदङ्गनिस्वनः।
> तडित्प्रदीपैश्चलदङ्कलीलया निदाघमन्विष्यति वारिदागमः॥[3]

---

१. विक्रमांकदेव चरित, १३/५।
२. जयन्तविजय, १८/६।
३. विक्रमांकदेव चरित, १३/३६।

अर्थात् प्रकट होने वाले गम्भीर पखावज की ध्वनि के समान ध्वनि वाला और अपने आने की मोहर छाप करने वाला यह वर्षा ऋतु पर्वतों की घाटी में या राजा की सेनाओं में घासों को उत्पन्न करता हुआ किन-किन बिजलीरूपी दीपकों से ग्रीष्म ऋतु की खोज नहीं करता है। अर्थात् ग्रीष्म ऋतु कहीं कोने में छिपकर तो नहीं बैठी है, इसकी खोज करता है।

कवि विल्हण के यही भाव 'जयन्तविजय' महाकाव्य में भी दर्शनीय हैं—

जलदकालनृपस्य घनो भटः परिलसत्तरवारिसमुद्भटः।
तडितमुग्रऋतो स्म दिदृक्षया क्षिपति दृष्टिमिवातिरुषां नृणाम्॥[1]

अर्थात् अत्यन्त सुशोभित जल से भरपूर वर्षा ऋतु रूपी नृप के वीर (बादल) उग्र ऋतु को देखने की इच्छा से अत्यन्त क्रोधी मनुष्य की भाँति अपने नेत्र तडित को फेंक रहे हैं।

यहाँ पर दोनों ही स्थलों में वर्षा ऋतु का मानवीकरण किया गया है तथा भाव साम्य दर्शनीय है।

वर्षा ऋतु के पश्चात् शरद् ऋतु का आगमन होता है। यह शरद् ऋतु सबके लिए आनन्ददायक होती है। कवि विल्हण इस ऋतु में सूर्य-चन्द्र के गुणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं

आतपः क्लममदत्त वासरे चन्द्रिका जनमनन्दयन्निशि।
चक्रतुर्निजगुणप्रकाशनं स्पर्धयेव तपनक्षपाकरौ॥[2]

अर्थात् दिन में सूर्य की किरणें सब लोगों को कष्ट देने लगीं। तथा रात्रि में चन्द्रमा की किरणें सब लोगों को आनन्दित करने लगीं। इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा मानो स्पर्धापूर्वक अपने-अपने गुणों को प्रकट करने लगे।

जयन्तविजय महाकाव्य में कवि अभयदेव ने भी सूर्य और चन्द्र का इसी प्रकार वर्णन किया है—

अहनि तापमधत्त परं रविर्घनघनां च शशी निशि चन्द्रिकाम्।
शरद इष्टतरावधिकारिणाविव निदेशवशात्कुरुतस्तथा॥[3]

अर्थात् दिन में सूर्य परम ताप को प्राप्त हुआ और रात में चन्द्रमा ने अत्यन्त घनी चन्द्रिका को धारण किया इस प्रकार शरद के आदेश से अत्यन्त प्रिय होते हुए अधिकारी की भाँति इन दोनों ने आज्ञा का पालन किया।

यहाँ पर भी दोनों कवियों के वर्णन में भाव साम्य है किन्तु कवि अभयदेव

१. जयन्तविजय, १८/२०।
२. विक्रमाङ्कदेवचरित, १४/३३।
३. जयन्तविजय, १८/३६।

के वर्णन में विशेष चमत्कार है क्योंकि उनकी दृष्टि में मानो सूर्य और चन्द्र शरद ऋतु के आदेश का पालन कर रहे हैं। जब कि विल्हण की दृष्टि में सूर्य और चन्द्र आपस में स्पर्धा की भावना से अपने-अपने उत्कर्ष को प्रकट कर रहे हैं। इसके साथ ही प्रस्तुत स्थल पर उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना भी दर्शनीय है।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि अभयदेव द्वारा वर्णित वसन्त ऋतु के अन्तर्गत पुष्पावचय वर्णन भी यद्यपि पारम्परिक है किन्तु उस पर भी विक्रमाङ्कदेव चरित महाकाव्य की छाया स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है क्योंकि पुष्पावचय के प्रसङ्ग में कवि विल्हण कहते हैं।

विधाय काचिन्नयने सपत्न्याः क्रीडाच्छलात्पुष्पपरागपूर्णे।
पात्रत्वमाप प्रियचुम्बनस्य किमस्ति वैदग्ध्यवतामसाध्यम ।।[1]

अर्थात् किसी स्त्री ने खेल के बहाने से अपनी सौत की आँखें फूलों की धूलि से भरकर अपने को विक्रमाङ्कदेव द्वारा चुम्बित होने का स्थान बना लिया। अर्थात् सौत की आँखें बन्द देखकर विक्रमाङ्कदेव ने उसका चुम्बन किया। चतुर जनों के लिए क्या असाध्य है, अर्थात् कुछ नहीं।

विक्रमाङ्कदेव चरित के इस श्लोक की छाया 'जयन्तविजय' महाकाव्य के निम्नलिखित श्लोक पर दर्शनीय है—

कुवलयदलनेत्रां पक्वनारङ्गनव्य-
त्वगुदितरसधाराक्षेपतो व्याकुलाक्षीम्।
विदधदथ जयन्तोऽन्यां चुचुम्बे तदग्रे
गुरुरिह चतुरत्वे कामदेवोऽस्यनूनम् ।।[2]

अर्थात् इसके पश्चात् उस (नायिका) के सामने पकी हुई नारंगी के नवीन वल्कल से निकले हुए रस की धारा के गिराने से उसे व्याकुल नेत्र वाली करते हुए जयन्त ने कमलदल के समान नेत्रों वाली दूसरी का चुम्बन किया। निश्चय ही इस क्रीड़ा की चातुरी में कामदेव इसका गुरु है।

यहाँ पर दोनों कवियों ने एक ही भाव को व्यक्त किया है किन्तु कवि अभयदेव के वर्णन में विशेष उत्कर्ष है क्योंकि कवि ने नारी-सुलभ लज्जा की रक्षा की है। कवि के काव्य में नायक जयन्त स्वयं नारंगी के नवीन वल्कल से निकली हुई रस की धारा से एक नायिका के नेत्रों को व्याकुल करता हुआ दूसरी नायिका का चुम्बन करता है किन्तु कवि विल्हण के काव्य में नायिका स्वयं अपनी सौत के नेत्रों में पुष्प पराग झोंककर अपने को नायक विक्रमाङ्कदेव के चुम्बन का पात्र बनाती

१. विक्रमाङ्कदेव चरित, १०/४६।
२. जयन्तविजय, ८/२१।

है । अतः स्पष्ट है कि कवि विल्हण ने अपने महाकाव्य में नारी की जिस चपलता का वर्णन किया है 'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि अभयदेव ने उसकी रक्षा की है ।

अपि च—

एवमादिविनिवेद्य पार्थिवस्तत्र सान्त्वनशतानि सूत्रयन् ।
तं शशाक न निषेद्धुमक्रमाद्भङ्गमेति भवितव्यता कुतः ॥[1]

अर्थात् विक्रमाङ्कदेव के इस प्रकार कहकर, सैकड़ों सान्त्वना के प्रस्ताव सिंहदेव के पास भेजने पर भी वह, उसको अन्याय पथ से हटाने में समर्थ न हो सका। होनहार कैसे टल सकती है ।

विक्रमाङ्कदेव चरित के इन्हीं भावों को 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इस प्रकार व्यक्त किया गया है ।

तथाप्यवज्ञाय तदीयमन्त्रितं प्रयाणमाधत्त मदोद्धतस्ततः ।
अरिष्टसंसूचितमृत्युरप्यसौ विलघ्यचते कैर्भवितव्यताथवा ।।[2]

अर्थात् इसके पश्चात् मदोद्धत राजा ने मन्त्रियों की मन्त्रणा की अवहेलना कर प्रस्थान किया यद्यपि उसे अरिष्टों की सूचना से मृत्यु की संभावना हो रही थी । अथवा भवितव्यता को किसके द्वारा मेटा जा सकता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य की रचना के पूर्व 'विक्रमाङ्कदेव चरित' महाकाव्य का भी अवलोकन किया था क्योंकि कल्पना वैचित्र्य और काव्यात्मकता की दृष्टि से दोनों ही महाकाव्य अत्यन्त उत्कृष्ट हैं । इसके साथ ही दोनों ही महाकाव्यों में महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का यथासम्भव निर्वाह हुआ है । दोनों ही महाकाव्य वीर रस प्रधान हैं तथा इनके नायक धीरोदात्त हैं ।

महाकवि अभयदेव सूरि जैन कवि हैं । अतः उनके 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर जैन कवि तथा उनके काव्यों का प्रभाव होना स्वाभाविक है । इसीलिए अव संस्कृत कवियों के अतिरिक्त जिन जैन संस्कृत कवियों के काव्य का प्रभाव उनके 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर पड़ा । उनका संक्षिप्त अध्ययन भी प्रस्तुत किया जा रहा हैं ।

वीरनन्दि

संस्कृत जैन काव्यों में आचार्य वीरनन्दि विरचित 'चन्द्रप्रभचरित' महाकाव्य

१. विक्रमाङ्कदेवचरित, १४/२२ ।
२. जयन्तविजय, ६/५२ ।

का प्रमुख स्थान है । इसमें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का चरित मनोरम शैली में प्रस्तुत किया गया है । आचार्य वीरनन्दि का समय ई० सन् की दसवीं शती है ।

आचार्य वीरनन्दि सन्तान न होने के दुःख से दुःखी महारानी श्रीकान्ता का वर्णन करते हुए अपने 'चन्द्रप्रभचरित' महाकाव्य में लिखते हैं—

या स्त्यानधर्मिणी पुरंध्रिजने प्रसिद्धं स्त्रीशब्दमुदवहति कारणनिर्व्यपेक्षम् ।
सा हास्यभावमुपयाति जनेषु यद्वदन्धः सुलोचन इति व्यपदेशकामः ।।[१]

अर्थात् श्रीकान्ता सोचने लगी—जो स्त्री गर्भ धारण के बिना ही स्त्री शब्द को धारण करती है, वह उस अन्धे के समान है, जो अपने को सुलोचना कहलाना चाहती है ।

वह आगे कहने लगती है—

तेनोज्झितां निजकुलैकवि भूषणेन सौभाग्यसौख्यविभवस्थिरकारणेन ।
मां शक्नुवन्ति परितर्पयितुं विपुण्यां न ज्ञातयो न सुहृदोन प्रतिप्रसादाः ।।[२]

अर्थात् उस अपने कुल के एक मात्र अलंकार तथा सौभाग्य, सुखवैभव के स्थिर कारण पुत्र से रहित मुझ पुण्यहीना को बन्धुबान्धव, सुहृद्गण या पति की प्रसन्नता अथवा समादर आदि भी सुखी नहीं बना सकते ।

पुत्र के अभाव में श्रीकान्ता ही दुःखी नहीं है अपितु उसका पति अजितंजय भी दुःखी है क्योंकि वह भी सोचने लगता है—

कुसुमाद्यथा विटपिनो वपुषो नवयौवनाच्छ्रुतवतः प्रशमात् ।
पुरुषान्वयस्य जगतीह तथा न सुपुत्रतः परमलंकरणम् ।।[३]

अर्थात् जिस प्रकार पुरुष ही वृक्ष की परम शोभा है, युवावस्था ही शरीर का परम शृङ्गार है, शान्ति ही शास्त्र के ज्ञाता पण्डित का आभरण है उसी प्रकार सुपुत्र ही मनुष्य के वंश का परम अलङ्कार है ।

आचार्य वीरनन्दि विरचित 'चन्द्रप्रभचरित' महाकाव्य के यही भाव कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य में इस प्रकार व्यक्त हुए हैं—

नभस्थलीव द्युतिमद्विना कृता निशेव शीतद्युतिमण्डलोज्झिता ।
महौषधीवोन्मदवीर्यवर्जिता न सूनुहीना वनिता प्रशास्यते ।।
परां जनन्या जनयत्यनारतं महाकुलीनस्तनयो नयाश्चितः ।
महर्घतामेधयते गुणश्रियो न किं यशोराशिरदम्भः सौरभः ।।[४]

---

१. चन्द्रप्रभ चरित, ३/३२ ।
२. वही, ३/३४ ।
३. वही, ५/४८ ।
४. जयन्तविजय, २/२, ४ ।

किमन्यदाप्नोतिगौरवं वधूः प्रियस्यपुत्रैः खलुवृत्तशालिभिः ।
महार्घ्यतां रत्नखनी न किं भजेन्मणि प्रकाण्डैरिति सा व्यचिन्तयत ।।
सुखैरशेषैः सुखिनीषु मुख्यता ममेश शच्या अपि चित्तहारिणी ।
प्रसादतस्ते किमपूर्णमस्ति मे सुतं विना त्वेतदरुंतुदं हृदः ।।[1]

अर्थात् पुत्र न होने के दुःख से दुःखी राजा विक्रमसिंह की महारानी प्रीतिमती सोचने लगी—सूर्य के बिना आकाश, चन्द्रमा के बिना रात्रि, विशिष्ट शक्ति के बिना औषधि के समान सन्तानहीन स्त्री की प्रशंसा नहीं होती । नीतिमान, महाकुलीन, अदम्भी, यशोराशि पुत्र गुण युक्त माता की महार्घता को क्या नहीं बढ़ता ? (अर्थात् माता के मूल्य को अवश्य ही बढ़ाता है) स्त्रियाँ चरित्रवान पुत्र के द्वारा ही पति के अति गौरव को प्राप्त करती हैं क्योंकि रत्न की खान प्रकाण्ड मणियों से बहुमूल्यता को क्या नहीं प्राप्त करती अर्थात् अवश्य प्राप्त करती है । वह राजा से पुनः कहती है—हे ईश ! सम्पूर्ण सुखों से सुखी स्त्रियों में इन्द्राणी से भी बढ़कर मेरी प्रमुखता आपकी कृपा से है किन्तु एक पुत्र के बिना हृदय को अंकुश की भाँति दुःखी करने वाला सब सुख अपूर्ण ही है ।

महारानी के इस कथन को सुनकर राजा विक्रमसिंह भी अत्यन्त दुःखी होते हैं—

इति प्रियाया वचनेन भूपतेर्मनोन्तरे दाव इवानिलाद्वने ।
अपुत्रता दुःखमवर्धताधिकं चकार चिन्तां स ततस्तदिच्छया ।।
विना विनीतने सुतेन गेहिनां कुलं गृहं शून्यमनूनदुःखदम् ।
क्रमेण नश्यन्ति च सर्वसम्पदः स्थिरं निरालम्बमहो न किंचन ।।
अनन्यसाधारणवैभवोद्भवैः सुखैः सदा दुर्ललितोऽपिमानवः ।
अपुत्रजन्मप्रभवाभिबाधितो न कोटराग्निर्विटपीव नन्दति ।।
वरं दरिद्रोऽपि सनन्दनो जनस्तदीक्षणानन्दतरङ्गि लोचनः ।
न शक्रतुल्योऽपि समृद्धिभिः परः परांमुखत्वेनविधेरनात्मजः ।।
जनेऽप्यपुत्रस्य गतिर्न विद्यते क्षयं प्रयाति क्रमशश्च कीर्तनम् ।
इति प्रवादः खलु दुःसहः सताम पुत्रिणां भूपविलोप्य सपदाम् ।।[2]

अर्थात् वन में वायु से दावाग्नि के समान प्रिया के वचन से राजा के मन में अपुत्रता का दुःख अत्यधिक बढ़ गया और वह उस (पुत्र) की इच्छा से अत्यन्त चिंतित हुआ । विनम्र पुत्र के बिना गृहस्थों का कुल और गृह शून्य तथा अत्यन्त दुःखद है क्योंकि क्रमशः सभी सम्पत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और कोई स्थिर निरालम्ब नहीं

---

१. जयन्तविजय, २/७, १७ ।
२. वही, २/२०-२४ ।

रहता । अपुत्रता के प्रभाव से पीड़ित मानव विशिष्ट वैभव से उत्पन्न सुखों से कोटर में स्थित अग्निवाले वृक्ष के समान कभी भी आनन्दित नहीं होता । पुत्र वाला दरिद्र भी मानव सन्तान के देखने के आनन्द से सुन्दर नेत्र वाला श्रेष्ठ है परन्तु भाग्य के विमुख होने से सन्तानहीन प्राणी सब प्रकार की सम्पत्तियों से युक्त भी तिनके के समान भी नहीं है अर्थात् अत्यन्त निकृष्ट है । लोगों में भी अपुत्रवाले की गति नहीं है क्योंकि क्रमशः उसका नाम भी क्षीण हो जाता है, इस प्रकार हे भूप ! अपुत्री सज्जनों की भी सम्पत्तियों को देखकर फैलने वाला प्रवाद असहनीय है । (अर्थात् उनकी सम्पत्ति निरवंशियों की सम्पत्ति मानी जाती है ।)

इस प्रकार दोनों कवियों के काव्य के भावों में पर्याप्त साम्य है क्योंकि दोनों काव्यों में नायक की उत्पत्ति के लिए उनके माता-पिता दुःखी हैं तथा वर्णन शैली भी दोनों कवियों की एक ही समान है ।

'चन्द्रप्रभचरित' महाकाव्य में चन्द्रप्रभ के जन्म के समय दिशाओं का प्रसन्न-स्वच्छ होना एवं शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु का प्रवाहित होना वर्णित है—

ककुभः प्रसेदुरजनिष्ट निखिलममलं नभस्तलम् ।
तस्य जननसमये पवनः सुरभिर्ववौ सुरभयन्दिगङ्गनाः ।।[१]

अर्थात् उस बालक चन्द्रप्रभ के जन्म के समय दिशाएँ और समस्त आकाश निर्मल हो गया । दिशारूपी अंगनाओं को सुवासित करती हुई हवा चलने लगी ।

कवि वीरनन्दि के इसी भाव को लेकर कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में जयन्त के जन्म के समय का विश्लेषण किया है—

दिशः प्रसन्नाः शरदीव नद्यो वातास्तदामोदभृतो जनाश्च ।
बभूवरभ्रे सुरदुन्दुभीनां पयोदनादप्रतिमा निनादाः ।।[२]

अर्थात् दिशाएँ निर्मल हो गयीं, शरद् ऋतु के समान नदियाँ भी निर्मल हो गयीं, शुद्ध वायु प्रवाहित होने लगी तथा पुत्रजन्म के अवसर पर लोग प्रसन्न हो गये और आकाश से देवताओं के नगाड़े का शब्द मेघ के सदृश होने लगा ।

यद्यपि कवि अभवदेव द्वारा प्रस्तुत यह वर्णन पारम्परिक है क्योंकि कवि-कुल गुरु कालिदास ने भी अपने रघुवंश (३/१४) महाकाव्य में रघु के जन्म के समय इसी प्रकार के मांगलिक वातावरण का दृश्य प्रस्तुत किया है किन्तु आचार्य वीरनन्दि भी कवि अभयदेव के पूर्ववर्ती होने के साथ ही जैन सम्प्रदाय के कवि हैं । अतः कवि अभयदेव की दृष्टि कालिदास के अतिरिक्त अपने सम्प्रदाय के कवि वीरनन्दि द्वारा रचित 'चन्द्रप्रभचरित' 'महाकाव्य पर अवश्य पड़ी होगी अतः उन्होंने जयन्त के जन्म के अवसर पर उन्हीं भावों को उसी रूप में ग्रहण कर लिया होगा ।

---

१. चन्द्रप्रभचरित, १७/२ । २. जयन्तविजय, ६/८० ।

इसी प्रकार कवि वीरनन्दि युद्धस्थल का सजीव चित्रण करते हुए लिखते हैं—

जज्ञे　　मांसोपदंशासृगासवोन्मत्तचेतसाम् ।
डाकिनीनां नटन्तीनां　कबन्धैर्नाट्यसूरिभिः ॥[१]

अर्थात् रणभूमि में रक्त की नदी प्रवाहित हो रही है। उसमें जड़ से कटी हुई हाथियों की सूँड़ें मगर सी तैर रही हैं। कच्चे मांस के साथ रक्तरूप आसव का यथेच्छ पान कर उन्मत्त हुई डाकिनियाँ नृत्य कर रही हैं। रणभूमि में पड़े हुए कबन्ध वहाँ नाट्याचार के समान जान पड़ते हैं।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि अभयदेव ने भी इसी भाव को लेकर कुछ इसी प्रकार वर्णन किया है।

यथा—

रथाङ्गधीरध्वनिनादमुद्यत्प्रहार　कूजत्करि　कण्ठनादम् ।
नृत्यत्कबन्धं समराङ्गणं　तत्कृतान्तसंगीततुलां　प्रपेदे ॥[२]

अर्थात् वह युद्धस्थल रथ के पहिये की गम्भीर ध्वनि के शब्द वाला और प्रवृत्त प्रवाह से कूजन करने वाले हाथियों के कण्ठनाद से युक्त और कबन्ध को नर्तित कराने वाला यमराज की संगीतशाला के समान प्रतीत हुआ।

यहाँ पर भी दोनों कवियों के भावों में साम्य है किन्तु कवि अभयदेव ने युद्धस्थल को यमराज की संगीतशाला के सदृश बताकर अपनी मौलिकता की रक्षा की है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि अभयदेव ने अपने पूर्ववर्ती कवि वीरनन्दि द्वारा रचित 'चन्द्रप्रभचरित' महाकाव्य का भी अवलोकन किया था। अतः उनके 'जयन्त-विजय' महाकाव्य पर 'चन्द्रप्रभचरित' महाकाव्य की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है।

महासेन

महाकवि महासेन विरचित 'प्रद्युम्नचरित' महाकाव्य का भी जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रमुख स्थान है। इनका समय दसवीं शती का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया गया है। महाकाव्य के वस्तु व्यापार एवं वर्णन शैली के आधार पर ज्ञात होता है कि कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य की रचना के पूर्व इस महाकाव्य का भी अवलोकन किया था।

---

१. चन्द्रप्रभचरित, १५/५३।
२. जयन्तविजय, १४/७०।

यथा—

तीर्थैरनेकैर्जिनपुङ्गवानां पुण्योऽस्ति तस्मिन् विषयः सुराष्ट्रः ।
स्वर्गैकदेशः पतितः पृथिव्यां यद्वन्निरालम्बतया विभाति ।।
सहस्रसंख्यैः सितरक्तनीलैः सरांसि यस्मिञ्जलजैर्विरेजुः ।
कुतूहलेनेव मदीय लक्ष्मीं द्रष्टुं समेतैः सुरराजनेत्रैः ।।
फलावनम्राः सरसा कुलीनाः प्रसूनगन्धैः सुरभीकृताशाः ।
वनश्रियो यत्र मुदे जनानां पौराङ्गनाश्चाप्रमिता विभान्ति ।।[१]

अर्थात् जहाँ की भूमि श्रेष्ठ जिनेन्द्रों के अनेक तीर्थों के द्वारा पवित्र हो गयी थी ऐसा सुराष्ट्र नाम का देश भारतवर्ष में है । यह देश पृथ्वी में स्वर्ग से च्युत एक खण्ड के समान निरालम्ब रूप से सुशोभित होता है तथा जिस देश के सरोवरों में श्वेत, रक्त और नील वर्ण के सहस्रों कमल विकसित हो सुशोभित हो रहे थे । उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता था, मानो इन्द्र के सहस्र नेत्र कुतूहल के कारण इस देश की लक्ष्मी को देखने के लिए प्रस्तुत हों और जहाँ के वनों में वृक्ष फलों से नम्रीभूत रहते हैं और पक्षी उन पर चहचहाते रहते हैं । सुगन्धित पुष्पों की गन्ध से दिशाएँ सुरभित रहती हैं । वनश्री पुरुषों को आनन्दित करती रहती है तथा अगणित पौरांगनाएँ जहाँ सुशोभित होती रहती हैं ।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि अभयदेव ने भी मगध देश की समृद्धता का वर्णन इसी प्रकार किया है—

मध्येऽखिलद्वीपसमुद्रसौधं चञ्चत्सुवर्णाद्रिशिखावतंसः ।
दीपप्रदीपप्रतिमोऽस्ति जम्बूद्वीपः सदालोकविलासलक्ष्मीः ।।
तस्यावतंसे भरताभिधाने क्षेत्रेऽस्ति देशो मगधाभिधानः ।
कल्याणवृन्दै रुचिराङ्गहारैरिवानिशं नृत्यति यत्र लक्ष्मीः ।।
यत्रत्यकान्तानयनोत्पलश्री निरस्तशोभान्यसितोत्पलानि ।
इतीव तापात्सरसां जलेषु लुलन्तिमन्दानिलशीतलेषु ।।
सरोवरैर्यत्र भुवो विभान्ति सरोवराणि स्मितपद्मखण्डैः ।
तैः पद्मखण्डानि च राजहंसैः स्वै राजहंसाः सुगतिप्रचारैः ।।
हस्तैरिवोच्चैस्तरवः पलाशैश्छायां दधानाः फलसंपदा च ।
पथ्यङ्गिनां पथ्यदनाय यत्र स्वबन्धुबुद्ध्येव भवन्ति भूयः ।।[२]

अर्थात् सज्जनों के आलोक के विलास लक्ष्मी वाला, चमकने वाले सुमेरु पर्वत की शिखा के समान, प्रदीप्त दीप की शिखा के समान, सारे द्वीपों के समुद्र में

१. प्रद्युम्न चरित, १/७, ८ तथा १० ।
२. जयन्तविजय, १/२५-२७, ३०-३१ ।

सुधा के समान जम्बू द्वीप मध्य में स्थित है। उस जम्बू द्वीप के अवतंस (क्रोड) में भारतवर्ष के नाम वाले क्षेत्र में मगध नाम का देश है जहाँ पर सुन्दर अंगहारों द्वारा कल्याण परम्पराओं से रात-दिन लक्ष्मी नृत्य किया करती हैं। जहाँ की स्त्रियाँ नेत्र कमलों की सुन्दरता से नीलकमलों को भी तिरस्कृत करती हुई मन्द-मन्द वायु से शीतल तालावों के जलों में ताप के कारण स्नान करती हैं। जहाँ पर पृथ्वी सरोवरों से, सरोवर विकसित पद्मखण्डों से, वे पद्मखण्ड राजहंसों से और वे राजहंस अपनी सुगति के प्रचार से सुशोभित होते हैं तथा जहाँ पर अनेक तरुवर बड़े-बड़े पत्तों रूपी हाथों से फल की सम्पत्ति को दान करते हुए शरीरधारियों को खाने के लिए प्रत्येक मार्ग में अपने कुटुम्बी की बुद्धि से स्थित हैं।

यहाँ पर दोनों ही स्थलों में भाव साम्य होने के साथ ही वर्णन शैली में समानता है। इसी प्रकार युद्धस्थल का वर्णन करते हुए महाकवि महासेन लिखते हैं—

> शैलेन्द्राभैः पातितैः कुञ्जरौघैर्दुःसंचारैः स्यन्दनैश्चापि भग्नैः।
> भल्लूकानां फेत्कृतेरन्त्रभूषैर्वेतालैस्तद्भीममासीन्नटद्भिः॥[1]

अर्थात् पर्वत के समान विशालकाय हाथियों के गिरने से, टूटे हुए रथों के कठिनाईपूर्वक चलने से, भालुओं के फेकरने से एवं भीमकाय नाचते हुए वेतालों से वह रणस्थली भयानक प्रतीत हो रही थी।

जयन्तविजय महाकाव्य में कवि अभयदेव द्वारा भी कुछ इसी प्रकार के भाव व्यक्त हुए हैं—

> मृतककोटिकरालकलेवर प्रचुर दुःसहगन्धभरावहे।
> अभिमुखागतगन्धवहैर्मुहुर्यदतिदूरविवर्त्यपि सूच्यते॥
> मिलदसंख्यशिवाकृतफेत्कृतैर्यदसुकम्पकृद्द्वितमूर्द्धजम्।
> अधिकघूकघनार्तिदघूत्कृतैः स्खलितकातरजन्तुगतागति॥[2]

अर्थात् करोड़ों मृतकों की दुस्सह गन्ध भरी रहने से दूर से ही श्मशान भूमि की सूचना मिल जाती थी। असंख्य शृगाल, भूत-पिशाच, डाकिनी आदि मांस, चर्बी, रक्त आदि का भक्षण कर आनन्दानुभूति का अनुभव कर रहे थे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य की रचना के पूर्व महाकवि महासेन विरचित 'प्रद्युम्नचरित' महाकाव्य का अवलोकन अवश्य किया था।

---

१. प्रद्युम्नचरित, १०/१६।
२. जयन्तविजय, ४/६-१०।

असग

महाकवि असग 'वर्धमानचरित' महाकाव्य के रचयिता हैं। इनका समय ई० सन् की दशवीं सदी है। 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर प्रस्तुत महाकाव्य का प्रभाव भी स्पष्ट है।

यथा—

जंघामृदुत्वेन हता नितान्तं विसारतां सत्कदली प्रयाता।
पयोधराभ्यां विजितं च यस्या मालूरमास्ते कठिनं बनान्ते ।।
यद्वक्त्रसंस्थानमनाप्य शोभां शशी समग्रोऽपि कलङ्कितोऽभूत।
प्रभिन्नमातङ्गगतेस्तु तस्याःकेनोपमानं समुपैति कान्तिः ।।[1]

अर्थात् श्रेष्ठ कदली वृक्ष उसकी जंघाओं की मृदुता के समक्ष लज्जित होकर ही निस्सारता को प्राप्त हो गया है। अत्यन्त कठोर बेल उसके पयोधरों से जीते जाने के कारण ही वन में निवास करने लगा है। पूर्णचन्द्र इसके मुख की शोभा को न पाने से कलङ्कित हो रहा है। ऐसा कौन पदार्थ है, जो मदोन्मत्त गज की गति को तिरस्कृत करने वाली इस रमणी की कान्ति से अपमान को प्राप्त न हुआ हो।

अपि च—

अपास्तपद्मा कमलेव कान्तिर्गृहीतमूर्तिः स्वयमागतेव।
रतिः स्मरस्येव बभूव देवी मनोहराङ्गी कनकादिमाला ।।[2]

अर्थात् यह सुन्दर नीलकमल उसके नेत्र कमलों के आकार को न पाकर लज्जित होकर मानरहित हो गया है अतएव पश्चात्तापजन्य सन्ताप को दूर करने की इच्छा से ही अगाध सरोवर में रहने लगा है।

महाकवि असग द्वारा वर्णित यही भाव 'जयन्तविजय' महाकाव्य में भी दर्शनीय है--

हारिणीं क्रमगतिं हरिणाक्ष्याः शिक्षितुं सुचिरमभ्यसनेऽपि।
केलिहंसललना न शशाक स्वल्पधीः खलु जलाशय योगात् ।।
रामणीयकमनंकुशमस्या जङ्घयोरनघयोरवलोक्य।
नूनमुद्गतपराभवदुःखा सस्रुरेणललना वनवासम् ।।[3]

अर्थात् इस मृगनैनी के मनोहारी पैरों की गति को सीखने के लिए चिरकाल से अभ्यास करने पर कम बुद्धि वाली हंस ललना जलाशय योग के कारण समर्थ नहीं हो सकी तथा इसकी सुन्दर रोमरहित निरंकुश जङ्घाओं की रमणीयता को देखकर

१. वर्धमानचरित, ५/१८-२०।
२. वही, ५/१७।
३. जयन्तविजय, १३/१८-१९।

ऐण ललना (मृगी) ने पराभव के दुःख के उत्पन्न होने के कारण वनवास का आश्रय लिया।

यहाँ पर दोनों कवियों के वर्णन में भाव साम्य स्पष्ट ही है क्योंकि कवि असग की दृष्टि में यदि श्रेष्ठ कदली वृक्ष नायिका की जङ्घाओं की मृदुता के समक्ष लज्जित होकर निस्सारता को प्राप्त होता है। कठोर बेल नायिका के पयोधरों से जीते जाने के कारण वन में निवास करने लगता है तथा पूर्ण चन्द्र उसके मुख की शोभा न पाने के कारण कलङ्कित हो जाता है तो कवि अभयदेव की भी दृष्टि में हंस ललना जलाशय के योग के कारण नायिका की गति से तिरस्कृत हो जाती है और ऐण ललना (मृगी) उसकी रोम रहित निरंकुश जङ्घाओं की रमणीयता को देखकर पराभव के दुःख के कारण दुःखी होकर वनवास का आश्रय ले लेती है।

वादिराज

संस्कृत जैन कवियों में वादिराज का भी प्रमुख स्थान है। इनका समय ईस्वी सन् की ११वीं सदी है। 'पार्श्वनाथ चरित' इनका प्रमुख महाकाव्य है। 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर इस काव्य की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। यथा—

> वनितानयनाभिरामलीलागुणचौर्यादिव दोषतो जनान्तः।
> अभिशङ्क्य न शिश्रिये कुरङ्गैः प्रविमुच्यापि वनं दवाग्निभीत्या ॥[१]

अर्थात् दावाग्नि के भय से भागने वाले हिरणों के चित्रण में कवि कल्पना की ऊँची उड़ान भरता हुआ कहता है कि इन हिरणों ने नगर की रमणियों के नेत्र-सौन्दर्य को चुरा लिया है, अतएव ये पकड़े जाने के भय से नगरों में नहीं जाते। यही वन में इधर-उधर भागते रहते हैं।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में कवि अभयदेव ने भी इसी प्रकार वर्णन किया है—

> रामणीयकमनंकुशमस्या जङ्घयोरनघयोरवलोक्य।
> नूनमुद्गतपराभवदुःखा सस्रुरेणललना वनवासम् ॥[२]

अर्थात् इस (नायिका) की सुन्दर रोमरहित निरंकुश जङ्घाओं की रमणीयता को देखकर ऐण ललना (मृगी) ने पराभव के दुःख के उत्पन्न होने के कारण वनवास का आश्रय लिया।

यहाँ पर दोनों कवियों के वर्णन में पर्याप्त भाव साम्य है क्योंकि कवि वादिराज की कल्पना में हिरणों ने नगर की रमणियों के नेत्रों का सौन्दर्य चुरा लिया

---

१. पार्श्वनाथ चरित, ५/७०।
२. जयन्तविजय, १३/१६।

है अतः उन्हें भय है कि हमें पकड़ न लिया जाय। इस लिए वे वन में इधर-उधर भागते रहते हैं। जबकि कवि अभयदेव की कल्पना में ऐण ललना (मृगी) स्वयं ही नायिका की रोमरहित सुन्दर जङ्घाओं से परास्त होने के दुःख से दुःखी होकर वन में निवास करने लगी है। अतः दोनों कवियों के वर्णन में भाव साम्य स्पष्ट ही है।

हरिश्चन्द्र

'धर्मशर्माभ्युदय' महाकवि हरिश्चन्द्र की रचना है। इनका समय ई० सन् की १०वीं शती है। 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर इस महाकाव्य का प्रभाव भी यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। यथा—

> तन्नूनं प्रियविरहार्त चक्रवाक्याः कारुण्यान्निशि रुदितं घनं नलिन्या।
> यत्प्रातर्जललवलाञ्छितारुणानि प्रेक्ष्यन्ते कमलविलोचनानि तस्याः॥[1]

अर्थात् पति के विरह से दुःखी चकवी पर दया आने से कमलिनी मानो रात भर खूब रोती रही है, इसीलिए उसके कमलरूपी नेत्र प्रातःकाल के समय जल-कणों से चिह्नित एवं लाल-लाल दिखाई दे रहे हैं।

यहाँ पर कवि ने प्रकृति पर मानवीय व्यापारों का आरोप करने के साथ ही मानवीय भावनाओं का भी आरोप किया है। 'जयन्तविजय' में भी इसी प्रकार

> अध्वगप्रणयिनीषु दुर्दशां वीक्ष्यते करुणयेह मल्लिका।
> रोदतीव विपुलाश्रुभिर्भृशं स्पन्दमानमकरन्द बिन्दुभिः॥[2]

अर्थात् टपकते हुए मकरन्द विन्दु वाली विपुल आँसुओं से रोती हुई मल्लिका लता ने पथिकों की कामिनियों को करुणापूर्वक देखा।

यहाँ पर कवि अभयदेव ने भी प्रकृति का मानवीकरण किया है। मल्लिका पुष्पों से निकलने वाला मकरन्द ऐसा प्रतीत होता है मानो पथिकों की प्रियाओं की करुणापूर्ण दुरवस्था को देखकर वह आँसुओं द्वारा अपने हृदय की व्यथा को प्रकट कर रही है। कोई व्यक्ति विशेष किसी की दुरवस्था को देखकर करुणा से द्रवित हो जाता है, आँखों से आँसुओं की धारा फूट पड़ती है। यहाँ मल्लिका पुष्प का रोना उसका मानवरूप है।

अतः स्पष्ट है कि यदि हरिश्चन्द्र की दृष्टि में कमलिनी, पति के विरह से दुःखी चकवी पर दया आने के कारण रो रही है तो कवि अयभदेव की दृष्टि में भी मल्लिका लता, पथिकों की प्रियाओं की करुणापूर्ण दुरवस्था को देखकर दया आने के कारण आँसुओं को गिरा रही है। अतः दोनों कवियों के वर्णन में भाव साम्य स्पष्ट ही है।

---

१. धर्मशर्माभ्युदय, १६/२०। २. जयन्तविजय, ७/४०।

अपि च—

निःसीमरूपातिशयो ददर्श प्रदह्यमानागुरुधूपवर्त्या ।
मुखं न केषामिह पार्थिवानां लज्जामषीकूर्चिकयेव कृष्णम् ॥[१]

अर्थात् धर्मनाथ के लोकोत्तर रूपातिशय को देख जलती हुई अगरु-धूप-बत्तियों से किस राजा का मुख लज्जारूपी स्याही की कूची से मानो काला नहीं हुआ। भाव यह है कि धर्मनाथ के लोकोत्तर रूपातिशय को देखकर स्वयंवर में पधारे हुए राजाओं के मुँह पर निराशा होने के कारण कालिमा छा गयी।

'जयन्तविजय' महाकाव्य के षोडश सर्ग में कवि अभयदेव ने भी रतिसुन्दरी के स्वयंवर का वर्णन भी इसी प्रकार किया है—

यैःपुरा स्फुरदुरुप्र भरा द्राजभिः सदसि भास्करायितम् ।
श्रीजयन्तयुवराज्यसंनिधौ ते दधुर्दिनविधूपमेयताम् ।[२]

अर्थात् पहले बढ़ी हुई विशिष्ट प्रभा के भार से जिन राजाओं ने सूर्य की उपमेयता को प्राप्त किया था वे ही श्री जयन्त युवराज के समीप दिन में चन्द्रमा की उपमेयता को प्राप्त हुए। यहाँ पर भी भाव वही है कि स्वयंवर में पधारे हुए राजाओं की कान्ति श्री युवराज जयन्त के लोकोत्तर रूपातिशय को देखकर निराशा के कारण धूमिल पड़ गयी।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि कवि अभयदेव ने अपने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में यत्र-तत्र हरिश्चन्द्र विरचित 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य के भावों को ग्रहण किया है किन्तु दोनों कवियों द्वारा वर्णित उपमाओं में निजी विशेषता है।

जिनपाल उपाध्याय

संस्कृत जैन कवियों में जिनपाल उपाध्याय का भी प्रमुख स्थान है। इनका समय तेरहवीं शती है। ये 'जयन्तविजय' महाकाव्य के रचयिता कवि अभयदेव सूरि के समवर्ती हैं। अतः समसामयिक होने के कारण दोनों कवियों का एक दूसरे की रचना पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यथा—

रंभा किमेषा त्रिदिवावतीर्णा किं वा रतिः प्रोज्झितभर्तृसङ्गा ।
लक्ष्मीरुताहो ! हरिविप्रयुक्ता, शम्भौ सकोपा किमु पार्वती वा ॥[३]

अर्थात् क्या यह स्वर्ग से अवतीर्ण हुई रम्भा है अथवा पति का साथ छोड़े हुए रति है अथवा विष्णु से विमुक्त लक्ष्मी है अथवा शङ्कर के क्रोधित होने पर यह पार्वती भ्रमण कर रही हैं।

---

१. धर्मशर्माभ्युदय, १७/५।
२. जयन्तविजय, १६/२६।
३. सनत्कुमार चरित, १/७०।

जयन्तविजय महाकाव्य में वर्णित यही भाव एवं शैली दर्शनीय है—

पर्वतेकिमिह पर्वतपुत्री पर्वतश्रियमवेक्षितुमागात् ।
किं रतिः किमु रमा खलु नैव मर्त्यलोकललनैव निमेषात् ।।[1]

अर्थात् क्या यहाँ इस पर्वत पर पर्वतपुत्री पर्वत की सुन्दरता को देखने के लिए आयी है या रति है अथवा रमा है । नहीं, निमेष के कारण यह मृत्युलोक की ललना है ।

इस प्रकार कवि अभयदेव ने अपने पूर्ववर्ती अनेक कवियों के काव्यों का अध्ययन किया था अतः उनका प्रभाव इन पर होना स्वाभाविक है । किन्तु अनेक स्थलों पर अनेक वर्णन पारम्परिक है अतः यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि कवि ने उस स्थल पर किस महाकाव्य के भावों को ग्रहण किया है । इसीलिए यहाँ पर उन समस्त कवियों के उन वर्णनों को उल्लेख किया गया है जिनका प्रभाव 'जयन्त-विजय' महाकाव्य पर परिलक्षित होता है ।

जयन्तविजय महाकाव्य का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

महाकवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य का प्रभाव उनके बाद में होने वाले कवियों तथा उनके काव्यों पर भी पड़ा । जिनमें से कुछ कवियों के नाम यहाँ विशेष उल्लेखनीय हैं ।

अर्हद्दास

महाकवि अर्हद्दास 'मुनिसुव्रत' काव्य के रचयिता हैं । इनका समय चौदहवीं शताब्दी का पूर्वभाग है । अतः ये जयन्तविजयकार महाकवि अभयदेव सूरि के परवर्ती कवि हैं । महाकवि अभयदेव सूरि ने अपने जयन्तविजय महाकाव्य के आरम्भ में ही मगध देश का वर्णन कर उसकी व्यापक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है । यथा

सरोवरैर्यत्र भुवो विभान्ति सरोवराणि स्मितपद्मखण्डैः ।
तैः पद्मखण्डानि च राजहंसैः स्वै राजहंसाः सुगतिप्रचारैः ।।
प्रीतिं परां यत्र नयन्ति लोकं सरांसि चेतांसि च सज्जनानाम् ।
अदृष्टपर्यन्ततया श्रितानि गम्भीरतान्यक्कृतवारिधीनि ।।
यत्राभिरामाणि विशालशालिक्षेत्राणि संरक्षितुमीयुषीणाम् ।
गोपाङ्गनानां मधुरोपगीतैः कृच्छ्राद्युवानः पथि यान्ति पान्था ।।[2]

अर्थात् जहाँ की पृथ्वी सरोवरों से, सरोवर विकसित पद्मखण्डों से, वे पद्म-

१. जयन्तविजय, १३/१२ ।
२. वही, १/३०, ३७-३८ ।

खण्ड राजहंसों से और वे राजहंस अपनी सुगति के प्रचार से सुशोभित होते हैं। जहाँ पर गम्भीरता में वारिधि को भी तिरस्कृत करने वाले अदृष्ट पर्यन्त सरोवर सज्जनों के हृदय को संसार में परम प्रीति को पहुँचाते हैं तथा जहाँ पर मनोहर विशाल धान के खेतों की रक्षा करने वाली गोपिकाओं के मधुर गीतों से तरुण पथिक मार्ग में जाते हैं।

कवि अभयदेव के इसी वर्णन की छाया महाकवि अर्हद्दास के मुनिसुव्रत काव्य पर परिलक्षित होती है क्योंकि कवि अर्हद्दास ने भी अपने महाकाव्य के आरम्भ में मगध देश का वर्णन इसी प्रकार किया है—

नगेषु यस्योन्नतवंशजाता: सुनिर्मला विश्रुतवृत्तरूपा: ।
भव्या भवन्त्याप्तगुणाभिरामा मुक्ता: सदालोक शिरोविभूषा ।।
विभान्ति सस्यान्तरितानि यस्मिन हेमारविन्दानि मधूल्वणानि ।
आपाययन्त्या इव शालिपुत्रानात्तानि धात्र्या करसेचनानि ।।[१]

अर्थात् यहाँ पर भी कवि ने मगध देश के उत्तरी भाग में फैले हुए पर्वत और उन पर विद्यमान वंश वृक्ष-समूह तथा मध्यवर्ती भाग में लहलहाते हुए जलपूर्ण खेतों में उत्पन्न रक्तकमलों का वर्णन करके मगध देश की प्रमुख विशेषताओं को उभारने का प्रयत्न किया है।

यहाँ पर दोनों ही कवियों ने मगध देश का वर्णन किया है। अत: वस्तु वर्णन में प्रर्याप्त साम्य है। इसके साथ ही दोनों कवियों की वर्णन शैली में भी पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है।

इसी प्रकार कवि अर्हद्दास ने पुरुष सौन्दर्य के चित्रण में शारीरिक सौन्दर्य की ओर ध्यान न देकर आन्तरिक सौन्दर्य के उद्घाटन की ओर विशेष ध्यान दिया है। महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में सुमित्र के व्यक्तित्व के चित्रण में उनके शौर्य की अभिव्यक्ति इस प्रकार की गयी है—

प्रयाणभेरीश्रवणेन यस्य पलायमानानरिभूमिपालान् ।
पदाभिघाताक्षमयैवसद्य: प्रकाशयाभास समीरकेतु: ।।
येनासिना युद्ध शिरस्यरीणां साङ्गच्छिदे वर्म्मणि रक्तधारा ।
विनिर्यती तेन यथा व्यराजीदुद्भूतकोपाग्नि शिखेव तेषाम् ।।[२]

कवि के इस वर्णन पर जयन्तविजय महाकाव्य के अग्रलिखित श्लोकों की छाया स्पष्ट है—

१. मुनिसुव्रत काव्य, १/२४,३०।
२. वही, २/४-५।

यस्याहवे वैरि करीन्द्र कुम्भस्थलीगलत्तारकरम्बिताङ्गः ।
रेजे कृपाणोऽरिकुलं जिगीषोर्यमस्य जिह्वेवसदन्तपंक्तिः ।।
यस्यासिलूना चिरराजजन्यक्षेत्रेषु वैरिद्विपदन्तपंक्तिः ।
कीलालसिक्तेषु यशस्तरूणामुद्गच्छतामंकुरमालिकेव ।।[१]

अर्थात् जिसके युद्ध में अरिकुल को जीतने के लिए वैरियों के गजों के मस्तक पर गिरने से रक्तरंजित हाथ वाला कृपाण यम की दंतपंक्ति से युक्त जिह्वा की भाँति सुशोभित हुआ तथा जिसकी तलवार से कटकर वैरियों के हाथियों की दंतपंक्ति बादल उत्पन्न आकाश में पानी से भीगने पर, ऊपर निकलने वाली यशरूपी तरुओं के अंकुर की भाँति सुशोभित हुई ।

यहाँ पर भी भाव साम्य के साथ ही वर्णन शैली में भी समानता है । इसी प्रकार कवि अर्हद्दास रानी पद्मावती, जो सब प्रकार से सुखी होने पर भी पुत्र के अभाव में दुःखी रहती है, का चरित्र-चित्रण करते हुए लिखते हैं—कि एक दिन क्रीड़ासक्त कलहंसवधू को गर्भवती देखकर उसका पुत्र के अभाव का शोक बढ़ जाता है और वह अपने जन्म को ही निरर्थक मानने लगती है —

आपुष्पिताऽपि विफलेव रसालयष्टिः सेनेव नायकगताऽपि जयेन शून्या ।
काले स्थिताऽपि घनराजिरवर्षणेव मिथ्या दधामि हत कुक्षिमदृष्टतोका ।।[२]

'मुनि सुव्रत काव्य' के इस श्लोक पर जयन्तविजय महाकाव्य के निम्नलिखित श्लोक का प्रभाव स्पष्ट है क्योंकि यहाँ पर भी रानी प्रीतिमती शिशुगज के साथ सरोवर में क्रीड़ा करती हुई करिणी को देखकर अपनी अपत्यहीनता की स्मृति से दुःखी हो जाती है और अपने जीवन को निरर्थक मानने लगती है—

नभस्थलीव द्युतिमद्विना कृता निशेव शीतद्युतिमण्डलोज्झिता ।
महौषधीवोन्मदवीर्यवर्जिता न सूनुहीना वनिता प्रशास्यते ।।[३]

अर्थात् सूर्य के बिना आकाश, चन्द्रमा के बिना रात्रि, विशिष्ट शक्ति के बिना औषधि के समान सन्तानहीन स्त्री की प्रशंसा नहीं होती ।

'मुनिसुव्रत' काव्य में वर्णित राजा सुमित्र स्नेहिल पिता है । पुत्रजन्म का शुभ सम्वाद सुनते ही वे हर्षोन्मत्त होकर अपने शरीर के सभी आभूषण दे डालते हैं—

कुमार जन्मादिभवार्तिकत्राकृताङ्गभूषो हृषितः क्षितीन्द्रः ।
विधूतपत्रोद्गतकोरकस्य विधामधान्नीपतरोर्मुहूर्तम् ।।[४]

कवि अर्हद्दास द्वारा वर्णित इस श्लोक पर भी 'जयन्तविजय महाकाव्य के अग्रलिखित श्लोक की छाया स्पष्ट है —

१. जयन्तविजय, १/६१-६२ ।
२. मुनिसुव्रतकाव्य, ३/२ ।
३. जयन्तविजय, २/२ ।
४. मुनिसुव्रतकाव्य, ४/२१ ।

पीवेतिवाचं श्रुतिशुक्तिकाभ्यां सुधाभिवासां विदधे प्रसादम् ।
स स्वर्णवस्त्रैर्मणिभूषणैश्च कन्दैरिवैश्वर्यमहाद्रुमस्य ।।

अर्थात् कर्णसुक्तिकों से वन्दियों की (पुत्रजन्म से सम्बन्धित) अमृतमयी वाणी को सुनकर परम प्रसन्न हुए (राजा विक्रमसिंह ने) ऐश्वर्य महाद्रुम से कन्द की भाँति वस्तु, सुवर्ण, मणि और आभूषण आदि देकर इन लोगों को प्रसन्न किया।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में वर्णित राजा जयन्त एक आदर्श राजा हैं। उनके राज्य में मेघ समय पर वर्षा करते हैं और जनता इति-भीति के डर से मुक्त दीख पड़ती है—

तस्मिन्मही पालयति क्रमाप्तां न यांचिते पंचमलोकपाले ।
ववर्ष काले जलदः समस्तप्रशस्यसस्योद्गममूलबीजम् ।।

अर्थात् उस राजा के क्रम से पृथ्वी के प्राप्त होने पर नीति से पाँचवें लोकपाल के समान समय पर जलद सब प्रकार के प्रशंसनीय धान्य के उत्पन्न करने के मूल बीज (जल) को बरसाता था।

'जयन्तविजय' महाकाव्य के इस श्लोक का प्रभाव भी मुनिसुव्रत काव्य के निम्नलिखित श्लोक पर स्पष्ट है, क्योंकि वहाँ पर भी वर्णित मुनिसुव्रत एक आदर्श नृप हैं। उनके राज्य में भी सभी सुखी हैं और ईति-भीति के भय से मुक्त दीख पड़ते हैं—

जिनेऽवनीं रक्षति सागरान्तां नयप्रतापद्वयदीर्घनेत्रे ।
कस्यापि नासीदपमृत्युरीतिः पीडा च नाल्पाऽपि बभूव लोके ।।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य का प्रभाव परवर्ती काव्य 'मुनिसुव्रत' पर पड़ा।

वर्द्धमान

महाकवि वर्द्धमान विरचित 'वराङ्गचरित' महाकाव्य का जैनसंस्कृत महाकाव्यों में प्रमुख स्थान है। इनका समय ई० सन् की चौदहवीं सदी है। जयन्तविजय महाकाव्य की इस महाकाव्य पर भी छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है क्योंकि कवि वर्द्धमान सज्जन प्रशंसा एवं दुर्जन निन्दा करते हुए लिखते हैं—

कृते कवित्वे कविभिर्मनोहरे न याति तोषं भुवि दुर्जनो जनः ।
अणुप्रमाणेऽपि गुणेऽपि सज्जनास्तथापि तुष्यन्ति ततः करोम्यहम् ।।[1]

अर्थात् कवियों द्वारा रचित सुन्दर रचना में दुष्ट व्यक्ति सन्तोष को नहीं

१. वराङ्ग चरित, १/१०।

प्राप्त करता है किन्तु सज्जन व्यक्ति उस रचना में अणु के समान भी गुण को पाकर सन्तोष को धारण करते हैं। अतः उन्हीं सज्जनों को मैं सन्तुष्ट करता हूँ।

कवि अभयदेव ने भी इसी प्रकार अपने जयन्तविजय महाकाव्य से सज्जनों की प्रशंसा एवं दुर्जनों की निन्दा की है—

अभ्यर्थितः सोऽपि यशोविलासलास्याय काव्यस्य धुनोति दोषम्।
समुद्धरत्येव हि वैद्यराजः शल्यं तनोः सौख्यकृते कृतार्थः ॥[१]

अर्थात् सज्जन कवि यशोविलास की प्राप्ति के लिए इच्छुक होकर काव्य के दोषों का निराकरण कर देता है क्योंकि सफल वैद्य शरीर के सुख के लिए काँटे को निकाल देता ही है।

किन्तु—

न दुर्जनस्यानुनयो गुणाय स्वभावदौर्जन्यमलीमसस्य।
सुगन्धिलक्षैरपि किं सुगन्धी कर्तुं हि शक्यं लशुनं कदापि ॥[२]

अर्थात् स्वभाव से दुर्जनता एवं मलिनतापूर्ण दुर्जन का अनुभव भी गुण के लिए नहीं होता क्योंकि हजारों सुगन्धियों से पूर्ण लहसुन को क्या कभी सुगन्धित किया जा सकता है। अर्थात् नहीं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दोनों ही कवियों ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में सज्जनों की प्रशंसा तथा दुर्जनों की निन्दा की है।

अचि च—

व्रणोत्थशोणितेनाभूत्पृथिव्यां शोणितार्णवः :
यत्रेभपादखण्डानि कच्छपोपमतां ययुः ॥
मकराकरतामी युश्छिन्नाश्च करिणां कराः।
पिशाचकाकगृध्राश्च कुक्कुटाः पिशिताशिनः ॥
विचेरुस्तत्र सानन्दाः पलास्वादनलम्पटाः ॥[३]

अर्थात् यहाँ भाव यह है, कि मांसाहारी काक, गृध्र आदि पक्षी समरभूमि में आनन्दपूर्वक विचरण कर रहे हैं।

कवि वर्द्धमान द्वारा वर्णित समरभूमि के इस स्थल पर जयन्तविजय महाकाव्य के निम्नलिखित श्लोकों का प्रभाव स्पष्ट है—

मृतक कोटि कराल कलेवरप्रचुरदुःसह गन्धभरावहे।
अभिमुखागतगन्धवहैर्मुहुर्यदतिदूरविवर्त्यपि सूच्यते ॥[४]

---

१. जयन्तविजय, १/१२।
२. वही, १/१४।
३. वराङ्गचरित, ८/११७-११९।
४. जयन्तविजय, ४/९।

मिलदसंख्यशिवाकृतफेत्कृतैर्यदसुकम्पकृदूद्वितमूर्द्धजम् ।
अधिकघूकघनार्तिदघूत्कृतैः स्खलित कातर जन्तुगतागति ।।[1]

अर्थात् करोड़ों मृतकों की दुस्सह गन्ध भरी रहने से दूर से ही श्मशान भूमि की सूचना मिल जाती थी । असंख्य शृगाल, भूत-पिशाच, डाकिनी आदि मांस, चर्बी, रक्त आदि का भक्षण कर आनन्दानुभूति कर रहे थे ।

इसी प्रकार वराङ्गचरित के 'असारसंसारसुखाभिलाषः'[2] के भावों पर भी जयन्तविजय महाकाव्य के निम्नलिखित श्लोक का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है—

वंशेऽवतंसध्वजतुल्य मस्मिञ्जयन्तमेनं विनिवेश्य राज्ये ।
त्वरेमहानन्दपदाय धीमान्विलम्बते कः परलोक कार्ये ।।[3]

अर्थात् इस वंश में उत्पन्न मनोहर ध्वजा वाले इन जयन्त को राज्यभार सौंपकर महानन्द पद के लिए शीघ्रता करें क्योंकि कौन बुद्धिमान प्राणी परलोक कार्य में विलम्ब करता है ।

इस प्रकार 'जयन्तविजय' महाकाव्य का 'वराङ्गचरित' महाकाव्य पर प्रभाव स्पष्ट है—

मुनिभद्र सूरि

तेहरवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन-संस्कृत-महाकाव्यों में मुनि भद्रसूरि द्वारा रचित 'शान्तिनाथ चरित्र' महाकाव्य का भी उल्लेखनीय स्थान है । इस महाकाव्य की रचना सं० १४१० में हुई । अतः पूर्ववर्ती होने के कारण 'जयन्तविजय' महाकाव्य का इस महाकाव्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है ।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में जयन्त के जन्म के समय दिशाएँ निर्मल हो जाती हैं, शरद ऋतु के समान नदियाँ स्वच्छ हो जाती हैं, शुद्ध वायु प्रवाहित होने लगती है तथा बच्चे के जन्म से लोग प्रसन्न हो जाते हैं और आकाश से देवताओं के नगाड़े का शब्द मेघों के समान होने लगता है—

दिशः प्रसन्नाः शरदीव नद्यो वातास्तदामोदभृतो जनाश्च ।
बभूवुरभ्रे सुर दुन्दुभीनां पयोदनादप्रतिमा निनादा ।।[4]

जयन्तविजय महाकाव्य के यही भाव 'शान्तिनाथ चरित्र' महाकाव्य में भी व्यक्त हुए हैं क्योंकि वहाँ पर भी शान्तिनाथ के जन्म के अवसर पर त्रिलोकी में एक अपूर्व प्रकाश व्याप्त हो जाता है जिससे नरकवासियों को भी अतीव सुख प्राप्त

---

१. जयन्तविजय, ४/१० ।
२. वराङ्गचरित, १/१२ ।
३. जयन्तविजय, १६/४० ।
४. जयन्तविजय, ६/८० ।

होता है, आकाश में दुन्दुभि बजने लगती है और अनुकूल पवन प्रवाहित होने लगता है—

तदा सुखं दुर्गतिवासिनामपि क्षणं महानन्दविवर्णिकाऽभवत् ।
समुल्ललास त्रिजगत्प्रकाशकस्तदा प्रकाशः समभानुभूरिव ।।
दिवि स्वयं दुन्दुभयोऽनदंस्तमां तदा प्रणुन्ना इव पुण्यकर्मणा ।
तथाऽनुकूलाः पवनाः ववुः परं निजां बुवाणा इव कामरुपताम् ।।[1]

कहीं-कहीं कवि ने प्रकृति को उद्दीपन-रूप में भी चित्रित किया है । वसन्त ऋतु की प्रकृति विलासीजनों के मन को उद्वेलित करती है, मानिनी स्त्रियों को मान-त्याग करने पर बाध्य करती है और मृग-समूह को उन्मत्त बना देती है—

प्रोल्लासयन् कामिमनांसि कामं मानं निरस्यन्नपि मानिनीनाम् ।
उन्मादयन् भृङ्गकुलानि पुष्पैरन्येद्युरागात् स ऋतुर्वसन्तः ।।[2]

'शान्तिनाथचरित्र' के इस श्लोक पर भी जयन्तविजय महाकाव्य के निम्नलिखित श्लोक का प्रभाव परिलक्षित होता है—

मानोत्तानतया सखीषु कलुषाः प्रेङ्खोलरोषाश्चिरं
दूतीषु स्वयमानतेऽपि दयिते याश्चक्रिरे वक्रताम् ।
ताः प्रातश्चरणायुधध्वनिमिभादाज्ञामिवाप्य स्मर-
क्षोणीशस्य समुत्सुकाः प्रियपरीरम्भं स्त्रियस्तन्वते ।।[3]

अर्थात् पति के स्वयं नत होने पर मान की वृद्धि से पतियों पर कलुषित, दूतियों पर बढ़े हुए रोष वाली जो स्त्रियाँ वक्रता को धारण किये हुए थीं वे स्त्रियाँ प्रातः वायु की ध्वनि के बहाने उत्सुकतापूर्वक कामदेव की आज्ञा को पाकर अपने प्रियतमों का आलिङ्गन करने लगीं ।

यहाँ पर दोनों कवियों के वर्णन में भाव साम्य स्पष्ट है ।

अपि च—

दृष्ट्वा शान्तेर्निरुपममिदं केशपाशं चमर्यः
सम्भाव्यैतद् व्यपगतफलं स्वस्य बालप्रियत्वम् ।
लज्जाक्रान्ता हिमगिरिभुवं संश्रयन्ते स्म नूनम्
युक्तं स्त्रीत्वे व्यवसितमिदं मानिनी सा हि जातिः ।।[4]

अर्थात् शान्तिनाथ के केशों के लावण्य को देखकर चमरी लज्जित होकर हिमगिरि प्रदेश में चली जाती है ।

---

१. शान्तिनाथ चरित्र, १४/८७, ८८ ।
२. वही, १०/४२ ।
३. जयन्तविजय, ८/६८ ।
४. शान्तिनाथ चरित्र, १४/१६५ ।

जयन्तविजय, महाकाव्य में कवि अभयदेव ने नायिका की सुन्दर रोमरहित निरंकुश जङ्घाओं की रमणीयता को देखकर पराभव के दुःख से दुःखी ऐण ललना (मृगी) के वनगमन का वर्णन इसी प्रकार किया है—

रामणीयकमनंकुशमस्या जंघयोरनघयोरवलोक्य ।
नूनमुद्गतपराभवदुःखा सस्त्रुरेणललना वनवासम् ।।[1]

अर्थात्, इसकी सुन्दर रोमरहित निरंकुश जंघाओं की रमणीयता को देखकर ऐण ललना ने पराभव के दुःख से दुःखी होकर वनवास का आश्रय लिया। जयन्तविजय महाकाव्य के इस वर्णन से भी स्पष्ट है कि कवि मुनिभद्र सूरि ने अपने महाकाव्य 'शान्तिनाथ चरित्र' की रचना करने के पूर्व इस महाकाव्य का भी बिधिवत अवलोकन किया था।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि कवि अभयदेव विरचित 'जयन्तविजय' महाकाव्य पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव पड़ा। इसके साथ ही उनके परवर्ती कवियों ने भी उनके महाकाव्य के भावों को लेकर अपने महाकाव्यों की रचना की। किन्तु कवि के वर्णन में पूर्ववर्ती कवियों के भावों का साम्य ही दृष्टिगोचर होता है। शाब्दिक चित्रों की पूर्ण समानता कहीं भी परिलक्षित नहीं होती है और यदि कहीं पर किञ्चितमात्र प्राप्त भी होती है तो यह आवश्यक नहीं है कि कवि अभयदेव ने उन स्थलों पर प्राचीन काव्यों का अनुकरण ही किया हो क्योंकि ध्वनिकार आनन्दवर्धन का स्वयं कथन है कि बुद्धिमानों की बुद्धियाँ संवादिनी होती हैं[2]। अर्थात् विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के हृदय में एक ही प्रकार के भाव उत्पन्न हो सकते हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर उनके काव्य पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव उनके विस्तृत व गहन अध्ययन का परिचायक है वहीं दूसरी ओर परवर्ती कवियों के काव्यों पर उनके महाकाव्य का प्रभाव उनके महाकाव्य की उत्कृष्टता एवं महत्त्व का द्योतक है।

———

१. जयन्तविजय, १३/१६।
२. (क) संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम् ।—ध्वन्यालोक, ४/११।
(ख महात्मनां हि संवादिन्यो बुद्धयः एकमेवार्थमुपस्थापयन्ति ।।
—राजशेखर (काव्यमीमांसा) अध्याय १२, पृ० ६२।

परिशिष्ट

पञ्चपरमेष्ठि भक्ति निरूपण

महाकवि अभयदेव ने 'जयन्तविजय' महाकाव्य में पञ्चपरमेष्ठि नमस्कार के माहात्म्य का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार—

नमस्कारः परं तत्र श्रीपञ्चपरमेष्ठिनाम्।
प्रयात्यनन्यसामान्य यान पात्र सगोत्रताम्॥
किं चायं विधिवद्ध्यातः सर्वकर्मसु कर्मठः।
कल्याण कदलीकन्दस्यन्दमानः सुधारसः॥[1]

अर्थात् श्री पञ्चपरमेष्ठि का नमस्कार विशिष्ट एवं अनन्य सामान्य ज्ञान को गोत्रता को प्राप्त करता है क्योंकि यह विधिपूर्वक ध्यान किया हुआ सब कर्मों में कर्मठ कल्याण कदली के अंकुर से टपकने वाला सुधा रस है।

इसी मन्त्र के प्रभाव से प्राणियों पर क्रूर, गजेन्द्र, सिंह आदि राक्षस तथा दावानल आदि अग्नियाँ आक्रमण करने में समर्थ नहीं हो सकतीं।

नमस्कारप्रभावेण प्रभवन्ति न जन्तुषु।
क्रूरागजेन्द्र सिंहादिरक्षोदावानलादयः॥[2]

अतः यहाँ पर कवि द्वारा निर्दिष्ट पञ्चपरमेष्ठि के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

सिद्ध, अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय तथा लोक के सर्वसाधु पञ्चपरमेष्ठि कहलाते हैं। आचार्य कुन्द-कुन्द का मत है, कि सिद्धों की भक्ति से परम शुद्ध सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है—

जरमरणजम्मरहिया ते सिद्धा मम सुमत्तिजुतस्य।
देतु वरणाणलाहं बुहमणपरिपत्थणं परमसुद्धं॥[3]

उनके अनुसार आठ कर्मों से रहित, आठ गुणों से युक्त परिसमाप्त कार्य और मोक्ष में विराजमान जीव सिद्ध कहलाते हैं[4]। पं० आशाधर 'सिद्ध' की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं—'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः संजाता यस्येतिसिद्धः'[5]। अर्थात् स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि जिसको प्राप्त हो गयी है वह ही सिद्ध है. आचार्य

---

१. जयन्तविजय, ३/२-३।　　२. वही, ३/२७।
३. सिद्धभक्ति, पृ० ५८।
४. 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश', पृ० ३६-४०।
५. जिनसहस्रनाम—स्वपोज्ञवृत्ति, पृ० १३६।

कुन्द-कुन्द का 'परिसमाप्तकार्य' इसी 'स्वात्मोपलब्धिरूप' कार्य को पूर्ण करने के तथ्य की ओर प्रकाश डालता है । सिद्ध निराकार होते हैं । इनका निवास स्थान जीव लोकाग्रशिखर के ऊपर है । उसी को किसी ने मोक्ष, किसी ने सिद्ध शिला और किसी ने सिद्धपुरी कहा है । इन्हें प्राप्त होने वाला सुख अनिर्वचनीय है ।

अर्हन्त

अर्हन्त सकल परमात्मा का स्वरूप कहलाते हैं तथा सम्पूर्ण विश्व को उपदेश देते हैं । इन्हें मोक्ष की प्राप्ति करनी होती है । इसीलिए सिद्ध इनके द्वारा पूज्य होता है ।

आचार्य—'आचार्य' शब्द 'चर्' धातु से बना है । 'चर्' का अर्थ है चलना अथवा आचरण करना । 'चटेराड्चिागुरौ[1]' से 'आचार्यते आचारः' व्युत्पत्ति निष्पन्न होती है । जिसका अर्थ है कि आचार्य वह है जिसके उत्तम चरित्र का अन्य जन अनुचरण करने लगें । जैनाचार्य का मुख्य गुण मन्त्र की व्याख्या करना ही है । सर्वज्ञ की वाणी ही मन्त्र कहलाती है[2] । उसकी व्याख्या करने का अधिकार केवल आचार्य को ही होता है । अभिधानराजेन्द्रकोश में आचार्य को नमस्कार करने से विद्या और मन्त्र की सिद्धि स्वीकार की गयी है ।[3]

पञ्चपरमेष्ठियों की गणना में सिद्ध और अर्हन्त के बाद आचार्य का ही प्रमुख स्थान है । आचार्य की परिभाषा करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने 'अष्टापाहुण' में लिखा है—

जिणबिम्बणाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च ।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्पक्खयकरणे सुद्धा ।।[4]

अर्थात् जो ज्ञानमय है, संयम में शुद्ध है, सुवीतरागी और साधारण मुनियों को कर्मों का क्षय करने वाली शुद्ध शिक्षा-दीक्षा देते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी जिनेन्द्र देव के साक्षात् प्रतिबिम्ब हैं ।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है—

'तत्र आचरन्ति तस्माद् व्रतानि इति आचार्यः' ।[5]

अर्थात् जो स्वयं व्रतों का आचरण करते हैं और दूसरों से करवाते हैं वे ही आचार्य कहलाते हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य स्वयं उच्च चरित्र का पालन करता है और

---

१. काशिकावृत्ति—४/२/१४ । २. सहस्रनाम—स्वपोज्ञवृत्ति, पृ० ८८ ।
३. अभिधानराजेन्द्रकोश, ५वाँ भाग, १०९७वीं गाथा, पृ० १३६६ ।
४. अष्टपाहुण, १६वीं गाथा ।
५. सर्वार्थसिद्धि, ९/२४ का भाष्य, पृ० ४४२ ।

दूसरों को भी करवाता है, वह मुनि संघ का अग्रणी होता है। मुनि के जीवन संचालन में उसकी आज्ञा अन्तिम और मान्य होती है। इन्द्रनन्दि के अनुसार—

पंचाचाररतो नित्यं मूलाचार विदग्रणीः।
चतुर्वर्णस्व संघस्य यः स आचार्य इष्यते ॥[1]

अर्थात् पञ्चाचार में रत, मूलाचार का ज्ञाता और चतुर्वर्ण संघ का अग्रणी आचार्य कहा जाता है।

आचार्य का स्मरण जिनेन्द्र के स्मरण की भाँति ही मङ्गल देने वाला होता है। अनेक आचार्यों ने अपने पूर्व के आचार्यों का स्मरण केवल इसीलिए किया है जिससे उनके शास्त्र निर्विघ्न रूप से समाप्त हो सकें। यथा—आचार्य जिनसेन ने अपने 'महापुराण' के प्रारम्भ में ही सामन्तभद्र, सिद्धसेन, पात्रकेशरी, प्रभाचन्द्र, शिवकोटि, जटासिंह नन्दि और वीरसेन आदि की वन्दना मङ्गल प्राप्ति के लिए ही की है।[2]

इन्हीं आचार्यों की भक्ति करने वाला प्राणी अष्टकर्मों का नाश करके संसार समुद्र से पार हो जाता है—

गुरुभक्तिसंयमाभ्यां च तरन्ति संसारसागरं घोरम्।
छिन्दन्ति अष्टकर्माणि जन्म मरणे न प्राप्नुवन्ति ॥[3]

उपाध्याय

उपाध्याय वह है जिसके पास जाकर मोक्ष के लिए शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है—

मोक्षार्थं शास्त्रमुपेत्य तस्मादधीयत इत्युपाध्यायः।[4]

अपि च—

मोक्षार्थमुपेत्याधीयते शास्त्र तस्मादित्युपा ध्याय.।[5]

उपाध्याय अज्ञानरूपी अन्धकार में भटकते हुए जीवों को ज्ञानरूपी प्रकाश प्रदान करता है। वह विद्वान् होने के साथ चरित्रवान भी होता है। उपाध्याय वही हो सकता है जो साधु के चरित्र को पूर्णरूप से पाल चुका हो—

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो।
सो उवझाओ अप्पा जदिवरवसहो णयो तस्स ॥[6]

आचार्य की भाँति उपाध्याय भी दीक्षा देने का अधिकारी होता है।

साधु

साधु वह है जो चिरकाल से जिनदीक्षा में प्रव्रजित हो चुका हो[7]। उसे

१. नीतिशास्त्र।
२. महापुराण, १/४१-५६।
३. दशभक्ति, क्षेपक श्लोक, पृ० २१४।
४. सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४४२।
५. तत्त्वार्थवृत्ति, पृ० ३०४।
६. द्रव्यसंग्रह, ५३वीं गाथा, पृ० ४०।
७. 'चिर प्रव्रजितः साधुः' —सर्वार्थसिद्धि, ६/२४, पृ० ४४२।

दृढ़तापूर्वक शीलव्रतों का पालन करना चाहिये और राग से रहित तथा विविध विनयों में युक्त होना चाहिये—

थिरधरिय सीलमाना ववगयराया जसोहपऽहत्था ।
बहुविणयभूसियगा सुहाइ साहू पयच्छंतु ॥[1]

यह साधु शिक्षा-दीक्षा देने का अधिकारी नहीं होता है किन्तु फिर भी साधना के पथ पर वह आचार्य और उपाध्याय की भाँति बढ़ता है ।

इस प्रकार सिद्ध, अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ही पञ्चपरमेष्ठी कहलाते हैं और इन्हीं पञ्चपरमेष्ठी का विधिपूर्वक ध्यान करने वाला प्राणी अष्ट कर्मों का नाश कर संसार के आवागमन से छूट जाता है । उसे सिद्धिसुख और बहुत मान प्राप्त होता है । पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति के बिना यदि कोई अपनी आराधना चाहता है, तो वह वैसा ही है जैसे बीज के बिना धान्य की इच्छा करना और बादल के बिना पानी चाहना—

वीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएणं विणा ।
आराधणमिच्छंतो आराधणभत्तिमकरंतो ॥[2]

इसी लिए भगवज्जिन सेनाचार्य का भी कथन है

पञ्चब्रह्ममयैर्मन्त्रैः सकलीकृत्य निष्कलम् ।
परं तत्त्वमनुध्यायन् योगी स्याद् ब्रह्मतत्त्ववित् ॥[3]

अर्थात् पंचनमस्कार के द्वारा जो योगिराज परमतत्त्व परमात्मा का ध्यान करता है वही ब्रह्मतत्त्व को जान पाता है ।

'जयन्तविजय' महाकाव्य में प्रयुक्त सुभाषित

१. प्रमादनिद्रोदयमुद्रया हि क्रोडी क्रियन्ते सुधियां धियोऽपि ॥ १/६ ।
२. समुद्धरत्येव हि वैद्यराजः शल्यं तनोः सौख्यकृते कृतार्थः ॥ १/१२ ।
३. सगन्धिलक्षैरपि किं सुगन्धीकर्तुं हि शक्यं लशुनं कदापि ॥ १/१४ ।
४. श्रीखण्डवासेन कृताधिवासाः श्रीखण्डतां यान्त्यपरेऽपि वृक्षाः ॥ १/१७ ।
५. जडाधिवासान्यपि यत्र चित्रं पद्मानि मित्राभिमुखी भवन्ति ॥ १/३४ ।
६. यदस्य जन्मोत्सव ऋद्धिदर्शनैर्भवन्ति सद्यः सुखनिर्मिता इव ॥ २/३ ।
७. महर्घतामेधयते गुणश्रियो न किं यशोराशिरदम्भः सौरभ ॥ २/४ ।
८. कुमुद्वतीनां विभयाविभाविभोर्विकाससौख्यं हि न जातु वल्गति ॥ २/६ ।

१. तिलोयपण्णत्ति, ५वीं गाथा ।
२. भगवती आराधना, ५४वीं गाथा ।
३. महापुराण, २१/२३६ ।

९. महार्घ्यतां रत्नखनी किं न भजेन्मणि प्रकाण्डैरिति ।। २/७ ।
१०. दिनेश्वरोदये नमस्तले वा क्व तमिस्रसंभवः ।। २/६१ ।
११. निमेषमुक्तां कुरुते हि पद्मिनीं न पद्मबन्धोरपरः कदाचन् ।। २/१८ ।
१२. प्रियोपदिष्टं तनुते हि नात्र कः ।। २/ ९ ।
१३. भवेच्छिदा येन सकर्णकर्णयोर्न तेन हेम्नापि खलु प्रयोजनम् ।। २/३६ ।
१४. ननन्द कुर्वन्तिन कं प्रसृत्वराः सविस्मयस्मेरसुखाम्बुजश्रियः ।। २/४३ ।
१५. दुरत्ययं कालविपाकमीयुषः स्थितिः स्थिरानोच्चपदश्रियोऽपि हि ।। २/४५ ।
१६. गुरूरिव यतः पूज्यो मन्त्री नृपस्य विवेकवान् ।। २/५१ ।
१७. जीवन्नरो भद्राणि पश्यति ।। ३/१८ ।
१८. कामान्धास्त्यक्तमर्यादाः किं किं पापं न कुर्वते ।। ३/५१ ।
१९. सतामार्तपरित्राण प्रगुणाश्चित्तवृत्तयः ।। ३/५२ ।
२०. जगाद किं न वाच्यं हि सद्भाववाञ्चिततेजसाम् ।। ३/६१ ।
२१. सतां तुल्या मनोवृत्तिरूपकार्यपकारिषु ।। ३/६७ ।
२२. नमस्कारमहामन्त्रात्किं नोच्चैः प्राप्यते पदम् ।। ३/८२ ।
२३. सुधां पिबेद्वा नहि कः सतृष्णः ।। ३/१०१ ।
२४. पृथुपचालापुण्ययतां स्वयं किमनुकूलमुपैति च हेलया ।। ४/४ ।
२५. मनुजजाति निसर्गभवद्रुषा ।। ४/१५ ।
२६. नतजने प्रभवः खलु वत्सलः ।। ४/३१ ।
२७. प्रणयिनां हि समाधिविधिस्तथा ।। ४/३४ ।
२८. किमप्युयं तिमिर संततयस्तरणिं ।। ४/५१ ।
२९. पूजा पात्रं भवति हि मुहुः सद्गुणोत्कर्षवत्ता ।। ४/६९ ।
३०. गीतक्षुतस्खलनजागरणे भये च ।
संस्मर्यते प्रियजनस्य हि नामलोके ।। ५/१३ ।
३१. किं कोऽपि दण्डधरदण्डनिपातचण्ड ।
दण्डस्य गोचरमुपैति न जीव लोके ।। ५/२२ ।
३२. काकः कदापि न मुञ्चति कालिमानम् ।। ५/२३ ।
३३. प्रायः कुकर्म विधयो हि तमः सहायाः ।। ५/२४ ।
३४. महतां न मुधा हि तेजः ।। ५/२५ ।
३५. क्वस्नेहमोहितधियां स्वहित प्रवृत्तिः ।। ५/२८ ।
३६. मायां बिना किमपि चेष्टितमद्भुतं त-
न्मुह्यति येन सुतरां सुधियांधियोऽपि ।। ५/२९ ।
३७. ब्रह्मापिलक्षयितुमक्षम एव मायां ।
मायाविनामतिशयेन हि सुप्रयुक्तात् ।। ५/३२ ।
३८. दण्डो विदेशगमनं हि महागसोऽपि ।। ५/३५ ।

३९. उद्दामसंपदुदये खलु देहभाजां ।
पुण्यं प्रमाणमुदितं न गुणो••••वा ॥ ५/४६ ।
४०. सर्वं विधौ हि विमुखे विमुखं जनस्य ॥ ५/५६ ।
४१. क्षारं न किं लवण सागर तोऽम्बुमुष्टिम् ॥ ५/६० ।
४२. कालानपेक्ष्य पतनः खलु कालदण्डः ॥ ५/६९ ।
४३. यन्मित्रमावहति कस्य न नाम चित्ते ॥ ५/७० ।
४४. किं नो फाल्गुन फल्गुवल्गनबलात्क्षीणोऽपि वृक्षः क्षणा-
ल्लक्ष्मीर्याति विलोल पल्लवलतालास्य प्रशंस्यां मधोः ॥ ५/७३ ।
४५. किं केतकीषु स्फुटकण्टकासु न याति जाती परिहायभृङ्गः ॥ ६/३ ।
४६. सद्योदानं विसर्वव्यसनापहारि ॥ ६/६ ।
४७. किं पङ्कसंपर्क जुषापि जात्यरत्नेन लभ्येत न भूरिलाभः ॥ ६/२१ ।
४८. सद्योऽप्यभीष्टार्थफलप्रसादः सर्वत्र दिव्या हि भवन्ति भावाः ॥ ६/६४ ।
४९ श्रियोऽनुरूपा सुतजन्मकाले न जायते कस्य महप्रवृत्तिः ॥ ६/८७ ।
५०. सप्रसादमनसो हि देवता सून्वते तनुमतां समीहितम् ॥ ७/४ ।
५१. स्यान्न वा किमिह कल्पपादपात् ॥ ७/६ ।
५२. हन्तकौशल गुणेन धीमतां धी विलासविधवो ह्यनेकधा ॥ ७/१२ ।
५३. साम्राज्यं मधुरं मधोर्मधुसख स्वाधीनसंपद्भरं ।
वैराग्याञ्चित चेतसामपि चिरं केषां न रागास्पदम् ॥ ७/७६ ।
५४. प्राज्ये राज्ये विलासातिशय इह मधौ कस्य धत्ते न चित्रम् ॥ ७/७७ ।
५५. प्रिययुवतिवशे वा किं न यूनामनांसि ॥ ८/९ ।
५६. समजनि हृतचित्तः को न वा पूत्करोति ॥ ८/१४ ।
५७. परपरिभवकारी कः किल प्रीतिमेति ॥ ८/१८ ।
५८. भवति हि मलिनानां संगमोभङ्गहेतुः ॥ ८/२० ।
५९. फलति सहृदयेषु क्षिप्रमेवोपकारः ॥ ८/२४ ।
६०. व्रजति किमु न नाशं वैभवं कुस्थितानाम् ॥ ८/२५ ।
६१. द्युतिरथ वमुरत्नः स्फु क्व नो (?) मण्डनाय ॥ ८/४६ ।
६२. किमिव वसुमतां न क्ष्मातले साध्यमस्ति ॥ ८/५८ ।
६३. सुखमसुखमिह स्यादात्मकर्मानुरूपम् ॥ ८/६० ।
६४. विघटित विभवानां स्फूर्जितं ह्रीपदं हि ॥ ८/६४ ।
६५ पयः प्रवेशे कतमा स्पृहाम्बुधेः ॥ ९/१५ ।
६६. न सुन्दरः क्वाप्यसमानविग्रहः ॥ ९/१७ ।
६७. स्वतः प्रसूता निधनं धनंजय ज्वलच्छिखाः किं न नयन्ति शालिनम् ॥ ९/३५ ।
६८. फणीश्वरः स्फारफणामणिं क्वचिज्जहाति जीवन्न हि दर्पदुर्द्धरः ॥ ९/४६ ।
६९. हि सेवकाः प्रसादपात्रं पुरतो हितैषिणम् ॥ ९/४७ ।

७०. विलङ्घ्यते कैर्मवितव्यता ।। ६/५२ ।
७१. प्रभाकरस्यापि विभो भवेदिदं विभाकरः किं न तमस्ततिच्छिदे ।। ६/६५ ।
७२ स्वभाव वैरान्नकुलो हि सर्पं निहन्ति नो तत्सदनं प्रविष्टः ।। १०/१८ ।
७३. को हि प्रारब्धवैरावलिरप्युदास्ते ।। १०/२५ ।
७४. सतां निस्त्रिंशोऽपि प्रभवति नहि भ्रूणहतये ।। १०/७२ ।
७५. उदेति यः कोऽपि स एव वन्द्यते ।। १०/७५ ।
७६. रिपुविजयमनु क्षितीश्वराणां भवति पुरीषु न का महोत्सव श्रीः ।।१२/२ ।
७७. प्रथयति हि तनुत्वमम्बुराशेरविरवियोगदिशापि शीतरश्मेः ।।१२/४ ।
७८. असुभगमिह जन्म कन्यकानामजनि ।। १२/११ ।
७९. सदृशगुणैर्हि समागमो गुणाय ।। १२/१५ ।
८० हितवचने हि रता शुभं लभन्ते ।। १२/२७ ।
८१. विनयगुणाञ्चितमानसा हि सन्तः ।। १२/२९ ।
८२. सुरभयतिन कं शिरोवतंसीकृतमभितः स्मितपारिजात पुष्पम् ।। १२/४६ ।
८३. शक्तिर्विलसति मोह महीन्द्र शासनं हि ।। १२/५१ ।
८४. श्रीयते हि मधुसौरभसारं पारिजात कुसुमं भ्रमरीभिः ।। १३/३ ।
८५. निर्विवादविषयेऽपि विवादः शश्वद श्रुतिमताम् ।। १३/३० ।
८६. दुर्लभो हि सदृशैः खलु सङ्गः ।। १३/४६ ।
८७. प्रतिपत्ति नौचिती त्यजति जातु कुलीनः ।। १३/५३ ।
८८. स्वाभिवाञ्छित करः खलु पूज्यः ।। १३/९९ ।
८९. उत्कोपिते यष्टिमुखेन सिंहे क्षेमो हि कौतस्कुतमङ्गभाजः ।। १३/१०९ ।
९०. उपेक्ष्यते कोऽभ्युदयी समीपं समीयिवांसं रिपुमस्तशस्तम् ।। १४/२६ ।
९१. किमस्त्यदेयं हृदयंगमानाम् ।। १४/३० ।
९२. गम्योऽस्ति गोमायुशिशोः कदाचिद्गृध्रोऽपि किं ।। १४/१०५ ।
९३. न नाम महतां सेवा भजते जातु वन्ध्यताम् ।। १४/११० ।
९४. प्रेमपूर्वजनुरर्जितं क्वचिज्जायते हि किमिवात्र कौतुकम् ।। १६/५७ ।
९५. सौकुमार्यं रसिका कुमुद्वती भास्वतीव महसां समाश्रयौ ।। १६/६२ ।
९६. स्वपूर्वकर्मस्फुरितानुसारं शुभाशुभं देह भृतां फलं हि ।। १७/१० ।
९७. क्व मन्दभाग्यस्य समीहिता वा ।। १७/१२ ।
९८. दुष्पूरसीमोदरपूरणाय प्राज्ञोऽपि दुष्कर्म करोति किं न ।। १७/१३ ।
९९. दुखं व्याधिः कुपथ्यादिव वर्द्धते तु ।। १७/२१ ।
१००. किं दुष्करं धर्मधनस्पृहां हि ।। १७/३० ।
१०१. दिव्यप्रभावात्प्रभुविष्णु किं न त्रिवर्गसर्वस्वमितीन्दुकीर्ति ।। १७/५१ ।
१०२. प्रियतमासु न को हि मृदुर्यतः ।। १८/४ ।
१०३. विशदपक्षवतां गुणिसंगमः कलयतीष्टतरेषु धुरीणताम् ।। १८/३६ ।

१०४. क्व खलु दुर्मदिनामुचितज्ञता ।। १८/४२ ।

१०५. तत्त्वज्ञोऽपि विमुह्यतीष्ट विरहे धिङ्मोह लीलायितम् ।। १८/६२ ।

१०६. कुल्याः कुलाचार विधि प्रिया हि ।। १६/३५ ।

१०७. श्लाघ्यं हि बन्धोः प्रतिपत्तिरेव ।। १६/३८ ।

१०८. धीमान्विलम्बते कः परलोककार्ये ।। १६/४० ।

१०६. कुण्ठत्वमायाति हि वज्ररत्ने निशातधारापि कृपाणयष्टिः ।। १६/४५ ।

११०. यदेव भाव्यं भविता तदेव ।। १६/४६ ।

१११. सिद्धित्रयं निर्ममतान्वितस्य यदेह दण्डत्रितयं मुमुक्षोः ।। १६/५१ ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

अभयकुमार चरित	चन्द्रतिलक उपाध्याय, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९१७ ई० ।
भिज्ञानशाकुन्तलम्	कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस, १९५३ ई० ।
अर्थशास्त्र	कौटिल्य, हिन्दी व्याख्याकार वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२ ई० ।
औचित्य विचार चर्चा	व्याख्याकार आचार्य श्री ब्रज मोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४ ई० ।
उत्तरपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४ ई० ।
उत्तररामचरित	भवभूति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६९ ई० ।
कर्पूरमञ्जरी	राजशेखर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९७० ई० ।
कालिदास ग्रन्थावली	सम्पादक सीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, सं० २०१९ वि०, तृतीय संस्करण ।
काव्यादर्श	दण्डी व्याख्या० आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९७२ ई० ।
काव्यालङ्कार	भामह, वृत्तिकार-उदय, श्रीनिवास प्रेस, १९३४ ई० ।
काव्यालङ्कार	रुद्रट, व्याख्या० डॉ० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, १९६५ ई० ।
काव्यप्रकाश	मम्मट, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण सं०, २०२७ वि०।
काव्यमीमांसा	राजशेखर, व्याख्याकार डॉ० गङ्गासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४ ई०
काव्यानुशासन	हेमचन्द्र, निर्णय सागर यन्त्रालय, बम्बई, १९०१ ई० ।
किरातार्जुनीयम्	भारवि, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९६८ ई० ।
कुमारसम्भव	कालिदास, सम्पादक पं० प्रद्युम्न पाण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३ ई० ।

कुमारपाल चरित	आचार्य हेमचन्द्र, अभय तिलक गणि विरचित सं० टी० सहित, बम्बई संस्कृत एवं प्राकृत सीरीज, १६१५ एवं १६२१ ई० में दो भागों में प्रकाशित।
कुवलयमाला	सिन्धी जैन ग्रन्थमाला १६५६ ई० ।
कीर्तिकौमुदी	सिन्धी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि सं० २०१७।
गुप्त साम्राज्य का इतिहास	डॉ० वासुदेव उपाध्याय, इण्डियन प्रेस प्रा० लि०, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण १६६६ ई०।
चन्द्रप्रभचरित	वीरनन्दि काव्यमाला ग्रन्थांक ३०, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई. १६१२ ई०।
छन्दशास्त्र	पिङ्गलाचार्य, सम्पादक पं० केदारनाथ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १६३८ ई०।
छन्दोमञ्जरी	चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, १६६६ ई०।
जगडूचरित	सर्वानन्द, प्रका० आत्मानन्द जैन सभा, अम्बाला सिटी १६२५ ई०।
जिनरत्नकोश	हरि दामोदर वेलणकर, पूना, १६४४ ई०।
जैनलेख संग्रह	पूरण चन्द्र नाहर, भाग-१, कलकत्ता।
जैन शिलालेख संग्रह	भाग २, ३, बम्बई, १६५७ ई०।
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, काव्य-साहित्य. भाग-६	डॉ० गुलाब चन्द्र चौधरी, प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान. वाराणसी—५, सन् १६७३ ई०।
जैन साहित्य और इतिहास	पं० नाथूराम प्रेमी, बम्बई, १६५६ ई०।
जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास	मो० द० देसाई, बम्बई, १६३३ ई०।
तेरहवीं-चौहदवीं शताब्दी के जैन-संस्कृत-महाकाव्य	डॉ० श्याम शंकर दीक्षित, मालिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, प्रथम संस्करण, १६६६ ई०।
दशरूपक	धनञ्जय, व्याख्याकार डॉ० भोलाशङ्कर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६७३ ई०।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य — हरिश्चन्द्र सूरि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९३३ ई० ।

ध्वन्यालोक — आनन्दवर्धन, सम्पादक जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६५ ई० ।

नरनारायणानन्द महाकाव्य — वस्तुपाल, सं० सी० डी० दलाल और आर० अनन्त कृष्णशास्त्री, प्रका० सेन्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा सन् १९१६ ई० ।

नाट्यशास्त्र — भरत मुनि, सम्पादक वटुकनाथ शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय, बनारस, १९२९ ई० ।

नेमिनिर्माण महाकाव्य — वाग्भट, सं० शिवदत्त शर्मा, काशीनाथ शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३६ ई० ।

नैषधीयचरितम् — श्रीहर्ष, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, नवम संस्करण, १९५२ ई० ।

पद्मानन्द महाकाव्य — अमरचन्द्र सूरि, ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा १९३२ ई० ।

पाण्डवचरित — देवप्रभ सूरि, काव्य माला सिरीज, बम्बई १९११ ई० ।

पार्श्वनाथ चरित — वादिराजसूरि, सं० पं० मोहन लाल शास्त्री, प्रका० माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७३ ई० ।

पुरातन प्रबन्ध संग्रह — सम्पादक मुनि जिन विजय, कलकत्ता, १९३६ ई० ।

प्रकृति एवं हिन्दी काव्य — डॉ० रघुवंश, साहित्य भवन प्रा० लि०, प्रयाग सं० २००५ ।

प्रद्युम्नचरित — महासेन, माणिक्यचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० १९७३ ।

प्राकृत जैन कथा साहित्य — डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, अहमदाबाद, १९७१ ई० ।

प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, वाराणसी, १९६६ ई० ।

प्राकृत साहित्य का इतिहास — डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, वाराणसी, १९६१ ई० ।

बाल भारत महाकाव्य	अमरचन्द्र सूरि, काव्यमाला (संख्या ४५), निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १८६४ ई० ।
बीकानेर जैन लेख संग्रह	सम्पा० अगरचन्द्र नाहटा, कलकत्ता वि० सं० २४८२।
बुद्धचरित भाग १-२	अश्वघोष, सं० महन्त श्री रामचन्द्र दास शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१, प्रथम भाग १९७२ तथा द्वितीय भाग १९७७ ई० ।
भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान	डॉ० हीरालाल जैन, भोपाल, १९६२ ई० ।
भासनाटकचक्र, भाग १-२	सं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा, संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी-१ ।
मनुस्मृति	कुल्लूक भट्ट विरचित मन्वर्थ मुक्तावली व्याख्या सहित, पाण्डुरङ्ग जाव जी, बम्बई, १९३३ ई० ।
महापुराण	जिनसेनाचार्य ज्ञानपीठ काशी, १९५१ ई० ।
महाकाव्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन	ले० डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, प्रका० जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी, सन् १९५९ ई० ।
महावीरचरियं	गुणचन्द्र गणि, नेमि विज्ञान ग्रन्थमाला अहमदाबाद, वि० सं० २००८, पृ० १९-२० ।
मल्लिनाथ चरित	विनय चन्द्र सूरि, सं० पं० हरगोविन्ददास एवं वेचरदास, धर्मशर्माभ्युदय प्रेस, बनारस, सं० २४३८ ।
मुनिसुव्रत महाकाव्य	अर्हदास, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, १९२९ ।
मुनिसुव्रतचरित महाकाव्य	विनयचन्द्र सूरि, लब्धि सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, छाणी (बड़ौदा), वि० सं० २०१३ ।
रत्नावली	श्रीहर्ष, रामनारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद-२, १९६९ ई० ।
रसगंगाधर	पण्डित जगन्नाथ, सम्पा० पं० बदरीनाथ झा तथा पं० मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४ ई० ।
रसार्णव सुधाकर	संशोधक डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी, संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय, १९६९ ई० ।

वर्धमानचरित	असग, सं० जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले, प्र० रावजी सखा राम दोशी, सोलापुर, सन् १६३१ ई० ।
वराङ्गचरित	जटासिंह नन्दी, सं० ए० एन० उपाध्ये, माणिक्यचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, संख्या ४०, बम्बई, १६३८ ई० ।
वसन्तविलास महाकाव्य	बालचन्द्र सूरि, गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला, बड़ौदा, १६१७ ई० ।
विक्रमाङ्कदेवचरित	विल्हण, संस्कृत साहित्यानुसन्धान समिति, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, १६६४ ई० ।
व्यक्तिविवेक	महिमभट्ट, हिन्दी व्याख्याकार डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, १६६४ ई० ।
शान्तिनाथचरित	मुनिभद्र सूरि, यशोविलास ग्रन्थमाला (२०) वाराणसी ।
शिशुपालवध	माघ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १६७२ ई० ।
शृंगार प्रकाश	भोजदेव, द्वितीय खण्ड, मैसूर, १६६३ ई० ।
श्रुतबोध	सम्पादक पं० रामेश्वर भट्ट, श्री वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, १६११ ई० ।
श्रेणिकचरति	जिनप्रभ सूरि, जैन धर्म विद्या प्रसारक वर्ग पलियाना से केवल प्रथम सात सर्ग प्रकाशित, शेष ग्यारह सर्ग अब भी अप्रकाशित ।
श्रेयांसनाथचरित	मानतुङ्गसूरि, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर ।
समराइच्चकहा	सं० पं० भगवानदास, अहमदाबाद ।
सरस्वती कण्ठाभरण	भोजदेव, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण १६३४ ई० ।
साहित्यदर्पण	कविराज विश्वनाथ, सम्पादक श्री शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १६६७ ई० ।
सुवृततिलक	क्षेमेन्द्र, व्याख्याकार पं० ब्रजमोहन झा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १६६८ ई० ।

सौन्दरनन्द — अश्वघोष, सं० सूर्यनारायण चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी-१, वि०सं० २०३१।

संस्कृत कविदर्शन — डॉ० भोलाशङ्कर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९६८ ई०।

संस्कृत काव्य के विकास में जैनकवियों का योगदान — डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, वाराणसी, १९७१ ई०।

संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास — पी०वी० काणे, अनु० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६ ई०।

संस्कृत महाकाव्य की परम्परा — केशवराम मुसलगाँवकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६९ ई०।

संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — रामजी उपाध्याय, रामनारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, वि०२०२७।

संस्कृत साहित्य का इतिहास — आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, अष्टम संस्करण, १९६८ ई०।

संस्कृत साहित्य का इतिहास — ए० बी० कीथ, अनु० मङ्गलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७ ई०।

संस्कृत साहित्य की रूपरेखा — चन्द्रशेखर पाण्डेय, साहित्य निकेतन, कानपुर १९६० ई०।

संस्कृत साहित्य का इतिहास — वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६० ई०।

हम्मीर महाकाव्य — नयचन्द्र सूरि, सं० नीलकण्ठ जनार्दन कीर्तने, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८७९ ई०।

हरिवंश पुराण — भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२ ई०।

क्षेमेन्द्र और उनका समीक्षा सिद्धान्त — डॉ० शिवशेखर मिश्र, कुमार प्रकाशन, लखनऊ-७।

A History of Sanskrit Literature.	A.M. MacDonell, New York, 1929.
A History of Indian Literature.	M. Winternitz, University of Calcutta, 1960.
A Short History of Sanskrit Literature.	H. R. Agarwal, Munshi Ram Manoharlal, Delhi.
History of Sanskrit Literature.	Dr. S. N. Dasgupta and S.K. De, Calcutta, 1947.
History of Sanskrit Literature.	A. B. Keith, Oxford, 1928
History of Classical Sanskrit Literature.	M. Krishnamacharior, Madras, 1937.
History of Sanskrit Poetics	P. V. Kane, Varanasi, 1961.
Historical and Literary Inscriptions.	Dr. Raj Bali Pandey.
Classical Sanskrit Literature.	A. B. Keith, Calcutta, 1932.
Historical Geography of Ancient India.	Bimal Charan .
Ancient Indian History.	V. Smith
Political and Cultural History of Gupta Empire.	B. N. Luniya, Indore, 1974.
Political History of Northern India. From Jain Sources.	G. C. Chaudhari, Amritsar, 1963.
Jainism in Gugrat.	C. B. Seth, Bombay, 1953.
Natya Darma : A Critical Study.	K. H. Trivedi, Ahmedabad, 1966.
Sanskrit Darpan.	A. B. Keith, Oxford, 1924.

Journal of the Asiatic Society of Bengal 1912.

Indian Antiquary Vol. II

Archaeological Survey of India Report—1880, Vol. 10.

J. B. O. R. S., Vol. III.

डॉ० राम प्रसाद त्रिपाठी

पिता : श्री राधा कृष्ण त्रिपाठी

जन्म : ग्राम-भर्राडीह, पो० आ०-मछरेहटा
जिला-सीतापुर (उ० प्र०)

शिक्षा : एम० ए० (संस्कृत); पी-एच्० डी०
(लखनऊ विश्वविद्यालय)

लेखन : १. महाकवि सोमेश्वरदेव विरचित 'रामशतकम्'
अध्ययन और अनुवाद (शीघ्र प्रकाश्य)
२. किरातार्जुनीयम् (प्रथमः सर्गः)
सम्पादक एवं व्याख्याकार

सम्प्रति : प्राध्यापक-संस्कृत विभाग
युवराजदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय
(कानपुर विश्वविद्यालय)
लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)